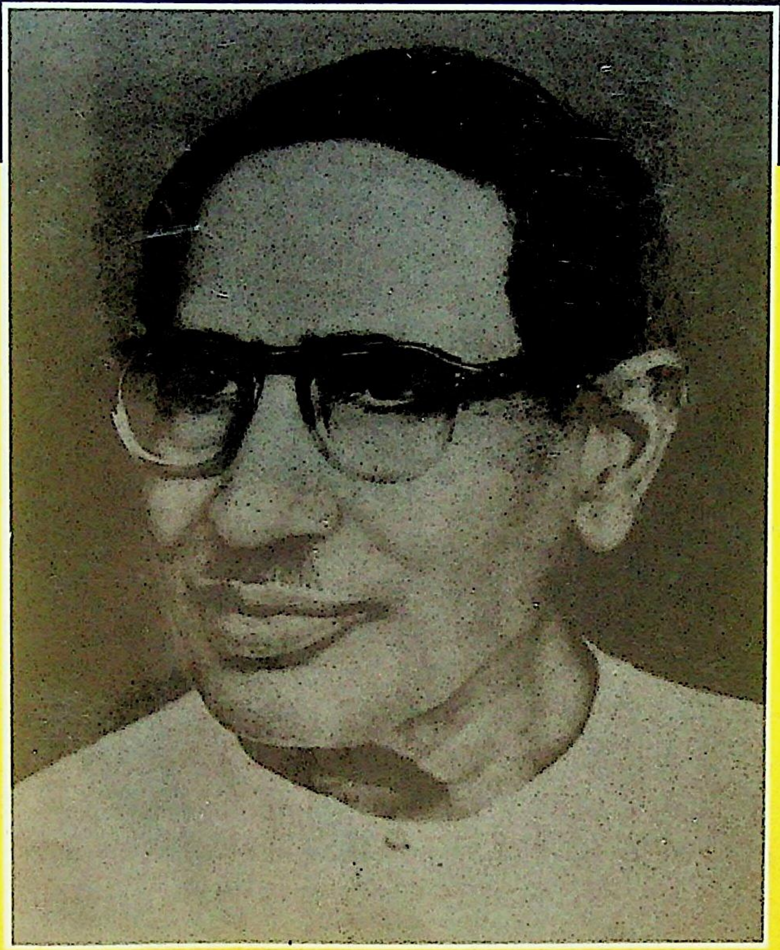
ऋतम्

डा० मङ्गलदेव शास्त्री-स्मृत्यङ्क



ṚTAM

Dr. Mangaldeva Shastri

Commemoration Volume

ऋतम्
डा० मङ्गलदेव शास्त्री–स्मृत्यङ्क

ṚTAM
Dr. Mangaldeva Shastri Commemoration Volume

ऋतम्

ṚTAM

Journal
of
Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad

Volumes XXIX — XLI Jan. 1997 — July 2009

Devavani Bhavanam, Sector-B, Aliganj
Lucknow
2009

Published by
The Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad
Devavani Bhavanam, Sector B, Aliganj
Lucknow - 226 024
Ph. : 2333962, 4045295

Annual Subscription	Rs. 500.00
(Two Numbers)	
Single Number	Rs. 250.00

This Special Volume Rs. 1500.00

Printed at :
Pnar Offset
'Indra Anushthan'
Gwynne Road (Aminabad)
Lucknow - 226 018
Ph. : 6537957, 6544764

CONTENTS



Dr. Mangaldeva Shastri

प्रकाशकीय

मुझे 'ऋतम्' का डॉ मङ्गलदेव शास्त्री स्मृत्यङ्क विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष और सन्तोष का अनुभव हो रहा है। साथ ही साथ किन्हीं अपरिहार्य कारणों से इस विशेषाङ्क के लिए सुधी पाठकों को सुदीर्घ काल तक प्रतीक्षा कराते रहने के लिए मैं क्षमा प्रार्थी भी हूँ, तथापि मुझे विश्वास है कि इसे परामर्शदातृमण्डल का मार्गदर्शन, विद्वान् लेखकों का सहयोग तथा ग्राहकों का संरक्षण इसी प्रकार भविष्य में भी प्राप्त होता रहेगा।

यह विशेषाङ्क संस्कृत के मूर्द्धन्य विद्वान् स्व० डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री जी की स्मृति में प्रकाशित किया जा रहा है।

मैं अपनी बात को 'ऋतम्' के विद्वान् सम्पादक तथा इसके मुद्रक श्रीमन्त : पृनार ऑफसेट के स्वामी, श्री मनीष मेहता और उनके पिता श्री विश्वमोहन मेहता के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए पूर्ण कर रहा हूँ।

अशोक कुमार कालिया

Publishers' Note

It is with a feeling of pleasure and satisfaction that I am presenting the 'Dr. Mangal Deva Shastri Commemoration Volume' of the *Ṛtam* to the world of the scholars. At the same time, contrary to my promise, this Volume is seeing the light of the day after inexcusable delay. Nevertheless, I am confident that the Journal will continue to get the guidance of the Advisory Editional Board, cooperation of the learned contributors and patronage of the subscribers as ever.

I close with expressing a sense of gratitude to the learned Editor of the *Ṛtam*, the owners of the Pnar Offset Sri Manish Mehta and his father Sri Vishwa Mohan Mehta .

Ashok Kumar Kalia

सम्पादकीय

विलम्ब से ही सही किन्तु ''ऋतम्'' का स्व० डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री स्मृत्यङ्क प्रकाशित करके मुझे प्रसन्नता हो रही है। यद्यपि इसके प्रकाशन का जो उल्लास होना चाहिए था, वह नहीं रह गया। इसका कारण स्पष्ट है। एक तो स्व० शास्त्री जी के ग्रन्थागार को परिषद् को भेंट करने में अत्यन्त उत्साह प्रदर्शित करने वाली शास्त्री जी की पुत्री और इस परिषद् में अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन की प्रेरणादात्री श्रीमती इन्दु रस्तोगी अपने पिताश्री की स्मृति में प्रकाशित इस विशेषाङ्क को देखने के लिए अब इस संसार में नहीं है। दैवदुर्विपाक से उनके पति श्री रमेश चन्द्र रस्तोगी जी भी अपनी सहगामिनी के सान्निध्य को प्राप्त कर चुके हैं। स्व० इन्दु रस्तोगी के साथ–साथ और उनके दिवङ्गत हो जाने के पश्चात् भी स्व० रस्तोगी जी का सक्रिय और बहुमूल्य सहयोग परिषद् को निरन्तर प्राप्त होता रहता था। समस्त ''ऋतम्'' परिवार इन दोनों के प्रति अपनी सुमनाञ्जलि समर्पित कर रहा है।

''ऋतम्'' को अद्यावधि बनाने के लिए इसके विगत अनेक अङ्कों को सम्मिलित करके प्रकाशित किया जा रहा है। भविष्य में हमारा प्रयास यही होगा कि ''ऋतम्'' का कम से कम एक अङ्क तो प्रतिवर्ष निकल ही जाया करे। हमें विश्वास है कि सम्पादक–मण्डल के विद्वान् सदस्यों, प्रबुद्ध लेखकों और विक्रेता बन्धुओं का सहयोग हमें सदैव प्राप्त होता रहेगा।

''ऋतम्'' के पाठकों को परिषद् का पता कुछ बदला-बदला सा प्रतीत होगा। हम संस्कृत के विद्वानों और अनुरागियों को यह सूचित करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे हैं कि प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमन्त्री, श्री मुलायम सिंह यादव जी और तत्कालीन मुख्य सचिव, श्री नवीन चन्द्र वाजपेयी जी की संस्कृत और भारतीय विद्याओं के प्रति निष्ठा के फलस्वरूप परिषद् का अपना विशाल भवन बनकर तैयार हो चुका है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परिषद् के अपरमन्त्री श्री जितेन्द्र कुमार त्रिपाठी जी तथा उनकी पत्नी स्व० श्रीमती उमा त्रिपाठी जी ने जो प्रयास और श्रम किया है उसके ऋण से यह परिषद् कभी भी मुक्त नहीं हो सकेगी। परिषद् के तत्कालीन अध्यक्ष, श्री त्रिभुवन प्रसाद तिवारी जी, ने परिषद् के

भवन-निर्माण के लिए धन की व्यवस्था करने से लेकर भवन–निर्माण में आने वाले अनेक प्रकार के व्यवधानों का समाधान जिस समझबूझ से किया है उसके लिए यह परिषद् सदा उनकी अधमर्ण रहेगी। हमारे वर्तमान अध्यक्ष, श्री रमेश चन्द्र त्रिपाठी जी, का मार्गदर्शन और उनका उदार साहाय्य भी परिषद् की गतिविधियों को आगे बढ़ाने में अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं। वह कुशल प्रशासनिक अधिकारी होने के साथ–साथ सहृदय विद्वान् भी हैं। हम उनके सुदीर्घ आयुष्य की कामना करते हैं और आशा करते हैं कि उनका बहुमूल्य सहयोग और मार्गदर्शन परिषद् को सदैव सुलभ रहेगा।

परिषद् के मन्त्री, ''ऋतम्'' के सह–सम्पादक और सम्पूर्णानन्द संस्कृत–विश्वविद्यालय, वाराणसी के पूर्व कुलपति, प्रो० अशोक कुमार कालिया को वर्ष २००६ के लिए राष्ट्रपति सम्मान हेतु चयनित किया गया है। इससे समस्त परिषत्परिवार हर्ष और गर्व का अनुभव कर रहा है। प्रो० कालिया को हमारी हार्दिक बधाइयाँ।

मैं ''ऋतम्'' की परामर्शदात्री समिति के सभी विद्वान् सदस्यों के प्रति परिषद् की ओर से और स्वयं अपनी ओर से भी कृतज्ञता ज्ञापन कर रहा हूँ। आशा है कि उन सबका मार्गदर्शन ''ऋतम्'' को सदैव प्राप्त होता रहेगा। मैं इस विशेषाङ्क में प्रकाशित लेखों के विद्वान् लेखकों के प्रति भी परिषद् की ओर से और स्वयं अपनी ओर से भी अधमर्णता स्वीकार कर रहा हूँ। आशा है कि सभी विद्वानों का सहयोग परिषद् और ''ऋतम्'' को इसी प्रकार प्राप्त होता रहेगा।

इस अन्तराल में परिषद् के और भी अनेक हितैषी और मार्गदर्शक इस संसार से विदा हो चुके हैं, जिनमें से कुछ हैं– प्रो० ऑस्कर बोट्टो (तयूरिन, इटली), प्रो० वी० के० वर्मा, प्रो० राममूर्ति त्रिपाठी, डॉ० के० चन्दरतन, डॉ० मातृदत्त त्रिवेदी तथा प्रो० अनन्तलाल ठाकुर। जगन्नियन्ता परमात्मा से प्रार्थना है कि वह सभी दिवङ्गत आत्माओं को सद्गति प्रदान करे।

''ऋतम्'' तथा परिषद् के प्रायः सभी प्रकाशनों के युवा, उत्साही और विनम्र मुद्रक श्री मनीष मेहता और उनके पिता श्री विश्वमोहन मेहता के प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त कर रहा हूँ, क्योंकि इन दोनों का उदार और बहुमूल्य सहयोग परिषद् को सदैव प्राप्त होता रहता है।

जगदम्बा प्रसाद सिनहा

Editorial Preface

I am glad to bring out Dr. Mangal Deva Shastri Commemoration Volume of the *Ṛtam*. Although the pleasure of bringing it out is not that as it should have been. Late Dr. Shastri's daughter, Mrs. Indu Rastogi is no more to see the special volume being published in memory of her late father. She was always enthusiastic to participate in all the activities of the Parishad and was responsible for organising its various literary and cultural activities. The cruel hands of destiny have snatched away her husband, Sri Ramesh Chandra Rastogi, too. He was taking active interest in all the activities of the Parishad after the sad demise of her beloved wife. The *Ṛtam* is putting on record its heart-felt respect to the deceased couple.

In order to update the *Ṛtam* several numbers are being published together. In future it will be our earnest endevour to at least bring out one volume containing two numbers together at regular intervals. It is earnestly hoped that we will continue to receive the able guidance of the members of its Advisory Board of Editors, kind patronage of the learned contributors and cooperation of the booksellers.

The readers of the *Ṛtam* will kindly note a change in the address of the Parishad. We are pleased to announce to the world of the Sanskritists and all lovers of Sanskrit that due to the earnest love for Sanskrit and indian Culture and generous help to the Parishad given by the then Chief Minister of Uttar Pradesh, Sri Mulayam Singh Yadav Ji at the initiative of the then Chief Sectretary of the State, Sri N. C. Bajpai, the Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad has moved to a new and more spacious building of its own. In this connection the Parishad puts on record its heart-felt gratitude to the efforts made by Sri Jitendra Kumar Tripathi, Additional Secretary of the Parishad and his late-lamented wife, Mrs. Uma Tripathi. The then President of the Parishad, Sri Tribhuvan Prasad Tiwari, deserves special mention for arranging funds from the UP Govt. and looking through the minutest details

during the planning and construction of the building of the Parishad. The Parishad shall ever remember the able guidence, tireless efforts in all the activities of the Parishad. May the Almighty God grant him happy and healthy long life. The Parishad is fortunate and proud of getting the guidance of the present President of the Parishad, Dr. Ramesh Chandra Tripathi, retired member of the Indian Administrative Services and former Secretary-General of the Rājya Sabhā. Like his predecessor, he also takes keen interest in all the activities of the Parishad and makes tireless efforts to see that the Parishad prospers in all spheres of its activities. We pray for his long and happy life to stear clear the destiny of the Parishad.

It gives me pleasure to announce that Dr. A. K. Kalia, former Professor and Head of the Department of Sanskrit and Prakrit Languages, Lucknow University, former Vice-Chancellor of the Dr. Sampurananand Sanskrit University, Varanasi-, Secretary of the Parishad and Joint Editor of the *Rtam* has been selected for the award of Certificate of Honour by the President of India. Congratulations to Dr. Kalia !

I am glad to put on record on behalf of the Parishad and on my own behalf a sense of gratitude to the learned members of Advisory Editorial Board of the *Ṛtam*. I hope the *Ṛtam* will be fortunate enough to receive their able guidance in future also. I shall be failing in my duty if I do not express my gratitude to the learned contributors and generous subscribers of the *Ṛtam*.

In the mean time many well-wishers of the Parishad have passed away. To name a few of them, Prof. Oscar Botto (Turin, Italy), Prof. V. K. Verma, Prof. Ram Murti Tripathi, Dr. K. Chandaratana, Prof. Anant Lal Thakur and Dr. M. D. Trivedi. We pray to the Almighty God to grant them all eternal peace.

Lastely, it is my duty to acknowledge my gratitude to the *Rtam*'s Printers, young and enthusiastic Sri Manish Mehta for his modesty and cooperation extended to the Parishad. His father, Sri Vishwa Mohan Mehta is ever ready to lend the benefit of his expertise in the printing and publishing industry. I am really grateful to him.

J. P. Sinha

Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad
Lucknow

An Introduction

The Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow was established with the inspiration and under the kind patronage of the late Acharya Narendra Deva, the late Dr. Sampurnananda, the late Prof. K.A.S. Iyer and the late Sri Gopal Chandra Sinha in the year 1951 and was registered under the Societies' Registration Act, 1860 in the same year. Since then it has steadily grown on and is now one of the prominent research institutes of Northern India.

The aims and objects of the Parishad are as follows :

1. Propagation of Sanskrit language and literature;
2. Translation of works of Sanskrit literature in Hindi and other languages and their publication;
3. Editing and publication of Sanskrit, Pali and Prakrit manuscripts and of such published works as are either rare and out-of-print or stand in need of a critical edition;
4. Search and collection of Sanskrit, Pali and Prakrit manuscripts;
5. Establishment of Sanskrit libraries, reading-rooms and repositories;
6. Carrying on, encouraging and fostering research in all branches of Indology;
7. Establishment of contacts with Indian and foreign Sanskritists and Indologists and Institutions where Indological studies may be carried on;
8. Taking such other steps as may be necessary for the propagation of Sanskrit language and literature and for researches in Indology.

Activities

The Parishad is engaged in the followng among other activities :

1. **Running a Library and a Reading Room :** The Parishad possesses a rich library in the city of Lucknow at a place which is not very far off from the main educational centres of the city. Besides manuscripts, the library contains a large number of printed volumes, of which quite a large number represent works which are now rare and out of print. Attached to the library there is a reading-room equipped with excellent seating arrangement. The library and the reading-room are made use of at an average by 30 to 40 scholars every day, which is not a mean number for a specialised library of this kind.

2. **Search and Collection of Manuscripts :** The Parishad has so far collected a little over 15000 manuscripts, out of which some are on plam-leaf, some on birch-bark and the others on paper. 2134 of the manuscripts in the Parishad's collection are in the Śāradā or Kashmiri script. The oldest manuscript in the Parishad's collection is of Vikrama Saṁvat 1452, corresponding to 1397 A.D., i. e. a little more than 600 years ago.

3. **Preparation and publication of Descriptive Catalogues of the manuscripts collected in the Parishad :** With the financial assistance given by the Government of India the Parishad has already published two series of Catalogues of Manuscripts. The old series contains descriptive Catalogue of 1304 manuscripts which have been prepared with the financial help given by the Government of India. Second Series of the Catalogue contains 4033 manuscripts and runs into four Volumes. It has also been financed by the Ministry of Education, Govt. of India. Preparation of Catalogues of the remaining manuscripts is in progress. In fact, it is a continuing process.

4. **Preparing critical editions of old and rare works :** A book on astronomy entitled '*Dhīkoṭīda-karaṇam*' has already been critically edited and published along with an Introduction, English translation and notes. One of the 'Tantra' works preserved in the form of manuscripts in our collection viz., *Bhaktistotra* by Avadhutasiddha was edited by the late Mahāmahopādhyāya Dr. Gopinath Kaviraj. This manuscript, which is on birchbark and in *Śāradā* script is almost complete. The Government of India has got this manuscript 'laminated free of charge through the National Archives. At other Centres as well as some others has also been published by the Parishad.

5. **Honouring distinguished Sanskritists and Scholars of Indology :** In september 1967 the Parishad brought out and presented an *Abhinandana*

Grantha to Dr. Gopinath Kaviraja. Other *Abhinandana Granthas* were also presented to some other very distinguished scholars, such as late Prof. K. A. S. Iyer, late Dr. Ludwik Sternbach, the late Dr. B. R. Saksena. Commemoration volumes in memory of the late Sri G. C. Sinha, one of the founders of the Akhila Bharatiya Sanskrit Parishad and the late Prof. S. V. Singh were brought out by the Parishad. The present volume is being brought in memory of the late Dr. Mangaldeva Shastri.

6. **Publications :** A list of the Parishad's publications has been printed separately. It contains 46 entries.

7. **Holding of academic meets and seminars :** A meeting in which some scholar or reads a paper is a regular feature. Besides, special memorial lectures are held in memory of the Late Professor K.A.S. Iyer and the Late Professor Mangal Deva Shastri, the late Sri Gopal Chand Sinha and the late Dr. S.V. Singh. In addition, special lectures and seminars are organised regularly.

8. **Staging Sanskrit Dramas :** The Parishad has so far staged several Sanskrit dramas in the city of Lucknow. It also staged one Sanskrit drama in Varanasi and another in Ujjain. It wants to set up a permanent stage for such dramas but lacks the necessary resources.

9. **Research Work :** Research is one of the main functions of the Parishad. The library together with its manuscripts section is being equipped in such a way as to be most helpful in this matter. The Parishad was very fortunate in getting the services of the late Prof. K.A.S. Iyer and Prof. Satyavrat Singh to work as the Directors of Research. Scholars wishing to do research under the auspices of the Parishad have the advantage of getting guidance also from the following :

    1. Prof. H. C. Joshi, Retd. Professor & Head, Sanskrit Department, University of Gorakhpur, Gorakhpur.

    2. Prof. J. P. Sinha, Retd. Professor and Head, Department of Sanskrit and Prakrit Languages, Lucknow University.

    3. Prof. A. K. Kalia, Formerly Professor, Department of Sanskrit and Prakrit Languages, Lucknow University. and Ex-Vice-Chancellor, Dr. Sampurnananda Sanskrit Vishvavidyalaya, Varanasi.

4. Dr. M. L. Rastogi, Retd. Reader, Department of Sanskrit and Prakrit Languages, Lucknow University.

5. Prof. R. S. Misra, Retd. Professor & Head, Department of Sanskrit and Prakrit Languages, Lucknow University.

6. Prof. B. K. Shukla, Department of Sanskrit and Prakrit Languages, Lucknow University.

7. Dr. (Smt.) Priti Sinha, Reader, Department of Sanskrit and Prakrit Languages, Lucknow University.

10. **Research Journal :** *Ṛtam* - a half-yearly multilingual Research Journal and Ajasrā, a Quarterly Sanskrit Magazine are brought out by the Parishad at regular intervals.

Management :

The Parishad is managed by an Executive Committee consisting of very eminent persons. The list of its members is given else where in this Journel.

Part - I

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री – व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व

(स्व०) रमेश चन्द्र रस्तोगी

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री संस्कृत के सर्वमान्य उद्भट विद्वान् थे। उन्होंने वैदिक साहित्य का गम्भीर अनुशीलन किया था। वह जीवन भर संस्कृत की सेवा में ही लगे रहे।

डॉ० शास्त्री का जन्म बदायूँ में 16 सितम्बर, 1890 में हुआ था। पहले उन्होंने मदरसे में उर्दू पढ़ना प्रारम्भ किया, किन्तु जब 1900 ई० में बदायूँ में आर्य समाज की पाठशाला खुली, तब उन्होंने उसमें पढ़ना आरम्भ किया। वह 1903 में गुरूकुल, बदायूँ में पढ़ने गये। संस्कृत हिन्दू कालेज में बी.ए. कक्षा में प्रवेश लिया। उन्होंने लाहौर से प्रथम श्रेणी में संस्कृत में एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की और प्रथम स्थान प्राप्त किया। सरकारी छात्रवृत्ति पर वह इंग्लैंड गये थे, जहाँ ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से उन्होंने 1923 में डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त की थी।

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री ने इंगलैण्ड से लौटकर देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर काशी विद्यापीठ में प्राध्यापक के रूप में योगदान किया, जहाँ उन दिनों डॉ० भगवानदास प्रिन्सिपल थे और आचार्य नरेन्द्रदेव तथा डॉ० सम्पूर्णानन्द जैसे महान् विचारक और नेता उनके सहयोगी थे। उल्लेखनीय है कि काशी विद्यापीठ में डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री के शिष्यों में श्री लालबहादुर शास्त्री भी थे, जो बाद में भारत के प्रधानमन्त्री बने थे। डॉ० शास्त्री उसके पश्चात् प्रसिद्ध सरस्वती भवन पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष और गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, बनारस के रजिस्ट्रार रहे। 1937 से लेकर 1948 तक वह गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज, वाराणसी के प्रिन्सिपल के पद पर प्रतिष्ठित रहे। इस पद पर रहते हुए उन्होंने उत्तर प्रदेश में संस्कृत अध्ययन के पाठय–क्रमों का आधुनिकीकरण किया और संस्कृत कॉलेज के ढाँचे में व्यापक सुधार करके उसे संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में विकसित करने के लिए तैयार किया। वर्ष 1948 में उत्तर प्रदेश शासन ने उन्हें विशेष कार्याधिकारी के पद पर नियुक्त किया था। इस पद पर रहते हुए उन्होंने प्रस्तावित संस्कृत विश्वविद्यालय के विधेयक का प्रारूप तैयार किया था। वह विश्वविद्यालय के कुलपति भी नियुक्त हुये थे। उन्होंने ही सर्वप्रथम विश्वविद्यालय के विभिन्न निकायों को गठित किया था और विश्वविद्यालय को कार्य की सही दिशा प्रदान की थी।

डॉ० शास्त्री वर्ष 1937 से 1940 तक उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा गठित 'संस्कृत पाठ्यक्रम पुनरीक्षण समिति' के तथा वर्ष 1938 से 40 तक 'संस्कृत कॉलेज पुनर्गठन समिति' के मन्त्री रहे थे। वर्ष 1948 से 1950 तक वह 'संस्कृत पाठशाला पुनर्गठन समिति' के अध्यक्ष रहे थे। वह भारत सरकार द्वारा 1949 में दिल्ली में आयोजित विद्वत्सम्मेलन के सदस्य रहे थे, जिसे हिन्दी में

प्राविधिक शब्दावली के निर्माण का काम सौंपा गया था। भारत सरकार द्वारा गठित 'संस्कृत अनुवाद समिति' के भी वह 1949 से 1952 तक सदस्य रहे थे, जिस पद पर रहते हुये उन्होंने भारत के संविधान का संस्कृत अनुवाद तैयार किया था। वह उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा गठित 'देवनागरीलिपि सुधार समिति' के 1948 से 1950 तक सदस्य रहे थे। इसके अतिरिक्त वह भारत सरकार के केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड के भी 1959 से 1962 तक सदस्य रहे थे। 1952 से 1963 तक वह अखिल भारतीय संस्कृत-सम्मेलन के उपाध्यक्ष रहे थे, जिसके अध्यक्ष थे राजर्षि पुरूषोत्तमदास टण्डन।

डॉ० शास्त्री वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी परिषद् (Executive Council), गोरखपुर विश्वविद्यालय की शिष्ट परिषद् तथा काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी की विद्वत्परिषद् (Academic Council) के भी सदस्य रहे थे। भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों से भी वे 20 वर्ष से अधिक समय तक पी-एच० डी० तथा डी० लिट्० की उपाधियों के परीक्षक के रूप में सम्बद्ध रहे थे।

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री के विद्वत्तापूर्ण शोधकार्य तथा विभिन्न विषयों पर उनके द्वारा अधिकृत ग्रन्थों के प्रणयन के लिए संस्कृत जगत् में उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। 'ऋग्वेदप्रातिशाख्य' पर उनके शोधकार्य से विद्वज्जन भली भाँति परिचित हैं। उन्होंने उव्वट की टीका सहित 'ऋग्वेदप्रातिशाख्य' का अंग्रेजी अनुवाद आलोचनात्मक टिप्पणियों सहित तीन खण्डों में प्रकाशित किया था, जिसकी प्रस्तावना प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् Prof. A.B. Keith ने लिखी थी। उन्होंने 'उपनिदानसूत्रम्', 'आश्वलायनश्रौतसूत्रम्', 'उपेन्द्रविज्ञानसूत्रम्' तथा 'न्यायसिद्धान्तमाला' नामक ग्रन्थों के भी आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित किये थे। वाराणसेय संस्कृत कॉलेज के प्रिंसिपल के पद पर रहते हुए वह उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा प्रकाशित की जाने वाली 'सरस्वती-भवन टेक्स्ट सीरीज' के प्रधान सम्पादक भी रहे थे और उन्होंने 'विक्रमाङ्कदेवचरित', 'प्रत्याख्यानसंग्रह', 'भास्करी', 'गणितकौमुदी' इत्यादि 20 महत्त्वपूर्ण संस्कृत कृतियों का पहली बार सम्पादन तथा प्रकाशन किया था। उन्होंने 'सरस्वती-भवन स्टडीज' नामक शोध पत्रिका का भी सम्पादन किया था। उन्होंने संस्कृत में 'सारस्वतीसुषमा' नामक एक नयी पत्रिका का शुभारम्भ किया था और दीर्घकाल तक वह उसका सम्पादन करते रहे थे।

डॉ० शास्त्री ब्राह्मण ग्रन्थों पर विशेष रूप से शोध कार्य में रत रहे थे। इस सम्बध में उनके द्वारा प्रकाशित 'ऐतरेयब्राह्मणपर्यालोचन', 'कौषीतकिब्राह्मणपर्यालोचन', 'ऐतरेयारण्यकपर्यालोचन', तथा 'शतपथब्राह्मणपर्यालोचन' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री भारतीय संस्कृति के गम्भीर चिन्तक और अध्येता थे। उन्होंने अपनी विश्लेषणात्मक शैली में भारतीय संस्कृति के विकास पर अधिकृत रूप से लिखा था। इस विषय पर 'भारतीय संस्कृति का विकास' नामक उनकी पुस्तक के दो खण्ड–वैदिक धारा तथा औपनिषद् धारा– उनके जीवनकाल में प्रकाशित हो चुके थे। प्रथम पुस्तक की प्रस्तावना आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने और दूसरी पुस्तक की प्रस्तावना काका साहेब कालेलकर ने लिखी थी। वह भारतीय संस्कृति की पौराणिक धारा पर कार्य कर रहे थे और उसके अनेक अध्याय हैदराबाद से

प्रकाशित होने वाली 'कल्पना' पत्रिका में प्रकाशित हुये थे, किन्तु डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री अपने जीवनकाल में उसको पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं देख सके।

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री ने संस्कृत के प्रेरणाप्रद सुभाषितों का एक सङ्ग्रह भी 'सुभाषित-सप्तशती' के नाम से प्रकाशित किया था, जिसमें वेदों से लेकर संस्कृत साहित्य के आधुनिकतम ग्रन्थों के 700 सुभाषित सङ्गृहीत है। भाषाविज्ञान विषय पर उन्होंने हिन्दी में सर्वप्रथम ग्रन्थ का प्रणयन किया था जिसमें भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन वैदुष्यपूर्ण रीति से प्रस्तुत किया गया था। उनके द्वारा प्रणीत 'प्रबन्धप्रकाश' संस्कृत के निबन्ध-लेखन तथा चिन्तन की दिशा में एक उल्लेखनीय ग्रथ है, जो तीन खण्डों में प्रकाशित हैं।

डॉ० शास्त्री संस्कृत के उदभट विद्वान् होने के साथ-साथ एक अति भावुक कवि भी थे। संस्कृत कविताओं की उनके तीन सङ्ग्रह प्रकाशित भी हुए थे। वे हैं– 'रश्मिवाला', 'अमृतमन्थनम्' और 'जीवनज्योतिः'। उनसे उनकी दार्शनिक दृष्टि और उनके आशावादी दृष्टिकोण का पता चलता है। 'रश्मि-माला' और 'अमृत-मन्थनम्' के उत्कृष्ट साहित्यिक कृतित्व के लिए डॉ० शास्त्री को उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत भी किया गया था।

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री को भारत के राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन द्वारा उनके विशिष्टि वैदुष्य तथा संस्कृत की उनकी सेवा के लिए सम्मानित किया गया था। गुरूकुलकांगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा भी उन्हें विद्यामार्तण्ड की उपाधि से सम्मानित किया गया था। जब तक डॉ० शास्त्री जीवित रहे, वह स्वाध्याय और लेखन से सदैव जुड़े रहे। 28 अक्टूबर, 1976 को मेरठ में वह दिवङ्गत हो गये। उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके बृहत् और अमूल्य ग्रन्थों के भाण्डार को उनकी पुत्री, श्रीमती इन्दु रस्तोगी, द्वारा अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ को दे दिया गया था, जिससे संस्कृत के विद्वान् उन का लाभ उठा सकें।

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री – कुछ स्मृतियाँ

डॉ० मोतीलाल रस्तोगी

बदायूँ निवासी डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री, इंग्लैड से डाक्ट्रेट करके सम्भवतः 1925 में जब प्रथम बार लखनऊ पधारे वह राजा बाजार स्थित "भारत आश्रम" (बाबू बल्लभदास रस्तोगी बी.ए. के निवास स्थान) में ठहरे थे। तत्कालीन रस्तोगी समाज ने डॉ० मङ्गलदेवशास्त्री का और उनका सम्मान करने वालों का घोर विरोध किया था। उनका हुक्कापानी तक बन्द कर दिया गया था।

वर्ष 1939 में अखिल भारतीय हरिश्चन्द्र वंशीय महासभा का लखनऊ में अधिवेशन हुआ था। उसमें भी रायबहादुर गंगा प्रसाद (टेहरी गढ़वाल में जज), डॉ० मङ्गलदेवशास्त्री आदि के विरोध में स्वर प्रस्फुटित हुये थे। उस समय मैं 12-13 वर्ष का बालक था। अधिवेशन के सांस्कृतिक कार्यक्रमों को उत्सुकतावश देखने पहुँचा था। अधिवेशन मेरे घर के पास ही मूलचन्द्र रस्तोगी औषधालय के सन्निकट, नादानमहल पार्क में बनाये गये पण्डाल में चल रहा था।

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री से मेरी प्रथम भेंट 1950 में बाबू काशीनाथ रस्तोगी के निवास स्थान पर हुई थी। वह प्रथम विश्वयुद्ध के समय बसरा में बन्धक बना लिये गये थे। वह बड़े ही कर्मठ, उत्साही, सेनानी, जोश और ऊर्जा से परिपूर्ण, समाजसेवी, समाज सुधारक थे, और हरिश्चन्द्रवंशीय नवयुवकों एवं नवयुवतियों में नवजागृति और नव चेतना फूँकने में दत्तचित्त रहते थे। उस समय मैंने लखनऊ विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम. ए. किया था।

कक्षा 9 से एम० ए० तक सहपाठी रहे परममित्र स्व० श्री रमेश चन्द्र रस्तोगी का शास्त्री जी की बेटी, डॉ० इन्दु रस्तोगी, से विवाह लगभग 3 वर्ष बाद हुआ था। कलकत्ता विश्वविद्यालय में कम्पैरैटिव फिलालॉजी की एम. ए. कक्षा में अध्ययनरत होने के कारण मैं उनके विवाह में सम्मिलित न हो सका था। रमेश चन्द्र अपनी सेवा के कुछ अन्तिम वर्षों को छोड़कर शेष काल लखनऊ से बाहर ही सेवारत रहे, जिससे भेंट भी छठे-छमाहे ही हो पाती थी।

डॉ० मङ्गलदेवशास्त्री से मेरी अन्तिम भेंट, उनके वाराणसी कैण्ट स्थित निवास स्थान पर हुई थी जब मैं अकस्मात् वाराणसी पहुँचा था। शास्त्री जी से काफी देर विचार-विमर्श हुआ था। उन्होंने अपनी इच्छा व्यक्त की थी कि अपने अमूल्य ग्रन्थ संग्रह के समुचित उपयोग और सुरक्षा की दृष्टि से वह चाहेंगे कि हम लखनऊ में रस्तोगी समाज के सहयोग से किसी पुस्तकालय तथा शोधसंस्थान की स्थापना करें। शास्त्री जी के जीवनकाल में उनकी इच्छापूर्ति में अपेक्षित सफलता नहीं मिल सकी। तब हमने प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद गुरुवर्य प्रोफेसर अय्यर साहब को

डॉ० मङ्गलदेवशास्त्री के साथ हुई अपनी वार्तालाप और उसमें अभिव्यक्त उनकी इच्छा से अवगत कराया। अय्यर साहब की आज्ञा और प्रेरणा से हमने अपने मित्रवर रमेश चन्द्र रस्तोगी तथा डॉ० इन्दु को परामर्श दिया कि वह शास्त्री जी की मनोकामना पूर्ण करने में यथाशक्ति सहयोग प्रदान कर उनके ग्रन्थ-सङ्ग्रह को अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ को उपलब्ध करा दें। बदले में शास्त्री जी की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिए परिषद् यथासमय डॉ० मङ्गलदेवशास्त्री स्मृति व्याख्यानमाला आयोजित करती रहेगी। परिषद् के इस प्रस्ताव को रमेश जी और इन्दू जी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया था और उसका कार्यान्वयन भी कर दिया था। शास्त्री जी की बेटी और उनके जामाता की उपस्थिति में सम्बद्ध विषयों के उच्चकोटि के विद्वज्जनों के अनेक व्याख्यान हो चुके हैं। अब वे दोनों भी दिवंगत हो चुके हैं, किन्तु शास्त्री जी की स्मृति में व्याख्यानमाला का क्रम बराबर चलता रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

EVOLUTION OF PHYSICAL SCIENCES IN ANCIENT AND MEDIEVAL INDIA

(Late) Prof. K. V. Sarma

I. SOURCES OF INFORMATION

Introductory

Indian achievements in religion, metaphysics and literature are generally well known, but the Indian contribution to the scientific disciplines lies practically hidden to the common man, first on account of the overwhelming prevalence, today, of western scientific technology, and secondly because early Indian science is couched in the Sanskrit language which is understood only among a limited circle of specialists. However, for an overall appraisal of the evolution of Indian thought, an understanding of the scientific aspect thereof is a desideratum. A close study of the subject would show that there was considerable evolution in several scientific disciplines, such as Mathematics, Astronomy, Architecture, Engineering, Botany, Zoology, Chemistry, Metallurgy and Medicine, including surgery - advances in which had all their part to play. The present paper is intended to make an appraisal of certain aspects of the development of science in early and mediaeval India and instil an interest in this less known field of study.

In order to understand and evaluate the scientific thought of a nation, at an age when one did not care to record meticulously, as is done now, every discovery and invention, one has to look for such information in contemporary literature, both scientific and non-scientific, and also vestiges of the times unearthed by archaeology. In order to see how archaeology could corroborate literary evidence, one has but to consider, for instance, the indications of ship-building activities found at Lothal in the Kutch region in Gujarat, dated c.2500 to 2000 B.C., and of metallurgical operations, dated the 10th century B.C., found at Saradkel in Dc. Ranchi, Bihar.

NON-SCIENTIFIC LITERATURE

1. Vedic texts

Coming to literary sources, and, there, too, to non-scientific literature, the Vedic literature, whose earliest strata are to be traced back to

3000 B.C., comes first. Though the Vedas are religious texts, they carry some details on the then scientific acumen. The *Ṛgveda*, for instance, presupposes some knowledge of astronomy and calendrical science when it refers to the solar eclipse[1], the motion of the sun and the moon through the constellations[2], the division of the time into days, months and years and intercalation.[3] The *Atharvaveda* mentions, besides Rāhu[4] the moon's node[5] and gives a list of 27 *nakṣatra-s*[6]. The decimal notation had been formulated even during Vedic times and the *Yajurveda* mentions numbers in multiples of ten to the power of 12, and also cases of addition, subtraction, multiplication and fractions.

To quote the well-known Vedists Macdonell and Keith on the subject :

"*Daśan*, 'ten', forms the basis of the numerical system of the Vedic Indians......In the *Vājasaneyī Saṁhitā* (of the *Yajurveda*)[7] also *Śatapatha Brāhmaṇa*,[8] the list given is 1, 10, 100, 1000; 10,000 *(ayuta)*; 100,000 *(niyuta)*; 1,000,000 *(prayuta)*; 10,000,000 *(arbuda)*; 100,000,000 *(nyarbuda)*; 1,000,000,000 *(Samudra)*; 10,000,000,000 *(madhya)*; 100,000,000,000 *(anta)*; 1,000,000,000,000 *(parārdha)*..."

The above-mentioned writers continue :

"An arithmetical progression of some interest is found in the *Pañcaviṁśā Brāhmaṇa*[9], where occurs a list of sacrificial gifts in which each successive figure doubles the amount of the preceding one. It begins with *dvādaśa mānaṁ hiraṇyam*, 'gold to the value of twelve,' ....followed by 'to the value of 24, 48, 96, 192, 384, 768, 1536, 3072', then *dve aṣṭavimśati-śata-māne*, which must mean 2x128x24 (the last unit being not a single *māna*, but the number of 24 *māna-s*) = 6,144, then 12,288, 24,576, 49,152, 98,304, 196,608, 393,216".

These scholars add : "With these large numbers may be compared the minute theoretical subdivision of time found in the *Śatapatha Brāhmaṇa*[10] where a day is divided into 15 *muhūrta-s*, 1 *muhūrta* = 15 *kṣipra-s*, *kṣipra* = 15 *etarhi-s*, 1 *etarhi* = 1 *idāni*; 1 *idāni* = 15 *prāṇa-s*. The *Śāṅkhāyanaśrautasūtra*[11] has a decimal division of the day into 15

---

1. *Ṛgveda*. 5.40.5-9.
2. *Ibid*.1.24.8.; 10.85.2
3. *Ibid*.1.164.11; 1.25.8
4. *Atharvaveda*. 19.9.10.
5. *Ibid*.19.9.10.
6. *Ibid*.19.7.1; 19.8.1.
7. *Vāj. Saṁ*. 17.2; 32.34.
8. *Śata. Brāh*. 9.1.2,16.
9. *Pañca. Brāh*.18.3.
   Cf Baudhāyana Śraula Sūtra. 8.10.16.
   Kātyāyana Śrauta Sūtra. 22.9.1-6.
10. 12,3.2.1 ff;; ef. also *Taittirīya Brāhmaṇa*, 3.10.1.1.
11. 14,75ff; ef. *Śāṅkhyāyana Āraṇyaka*, 7.20.

muhūrta-s, 1 *muhūrta* = 10 *nimeṣa-s* : 1 *nimeṣa* = 10 *dhvamsi-s*'.[12]

While the *Ṛgveda* refers to the twin-gods, Aśvins, who cured blindness, emaciation and broken bones[13], the *Atharvaveda* and its ancillary literature are rich in an anatomical nomenclature and the medication for a number of ailments. Vedic literature refers also to artisans, chariotmaking,[14] metal work,[15] ships[16] and large cities, pointing to a fair degree of scientific technology.

2. EPICS and PURĀṆAS

The extensive epic and purāṇic literature is another potential source of information about contemporary state of scientific knowledge. While statements of scientific importance are found strewn throughout these works, some of these texts contain full chapters dealing with different technical disciplines. Thus, the *Viṣṇudharmottara Purāṇa* carries sections on painting, the *Nāradīya Purāṇa* on astronomy and the *Agni Purāṇa* on *Āyurveda* and horticulture, and so on.

3. *ARTHAŚĀSTRA* AND *TANTRAŚĀSTRA*

Two other classes of texts which, by their very nature, carry consolidated information of a scientific nature, are the ancient treatises on polity and esoteric practices, *Arthaśāstra* and *Tantraśāstra*. The *Arthaśāstra* of *Kauṭalya*, of the 4th cent. B.C., for instance, contains substantial information on mining, metallurgy and chemical technology[17], gold, alloys and accurate balances[18] and weights, measures and time reckoning[19]. The *Vaiśampāyananīti* gives detailed information on weaponry, the *Śukranīti* on explosive missiles, and the *Yuktikalpataru* on ship-building. Since *Tantraśāstra* encompasses also temple worship, the disciplines of engineering and architecture, especially of temples, find detailed treatment in Tantra texts. Texts of this type are *Rudrayāmala*, *Īśāna-śivagurudevapaddhati* and *Tantrasamuccaya*.

4. ENCYLOPAEDIC TEXTS

There exist, in early Indian literature, several treatises of an encyclopaedic nature, including works on natural astrology. To the latter category belongs the well-known *Bṛhatsamhitā* of Varāhamihira of the 5th-6th century, which contains chapters devoted to such varied scientific subjects like

---

12. *Vedic Index of Names and Subjects* by A. A. Macdonell and A. B. Keith, Rep. Motilal Banarasidas, Varanasi, 1958, Vol. I, pp. 342-43.
13. *R. V.* 10.39.35.
14. *Śulbasūtra*.6.5.
15. *Yajūrveda*. *VS*. 18.13.
16. *R. V.* 1.13.1.2; 10.155.3.
17. *Arthaśāstra*, II.12.
18. *Ibid.* II.13-14.
19. *Ibid.* II.19-20

geography, meteorology, water-divining, horticulture, perfumery, lapidary science, architecture and sculpture. Among other works of an encyclopaedic nature might be mentioned the *Mānasollāsa* of Somadeva, *Samarāṅgaṇasūtradhāra* of Bhoja and *Adbhutasāgara* of Vallālasena.

5. BUDDHIST and JAINA LITERATURE

The Buddhist and Jaina canon and commentarial literature, also contain scattered and, sometimes, detailed treatment of contemporary scientific knowledge. Thus the Buddhist *Maha- vagga* has a chapter on medicine, the Jaina *Upāṅga*-text *T ivājivādhigama* a discussion on life and non-life, and the *prakīrṇaka*-text *Taṇḍulareyāliva* on physiology, anatomy and embryology.

TRANS-INDIAN SOURCES

Quite often, sources of a trans-Indian nature come in handy in providing fresh information on things - Indian or in supplying missing links. Numerous Sanskrit texts, now lost in India, are preserved in their Tibetan renderings in the extensive *Tanjur* and *Kanjur* compilations. Again, several Indian scientific treatises have been translated into Persian and Arabic, an activity which was at its height during the times of the Caliphs. The accounts of India left by foreign travellers, too, supply important information. The most informative among these are the works of Al Biruni, the 10th-11th cent. Persian polymath who sojourned in India and wrote extensive treatises like the 'Chronology of the ancient nations' (*Kitāb al-āthār al-bāqiya ani-l qurūn al-khāliya*) and 'Account of Hindustan' (*Tārikh al-Hind)*, which give full details of Indian sciences, especially of mathematics and astronomy. State manuals and treatises produced under Mughal patronage, too, serve as sources of scientific information. The pride of place among these goes to the extensive *A'ini Akbari* of Abu'l-Fazl, which carries inestimable information on mathematics and astronomy, botany and agriculture, zoology and animal husbandry, and metallurgy and pyrotechnics.

SCIENTIFIC LITERATURE

The secondary sources of Indian scientific thought, noticed above, augment and place in perspective the full-fledged scientific treatises of which a brief mention might be made here.

In mathematics and astronomy, the *Śulba-sūtra-s* which set out Vedic geometry, and *Vedāṅga-jyotiṣa* (Vedic astronomy) and the *Sūryaprajñapti* and the *Candraparjñapti*, which embody Jaina astronomical thought, ushered in a long era of great fecundity. While the two schools of astronomical computation based on the *Āryabhaṭīya* and the *Sūryasiddhānta* dominated the field, numerous astronomers and mathematicians of eminence, like Bhāskara I, Brahmagupta, Vaṭeśvara, Muñjāla, Śrīpati, Bhāskara II and Parameśvara studded the astronomical firmament.

The medical knowledge evinced in the *Atharvaveda* developed into the elaborate system of Āyurveda analysed in treatises like *Caraka Saṁhitā*, *Suśruta Saṁhitā* and *Aṣṭāṅgahṛdaya*. Buddhist physicians like *Nāgārjuna* also contributed to the advance of medicine. Special mention might be made of the *Garbhopaniṣad* on embrayology, the operative techniques and plastic surgery depicted in *Suśruta Saṁhitā* and the rich materia medica in works like *Rājanighaṇṭu* and *Bhāvaprakāśa*.

Veterinary science, to which also attention had been paid from early times, finds full treatment in works like *Mṛgapakṣiśāstra*, *Hastyāyurveda*, and *Aśvavaidyaka*, while detailed classification and analysis of animal life are to be found in *Caraka* and *Suśruta Saṁhitā-s* and in Jaina works like the *Tattvārthādhigamsūtra* of Umāsvāti.

Agriculture as a science finds depiction in works like *Kṛṣitantra*, *Kṛṣipaddhati* and *Kṛṣipārāśara*, while botanical classification and arbori-horticulture in *Vṛkṣāyurveda* and *Upavanavinoda*. Nutritive properties of vegetables had also been noted and analysed in treatises on cooking, like *Pākaśāstra* and *Bhojanakutūhala*.

On engineering and architecture, some of the standard treatises are *Mayamata*, *Mānasāra*, *Viśvakarma-Vāstulakṣaṇa* and *Śilparatna*.

Treatises like *Rasartnasamuccaya*, *Rasaratnākara* and *Rasahṛdaya* are texts on alchemy where minerals are identified and chemical processes depicted. The *rasaśālā* 'laboratory' and the chemical apparatuses described in the *Rasaratnasamuccaya* are particularly interesting. It is to be noted that considerable chemical technology is involved even in such activities as metal-work, idol-casting, colour painting, pyrotechnics, paper-making, perfumery and cosmetics, on all of which manuals and other documented information are available.

In fine, one can state confidently that ample material is available for a definitive study of scientific thought in ancient and mediaeval India. It is for the cultural historian and the comparative scientist to study the sources in intensity and assess the contribution of India to the scientific disciplines concerned.

II. SCIENTIFIC IDEAS AND CONCEPTS

INTRODUCTION

In the survey of the main sources for the reconstruction and evaluation of scientific thought in Ancient India it was indicated that in ancient civilizations, mythicophilosophical speculations generally preceded scientific rationalisation. Again, theories which were in consonance with the cultural background and suited to the genius of the respective civilisations came to be propounded to

explain the unseen and interpret the seen, and were suitably modified and improved upon, as scientific knowledge advanced. India had not been different in this respect. Its scientific system, as a whole, had its roots on certain broad general concepts and branch of science evolved further norms and additional concepts suited to its own needs. It should be instructive to examine here this aspect of Indian science.

VEDIC CONCEPTS

Early Indian scientific postulations were, naturally enough, based on mythological and empirical approaches to physical phenomena. The 'Seers', to whom the Vedas were revealed about 5000 years ago, experienced the presence of a certain rhyme and order in the universe and attempted to rationalise the same. They conceived of the existence of a cosmic energy or cosmic light *(Viśva-Jyoti)* as the essence behind all phenomena,[20] a divine order called *Ṛta* which pervaded the universe[21] and sacrifice or *Yajña* which preserved universal order intact.[22] They also conceived of *āpaḥ* 'water' as the first element in the evolution of the universe.[23] The Upaniṣad-s continued in the line of Vedic speculations by formulating a unified universal spiritual principle called Brahman and evolving the doctrine of *Pañca-Mahābhūta*, the five principal elements: *pṛthivi*, *tejas*, *ap*, *vāyu* and *ākāśa* (earth, water, fire, air and ether).[24]

PHILOSOPHICAL CONCEPTS

The philosophical systems of *Sāṅkhya*, *Vaiśeṣika* and *Nyāya* developed further, the *Upaniṣadic* doctrine of five elements, while the Jaina, Buddha and Cārvāka systems accepted only the first four. The elements were integrated into the respective philosophies which built up physical and metaphysical tenets according to their own concepts.

SĀṄKHYA AND NYĀYA-VAIŚEṢIKA VIEWS

The *Sāṅkhya* philosophers conceived of an elaborate process of evolution from primoridial nature *(Prakṛti)* to five subtle elements called *tạnmātrā-s*, which, by their interaction, produced the five elements, earth, water, etc., in their gross form. The views of the *Nyāya-vaiśeṣika* philosophers about the elements and their physical characteristics are more elaborate and precise. These philosophers, as also the Jainas and the Buddhas, advocated an *Atomic theory*, according to which all gross matter is the result of the continuous combination of atoms, called *aṇu*, which are microscopical and indestructible.

---

20. *ṚV.* 1.113.1.
21. *Ibid.* 4.3.8.-12; 50.80.1.
22. *Ibid.* 1.43.9.
23. *ef. Nāsadīyasūkta, RV.* 10.129; *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad.* 5.5.1; *Chānodogya Upa.* 7.10.
24. *Aitereya Upa.* 3.2.3; *Taittirīya Upa.* 2.2.1; *Maitrā Upa.* 3.1-2; 6.4.

The attributes of matter are gravity *(gurutva)*, fluidity *(dravatva)*, viscidity *(snigdhatā)*, elasticity *(sthiti-sthāpaka)*, conjunction *(saṁyoga)* and disjunction *(viyoga)*. According to the Vaiśeṣikas, matter is static by nature, and, to move it, motion has to be applied on it. The characteristics of motion, as analysed by the Vaiśeṣika-s , are instructive. According to them, (1) only one kind of motion is possible at a time on a substance; (2) motion moves matter from without; (3) motion acts only for a few moments, (4) motion is produced by infinite substances with limited forms; (5) it has no quality; and (6) it is destroyed by the effect it produces in a particular direction. Motion is, again, the cause of velocity and elasticity. While different types of motions are analysed by the philosophers, they consider it only with reference to change of space but not to time. Another significant concept of Indian philosophy is that space and time are non-material, eternal and all-pervasive. Their views on heat, light and sound, and characteristics thereof and the means of their propagation and perception are also equally instructive.

It may be seen that the integrated system of the physical world, as set out by the *Nayāya-Vaiśeṣika* philosophy of the 6th cent. B.C., mostly by intuition and logic, pre-supposes some of the tenets of modern science derived through the methods of induction, deduction and experimentation. On the background of these concepts, it is worthwhile to take a brief note of the special concepts and theories of the individual scientific disciplines.

ASTRONOMY AND MATHEMATICS

In astronomy, the earth was conceived as a spherical body freely suspended in space. The sun and the planets revolved round the earth, at a uniform speed, along circular orbits which were removed farther and farther into space according to the order of the planets, the order being what it actually is, *viz.*, Moon, Mercury, Venus, Sun, Mars, Jupiter and Saturn. Far beyond the orbits of all the planets was the common orbit of the stars. The zero-point of astronomical computation was taken as the commencement of a long astronomical period called *Kalpa*, when all the planets and their apsides and nodes were at the zero position, called *Meṣādi,* the First Point of Aries, on the zodiac. Nearer zero-points were also used, such as the commencement of the *Mahāyuga*, when all the plants and the Moon's node and apside were at the First Point of Aries, or the beginning of the current *Kaliyuga*, in B.C. 3102, when all the planets were at the First Point Aries, but the Moon's node at 1800 and apside at 2700. Convenient contemporary points of time were also selected and used as the zero points as is done by modern astronomers. For this, the longitudes of the several planets were computed accurately at that point and the then readings used as zero-correction-points for calculations commencing from that point of time. An elaborate division of time, reaching down to a fraction of a second, and that of angular measurements reaching down to a fraction of the second, enabled Indian astronomers to determine the position of the Sun, the Moon and the

planets, and also compute the eclipses to a degree of precision, more or less comparable to results reached by modern methods.

MEDICINE

Āyurveda, the 'Science of life', concerned itself not only with the different aspects of medicine, such as therapeutics, anatomy, surgery, toxicology, etc., but also to general health, hygiene and psychology. The discipline had evolved its own concepts and theories, among which the following deserve special mention : (1) The origin of matter and life takes place by an orderly synthesis of ingredīents evolved out of cosmic forces. (2) The nature of individuals is determined by their actions in their previous births and by parental factors which are transmitted to them. (3) The three humours, *Tridoṣa* viz. *vāta*, *pitta* and *kapha* control the human system at all stages. (4) Treatment is to be applied not only to the ailment but also to the environment. (5) Sleep and dreams and even death are due to the interaction of the principles of *sattva* ('conscious transposition'), *rajas* ('activity') and *tamas* ('inertia') on human consciousness *(cetanā)*, *Bhūtavidyā* relating to mental disorders, *Agadatantra* on poison-cure, *Vājīkaraṇa* or rejuvenation and *Nāḍīvjñāna* on diagnosis by the pulse, are certain other spheres in which novel theories had been evolved. The somatomatic system of human classification developed in Indian medicine (vide *Vimānasthāna* of the *Carakasaṁhitā*, *Suśrutasaṁhitā* and *Aṣṭāṅgahṛdaya* and the commentaries thereon), in which the individual's finger-breadth had been taken as the unit for the measurement of the different parts of his body, is highly interesting, but, what is more interesting, is the use to which such measurements were put to, viz., to determine the life-span, physical stamina, material welfare and mental happiness of the individual.[25]

BOTANY

In Botany, the classification of plants was based not only on botanical and medicinal bases, but also on dietetic principles. Some of the concepts held in this discipline are interesting. Thus plants were considered to be more evolved than the elements.[26] Even plants experienced the states of life, sleep, death, waking, disease, etc.[27] Pollen dust of flowers was taken as the female menstrum[28] and the union of sexes produced fruits.[29] Some species of plants, like the *vetasa*, had male and female varieties,[30] while certain others, like the

---

25. On this see H.C. Shukla, 'Ideas of Scientific Measurement in Basic Principles of Ayurveda, with special reference to Somametry' *Ind. T. of His. of Sc.* 5 (1970) 371-78.
26. G.P. Majumdar, *Vanaspati*, p.53.
27. *Ibid.* pp.49-51.
28. *Amarakoṣa Vanauṣadhivarga*, 50.
29. *Hārita-Saṁhitā*, *Śarīrasthāna*, ch. 1, p.341.
30. *Caraka-Saṁhitā*, *Kalpa*. ch. 5.3, p.1031.

ketaka, were both male and female.[31] It is equally interesting to note that family-relationships have been suggested amongst certain plants[32] like *abayu (brassia nigra)*[33]; *kuṣṭha*, *(saussarea lappa)*[34] *śilāci*, (rubia cordifolia)[35], and the modern investigations have corroborated phylogenitic relation in these families.[36]

CHEMISTRY

In chemistry might be mentioned, among other things, the transmutation of mercury for medical and alchemical purposes, of which eighteen processes were evolved. Infusion of iatro-chemical properties to minerals by treating them with medicinal plants is also instructive.

ARCHITECTURE AND ENGINEERING

Architecture and engineering, in their different branches, are other disciplines in which their protogonists of ancient India had innovated novel theories and methods of work. And, the numerous edifices of those times, which still survive, in spite of the gross neglect to which most of them are subjected to, bear witness to their enduring workmanship.

THE DESIDERATUM

It may not be out of place to add here that the scientific concepts and theories evolved in ancient India are worth being gone into intensely, and analysed scientifically for two reasons. First, towards making an academic study of the history of science in India, and secondly, to identify from among them potential concepts and theories in the light of modern science with a view to develop those ideas and utilise them for the further advancement of the respective scientific disciplines.

III. SCIENTIFIC DISCOVERIES

RECONSTRUCTION OF INDIAN SCIENCE

On the background of what has been stated above, in order to reconstruct the evolution of science in ancient and medieval India, one has to study the final results arrived at, as stated in the ancient texts, and the material

---

31. Majumdar, *Vanaspati.* p.63.
32. cf. *AV.* 9.7.5; 7.10.2.3.
33. *AV.* 6.16.1.
34. *Ibid* 19.30.
35. *Ibid* 5.5.1.
36. See Mira Roy, 'Family Relations of Some Plants in the Atharvaveda' *Ind. T. of Hist. Sc.* 5, (1970) 162-77.

products, which are preserved even now, of the scientific acumen in the land. The said results and the material products have to be analysed through a judicious application of figure work, presupposition, hypotheses and even intuition, and the steps which the Indian scientists took in the development of the several disciplines, traced back. To illustrate; on the basis of the profusion of exquisite miniature paintings and the few texts available, one has to trace back the ingredients of the paints used and the method of mixing them. Similarly, basing oneself on the increasingly accurate values of B given in the texts, one has to resuscitate the methods which led to the identification of those values.

INDIAN ATTITUDE TO DOCUMENTATION

However, this is more easily said than done, on account of the traditional reticence of the ancient India in the matter of documenting his intellectual pursuits. An obvious divergence between Occidental and Oriental documentation of early times lies in the former being, rather, extrovert and the latter introvert. This trait is especially conspicuous in scientific literature. Quite perceptible in the writings of Western thinkers like Aristotle (384-22 B.C.), Euclid (300 B.C.) and Ptolemy (168 B.C.), the tradition was continued by Arabic scholars like Al-Khowārizimi (A.D. 780-850) and Al-Berūni (A.D. 973-1050). In the case of post-reformation scientists of Europe, to whatever discipline they belonged- Chemistry, Physics, Mathematics or Astronomy-apart from their final presentation of results being well-argued and logically set out, even their pre-final writings and drafts have often been preserved. This feature of Occidental documentation enables one to understand the rationale of the derivation of the individual results, step by step, besides getting an insight into the mental make-up of these scientists.

On the other hand, the *sūtra* or aphorismistic style of writing which was developed in India required an author to depict his final results in the form of formulae, leaving out descriptions and the details of the derivation of these results. This convention had the effect of elbowing out the depiction of the derivation and the explanation of the rationale of the final results. These aphorisms took the form of short and pithy phrases, sentences or hemistiches, sometimes bereft of even the subject and the predicate, which had to be supplied from the context or from the preceding aphorisms. Even single-word aphorisms are known.

Later commentators endeavoured rather to explain the aphorisms and their application, but not to look back and set out the data that should have been before the original author, when he wrote the work, or visualise his mental working and deduce how his end results were obtained. Thus, a commentator explaining a short prescription from a medical text would not go into the question of the numerous experiments and trials which the original author would have performed before he finalised the prescription. Similarly, the commentry of a

basic text on sculpture would rather explain the adaptability of the stone prescribed rather than describe original author's experimentation on different varieties of stones and the reason for his choice of the particular stone.

The reconstruction of the evolution of science in India being beyond the scope of the present article, I shall concern myself only to the mention of some of the highlights of Indian achievements in the scientific field.[37] To a modern scientist, some of these might seem common-place but they have to be viewed in their historical perspective and their significance evaluated in relation to contemporary civilizations in other lands. In passing, it might be observed that in the mutual exchange of ideas amongst ancient civilizations Indian knowledge spread to the east through China and Japan and to the West through the Greeks and the Saracens.

ARITHMETIC

1. **Decimal notation :** A reference was made earlier to the Vedic use of numbers to the value of 10^{12}. In later times, in Jaina and Buddhist literatures is found terminology to express numbers as large as 10^{29} and 10^{53}, respectively, while Greek and Roman terminology did not go beyond 10^{44}.[38]

2. **Fractions :** While *aṁśa* and *bhāga* designated the numerator and the denominator of fraction, certain fractions had also specific terms, *ardha* (1/2) and *tripāda* (3/4) in the *Ṛgveda* and *pāda* (1/4), *śapha* (1/8), *kuṣṭha* (1/12) and *kalā* (1/16) in the *Maitrāyaṇī Saṁhitā*[39].

3. Surds and Irrational numbers : Values have been given for /2, /3 etc. to high degree of approximation in Vedic mathematics.[40]

ALGEBRA

As the main contributions might be mentioned :

1. The idea of absolutely negative quantity.[41]

2. Exposition of the complete solution of the quadratic equation.[42]

3. Rules for permutations and combinations, found in Jaina literature (4 to cent. B.C.), developed by *Piṅgala* (3rd cent. B.C.) for metrical purposes and extended to the binomial theorem $(a+)^x$ by Halāyudha (11th cent. A.D.).

4. Interminate equations of the first and the second degrees[43]

37. For details see *A Concise History of Science in India* by D. M. Bose etc., Indian National Science Academy, New Delhi, 1971; *Hindu Achievements in Exact Science* by B. K. Sarkar, Longmans, 1918, (Sarkar).
38. Bose, pp.140-141, 158-59.
39. *Ibid.* pp.143-44.
40. *Ibid.* pp. 153-56.
41. Bose, Sarkar, pp.14-15.
42. Brahmagupta, A.D. 598-660.
43. Āryabhaṭa, A.D. 476, Brahmagupta.

anticipating Bachet de Meziriao (1624 A.D.) and Euler (1797-83), respectively, who discovered these methods in the West, a thousand years later.

5. Operations with zero : Used from very early times, its operations having been systematically given by Brahmagupta ?

$a-a+O;\ a+O=a;\ O\pm a=\pm a;\ O\times(\pm a)=O;$

$O\times O=O;\ \frac{O=O}{a};\ \frac{\pm a}{a}=$kha-cheda $(\pm\alpha)$

GEOMETRY

1. **Pythagoras theorem :** The Āpastamba and Baudhāyana *Śulbassūtra-s*, which specify a square equal to the sum of two different squares, like $3^2+4^2=5^2$; $5^2+12^2=13^2$; $8^2+15^2=17^2$; $7^2+24^2=25^2$; $12^2+25^2=37^2$ etc. obviously anticipate Pythagoras.[44]

2. Several propositions relating to triangles, quadrilaterals, cycles and pyramids.[45]

3. **Value of π :** While an accurate approximation to which is the relation of the circumference of a circle to its radius, was given in Europe first by Purbach (1423-61), *Āryabhaṭa* (498) gave its value as 62832 / 20000. Nīlakaṇṭha Somayājī, astronomer of Kerala (b.1444) declared categorically its irrationality. Mādhava (1350-1430) anticipated the power series for π which was enunciated much later by Leibnitz in 1671 A.D., Mādhava enunciated also several other series for the derivation of π. He also derived a value correct to eleven decimal places, viz., 3.14159265359, which accords closely with its modern value, 3.14159265.[46]

4. **Some other anticipations :** Among other anticipations of modern algebra by Kerala mathematicians (c.800-1500) are : Interpolation formula of Newton-Gauss (c.1700); Series for sine and cosine functions by Brook Taylor (1685-1731); Power Series for the sine and cosine by Newton (1642-1727); Infinite G. P. convergent series; Formula for circumradius of a cycle quadrilateral by Dhuiler (1782); and Series for the inverse tangent by Gregory and Leibnitz, enunciated in 1671.[47]

TRIGONOMETRY

1. Table of sines : While the Greeks effected trigonometrical calculation by means of a 'Table of chords', Indian mathematicians worked with a 'Table of sines', computing them by means of the second differences, a method which was first practised in modern times by Briggs (1556-1631).

---

44. Bose, pp.147-49.
45. Sarkar, pp.16-19.
46. K. V. Sarma, Hist. of the Kerala School of Hindu Astronomy, Hoshiarpur, 1972, pp.22-26.
47. Ibid. p.p. 14-22.

Āryabhṭa (498) enunciates two methods for this.[48] Madhava (1350-1430) has derived the sines correct to their fifths, the value of the radian derived by him being 3437'-4"-48""-22"', which is remarkably close to its modern approximation, viz., 3437.746770 - 3437-44"-44"-48"'-22.49".[49]

COORDINATE GEOMETRY

Anticipation by Vācaspati (A.D. 850), the logician, of the basic principle of coordinates or solid geometry, eight centuries before Descartes (1596-1650).50

DIFFERENTAL CALCULUS

1. Anticipation of Bhāskara (b. A.D. 1114) of the principles of differential calculus. (Vs. Newton, 1642-1727).
2. Its application to astronomical problems by computing the instantaneous motion of a planet by comparing its successive positions and regarding its motion as constant during the interval.[51]

KINETICS

Approaching, thought not anticipating, the following :

1. Gravity, (Āryabhata; Brahmagupta and Bhāskara).
2. Acceleration, by Uddyotakara, the logician.
3. Newton's first law of motion, by Śambhu Miśra, the logician.
4. Accelerated motion of falling bodies, by Praśastpāda, the logician.[52]

ASTRONOMY

1. Lunar Zodiac and the 27 asterism division of the heavens, mentioned in the Vedas.
2. Rotation of the earth, by Āryabhaṭa.
3. Correct cause of the eclipses.
4. Epicycles (different from the Greek conceptions).

---

48. *Āryabhaṭīya.* 2.11-12. It has been shown that these are independent of any Greek influence, as has been alleged by some scholars. See Bina Chaterjee, The *Khaṇḍakhādyaka of Brahmagupta*, Calcutta, 1970, Vel. I, App. VI. Greek table of chrods and Indian table of sines, pp. 176-214.
49. See K. V. Sarma, ibid, p.26; *Yuktibhāṣa*, in Malayalam, by Jyeṣṭhadeva, c.1500, Mangalodayam, Trichur, 1949, pp.143 98.
50. Sarkar, pp.21-22.
51. *Ibid.* pp.23-24.
52. *Ibid.* pp.25-27.

PHYSICS

Many significant views were held.[53]

1. **Heat**
   a. Heat and light were different forms of the same substance (Kaṇāda).
   b. Heat and light rays consisted of minute particles emitted rectilinially by substances.[54]
   c. Explanation of rarefaction in evaporation and the phenomenon of ebullition, by Śaṅkara Miśra.

2. **Optics**
   a. Explanation of translucency, opacity, shadows etc., by Uddyotakara.
   b. Demonstration of Phenomena through lenses and mirrors.

3. **Acoustics**
   a. Air as the medium of propagation of sound (Śabarasvāmi).
   b. Wave motion, transverse according to Praśastapāda and longitudinal according to Sabarasvāmi and Uddyotakara.
   c. Echoes, analysed by Vijñānabhikṣu.
   d. Sounds distinguished according to their tones and overtones, valume and quality by Vātsyāyana, Uddyotakara and Vācaspati.
   e. Musical notes and intervals analysed and mathematically calculated by Śārṅgadhara (A.D. 1210-47) etc.

4. **Magnetism**

   Mariner's compass, called *Matsya-Yantra* 'fish device', used in Indian ships sailed out to colonise the East Indi-es in the early centuries of the Christian era.

METALLURGY AND THE CHEMICAL ARTS

1. Knowledge of several metals during the Vedic age, as attested by *Yajurveda,* Vs, 18.13, which mentions the metals *hiraṇya* (gold), *ayas* (bronze), *śyāma* (iron), *loha* (copper), *sīsā* (lead) and *trapu* (tin).
2. Tempering of steel, mercurial operations, preparation of fast dyes, horticultural mixtures and infusions.[55]

---

53. Ibid, pp. 32-38.
54. Vācaspati, A.D. 8.0.
55. Sarkar, pp. 44-46.
56. Bose, pp. 219-20; V. W. Karambelkar, *The Atharvaveda and the Āyurveda,* Nagpur, 1961.

MEDICINE

1. A large number of diseases and their cures mentioned in the Vedic texts, especially the *Atharvaveda.*[56]
2. Hospitals and dispensaries from the 3rd cent. B.C.
3. Internal use of mercury (1st cent. B.C.) which, in Europe, was started in the 15th cent. A.D.
4. Metallic preparations for internal use, a practice which was recognised in Europe only from the 16th cent.[57]

SURGERY

1. **Vedic references :** Surgery for complications in delivery, incisions for boils and swellings, treatment of fractures, use of a reed as catheter to relieve painful or blocked urination, surgical removal of an injured eyeball and replacement of a leg amputated in battle, are mentioned in the *Atharvaveda* and the *Ṛgveda.*[58]
2. Eight aspects of surgery are mentioned in the *Suśruta Saṁhitā* (3-4 cent. B.C.) viz., incision (*chedana*), excision (*bhedana*), sacrification (*lekhana*), puncturing (*vedhana*), exploration *(eṣaṇa),* extraction (*āharaṇa*), evacuation (*visrāvaṇa*) and suturing (*sīvana*).[59]
3. 127 surgical instruments have been described in the *Suśruta Samhitā*[60].

ANATOMY AND PHYSIOLOGY

1. **Human anatomy** : *Atharvaveda* (3000 B.C.) which contains, perhaps, the most ancient depiction of the medical sciences, names as many as 130 parts of the body.[61]
2. **Osteology** : The first correct description of the osseus system was given in Europe by Vesalius in 1543. In India, the *Atharvaveda* (10.2) while giving the details of the human skeleton, names all the important bones of the body, numbering over the 100. Caraka counted 360 bones (inclusive of the teeth and the nails) and Suśruta, 300, both including under bones the modern 'processes' and the 'protruberances'.[62]
3. **Digestion** : The function of the acidic gastric juice and of the digestive juice in the small intestines and of the conversion of the semi-digested

---

57. Sarkar, pp. 47-52.
58. Bose, pp.219.
59. *Ibid.* p.581.
60. Bose, p. 581; Sarkar, pp.53-55; G.N. Mukhopādhyāya, *Surgical Instruments of the Hindus*, 2, vols., Calcutta, 1913-14.
61. For a documented and comparative list see, V. W. Karambelkar, *The Atharvaveda and the Āyurveda*, Nagpur, 1961; pp.292-98.
62. Sarkar, pp.57-58; V. W. Karambelkar *ibid.*, pp. 79-87.

food (chyme) into chyle and of that into blood had been duly recognised. The chemical changes were explained as due to metabolic heat.[63]

4. **Circulation of blood** : In modern medicine, till Harvey's epoch-making discovery (1628), "the movement of blood was believed to be confined to the veins, and was thought to be a to-and-from movement" (Halliburton). The Hindus, however, had conceived the idea of a *cakra* or circulatory process. They knew that the heart received the chyle-essence, *i.e.*, the venous blood, sent it down to the liver, where it was transformed into red blood and got it back as red blood from the liver. They also distinguished between the two types of blood vessels, the *śirā* or veins and *dhamanī* or artery.[64]

EMBRYOLOGY

Certain precise observations had been made about impregnation and development of the foetus, some of which are of great approximations to modern, demonstrated truths. Certain theories about sex-determination, germinal continuity etc.[65]

The *Garbhopaniṣad* of the Atharvan school mentions among other things, the month-by-month development of the foetus in the mother's womb.[66]

VETERINARY SCIENCE

Identification and description of diseases and prescription of cures of animals, especially the horse, as given in the *Śālihotra-samuccaya*, *Aśvavaidaka* by Jayadatta Sūri and *Aśvaśāstra* by Nakula; and of elephants, as given in the *Hastyāyurveda* of *Pālakāpya*, and *Mātangalīlā* of *Nīlakaṇṭha* are highly instructive. The medical work *Yogasudhānidhi* by Vandimiśra contains a chapter on the conception, obstetrics and special diseases of female animals.[67]

HORTICULTURE

Recipes have been specified for creating new species of plants with the desired colour and smell for their flowers, and special properties for their fruits, anticipating modern applied biology by more than a thousand years. Recipes and methods for the propagation and increased productivity of different classes of plants, including those which grow out of seeds *(bījaruha)*, from roots *(mūlaja)*, from cuttings *(skandhaja)*, by grafting *(skandhāropaṇīya)*, from apices *(agrajīva)* and from leaves *(parṇayoni)*, prescribed in the

63. Sarkar, pp. 57-58 ; Bose, pp. 241-42.
64. *Ibid*, pp.58-59 ; Bose, pp. 241-42.
65. *Ibid*, pp.61-65 ; Bose, pp. 239-39.
66. Ed. V. W. Karambelkar as App. C to his book *The Atharvaveda and the Āyurveda, Nagpur*, 1961, pp.105-8, 163-65.
67. Bose, pp. 254-56.

Arthaśāstrā of Kautalya, *Agnipurāṇā*, *Brhatsaṁhitā* of Varāhamihira and *Upavanavinoda* of Śārṅgadhara are also highly instructive.[68]

CONCLUSION

I might conclude with an observation by B. K. Sarkar who has made a special study of Indian investigations into the physical sciences. He says: "Considerable power of observation was exhibited, as well as remarkable precision in description, and suggestiveness in expression. Their nature study was oriented to the practical needs of socio-economic life. It was minute and comprehensive, and, so far as it went, avoided the fallacies of mal-observation and non-observation. Whatever be the value of the results achieved, the investigation was carried on in a genuine scientific spirit."[69]

---

68. *Ibid.*, pp.256-57.
69. B. K. Sarkar. *Hindu Achievements in Exact Science*, p.67.

II

TRADITION OF LEARNING IN ANCIENT AND MEDIEVAL INDIA

INTRODUCTORY

India has inherited a hoary tradition of learning, both oral and written. This tradition can be traced back at least to five thousand years, when the Vedic hymns began to be composed by 3000 B.C., if not earlier. It is also significant that this age-old Vedic learning has survived the ravages of time and the onslaughts of vicissitudes, and its oral tradition has come down intact at least in small pockets of Bihar, Tamilnadu and Kerala, if not throughout the land, as it did in ancient days. For a proper understanding of this oral and written tradition, it is necessary to have an idea of the vastness of this learning.

Vedic literature, preserved even today, orally, with exact accentual intonation, has been acknowledged as the most extensive of all ancient literatures of the world. The Vedic hymns, which, as mentioned earlier, began to be composed by about 3000 B.C., later came to be classified from different considerations such as author, subject and deity, and arranged into four main collections called, respectively, the *Ṛgveda*, being the 'Book of devotional verses', the *Yajurveda*, being the 'Book of sacrificial and prose-formulae', the *Sāmaveda*, being the 'Book of psalms', and the *Atharvaveda*, being the 'Book of mystico-therapeutic priest-craft', each of these having different versions of its own.[1] In order to interpret and supplement the Vedic hymns, mainly from the ritualistic point of view, there arose an extensive branch of expository literature called Brāhmaṇas and Āraṇyakas, even Veda giving rise to several texts of this type. The esoteric content of the Vedic hymns was carried forward by a large number of texts called Upaniṣads attached to the different Vedas, expostulating the mystic symbolism, imaginative allegory, colourful poetry and contemporary philosophy of the Vedic sages. Still another mass of literature called *Vedāṅgas*, 'the auxiliaries of the Vedas', developed alongside as aids for the systematization of the Vedic texts and as interpretative manual for the ritualistic use of the Vedic hymns. Four of the six auxilaries, called, respectively, *Śikṣā* (Phonetics), *Vyākaraṇa* (Grammar), *Nirukta* (Etymology) and *Chandas* (Metrics) aimed at the systematic preservation and correct understanding of the

---

1. It is recorded that the *Ṛgveda* has 21 recensions, the *Yajurveda* 101 recensions; the *Sāmaveda* 13 recensions and the *Atharvaveda* 9 recensions.

Vedic text, while the other two, *Jyotiṣa* (Astronomy) and *Kalpa* (Ritual) concerned themselves with the practical application of the sacred hymns. The last, again, comprised three types of texts, *Śrauta* relating to public ritual, *Gṛhya* relating to household ritual and *Dharma* relating to civil life. Most of these basic texts gave rise, in course of time, also to extensive commentarial literature.

THE PHILOSOPHIES AND GRAMMAR

In the wake of the afore-said proliferation of Vedic literature arose the six schools of Vedic philosophy, as systematised by six sages, being *Nyāya* (Logic) by Gautama, *Vaiśeṣika* (Differentiation) by Kaṇāda, *Sāṅkhya* (Knowledge) by Kapila, *Yoga* (Concentration) by Patañjali, *Mimāmsā* (Inquiry) by Jaimini and *Vedānta* (Vedic import) by Bādarāyana. Some of those schools, especially Vedānta, Nyāya and *Mīmāṁsā*, developed sub-schools and all the basic texts came to be annotated, expounded and redacted *ad nauseum*, resulting in a profusion of literature. Equally voluminous is the literature on grammar, which had developed several distinct schools of exposition.

THE EPICS AND THE PURĀṆAS

The *Rāmāyaṇa* of sage Vālmīki and the *Mahābhārata* of sage Vyāsa form the most popular national epics of India. The former in 24,000 verses, narrates the story of king Rāma of Ayodhya and his victory over Rāvaṇa, king of Laṅkā, and the latter, in 1,00,000 verses depicts the vicissitudes in the fortunes of the royal cousin brothers, the Pāṇḍavas and the Kauravas. Both the epics reinforce the victory of good over evil. Then there are the Purāṇas or 'Accounts of yore', eighteen major and eighteen minor, the total extent of which would be about 6,00,000 verses. Of similar nature are the *Māhātmya-s*, being the large number of sages of rites of religious importance studied all over the Indian sub-continent.

ĀGAMA, TANTRA, MANTRA

As religious creeds and practices proliferated, a distinct type of literature arose to cater to the needs of the adherants of these creeds. With regards to Hinduism, these works fell into three classes, *Śaiva*, *Śākta* and *Vaiṣṇava*, pertaining, respectively, to the devotees of Śiva, Śakti (Mother Goddess) and Viṣṇu. These works were termed *Āgama* indicating their long tradition, and Tantra pointing to their practical aspect. Since these texts related to worship, they abounded in *Mantra-s* (cult formulae) and their application. The vast literature that grew up in this discipline pertained not only to Hinduism, but to Buddhism and Jainism, as well.

THE BELLES LETTERS

The prolificity in the fields of poetry, prose and drama was phenomenal. The number of works composed in these fields runs not to hundreds but to

thousands. The commentarial literature produced on the works of the masters of Sanskrit *belles lettres* like Kālidāsa, Bhāsa, Bhavabhūti, Harṣa, Māgha, Śūdraka and others is also impressive. Kālidāsa's long poem *Raghuvaṁśa*, has, for instance, not less than 50 commentaries written on it. Hymnal literature produced by the followers not only of Hinduism but also Buddhism and Jainism was also extensive. Perhaps, more interesting than these are works on rhetoric which analysed the *belles letters* in great detail and expostulated the emotional contents thereof.

ARTS AND SCIENCES

The disciplines of fine arts and technical sciences, though confined to a limited circle, so far as their study was concerned, flourished enormously on account of their utilitarian value. Indeed, the analytic bent of the Indian mind had much to do with the documentation to finesse and the production of a fund to literature on these subjects. While Music, oral and instrumental, and the visual arts like dance and drama had standard works written on their theory and practice, such subjects as chess, painting, hunting, hawking, wrestling etc., too had tracts composed on them. The different sciences including astronomy and Mathematics, Medicine and Alchemy, have all substantial astronomy works written on them, but those on Medicines are by far the largest and the longest.

AN ESTIMATE OF SANSKRIT LITERATURE

It is difficult to form any proper estimate of the extent of literature produced in ancient and mediaeval India. It has been possible to identify about eleven lakhs of Indian manuscripts which have survived ravages of time and climate, and according to one estimate the said eleven lakhs of manuscripts carry from forty to fifty thousand works.

HANDING DOWN OF ANCIENT LORE

It should be instructive to inquire into the Indian attitude towards handing down their vast and varied literary tradition, especially in the early days. The well known Vedic anciliary text *Nirukta* has the following on this matter :

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय मे शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय, न मे ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ।।
यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं, मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह, तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ।।[2]

---

2. *Nirukta*, 2.5.

To translate : "The Goddess of Learning approached the wise man and entreated : "Preserve me. I am your trust. Do not pass me on to the envious, the crooked and the nonindustrious, lest I might grow weak. On the other hand, pass me on to one who is pure, modest, intelligent, intent on learning, one who will not injure me but will preserve me as a treasure"[3].

EDUCATIONAL INSTITUTIONS

Naturally enough, instruction was oral, in the beginning. The efficacy of personal instruction is stressed even in the Vedic hymns,[4] and the Brāhmaṇic and Upanisadic literature abounds in references to direct teacher-pupil relationship. The practices are found codified in later law books of the Hindus, and Jain tracts. In that era which was rife with philosophical and religious speculations, a process of educational evolution was at work, and there emerged different types of institutions through which learning was handed down. These systems were conditioned also by the social and religious life of the followers of the three main religions of ancient India, viz., Hinduism, Buddhism and Jainism.

GURUKULA SYSTEM OF EDUCATION

The most important and popular system that developed in the Hindu fold was the Gurukula system under which young boys, just after their religious initiation, called *upanayana*, were sent to reside and study at the residence of a learned teacher who was a householder. In spite of the fact that writing had been known right from the Vedic days,[5] oral instruction in Vedic texts was insisted upon on account of the accented utterance of the Veda which required direct instruction by word of mouth. Moreover, it was felt that symbolic and esoteric

---

3. For a parallel, see *Manusmṛti* :
विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीरवत्तमा।।
यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने। *Manusmṛti*, 2.114-15.

4. Cf.
अक्षेत्रवित् क्षेत्रविदं ह्यप्राट् स प्रैति क्षेत्रविदानुशिष्टः।
एतद्वै भद्रमनुशासनस्योऽत स्रुतिं विन्दत्यञ्जसीनाम्।
"One ignorant of a place, asked one who knew; and instructed by one who knows, one reaches the destination". *Ṛgveda* 10.327.

5. The knowledge of writing is attested in such Vedic passages, with the use of the word *likh* :
dya- m ma- lekhi-h, '(Oh falling tree !) do not write on the sky.' *Vājasaneyi Samhitā*, 5.43.
ka eśām karkarīmlikhat, referring to the horse scratching (writing) on the earth. *Atharvaveda*, 20.132.7-9; *Ṛgveda*, Khila, 5.15-17.
nāvasṭabdho adhīyīta....nollikhya, nāvalikhya, '(The pupil) should not learn learning backward,......not after writing, nor after obliterating the *writing.*' *Āraṇyaka*, 5.3.3. See also *ajaiṣam tvā saṁlikhitam ajaiṣam uta saṁrudham. Atharvaveda*, 7.50.5.

ideas could be explained properly only by direct instruction. In fact, the need for a teacher is emphasized at several places in the Upaniṣads.[6] The period of studentship was normally twelve years for the learning of texts relating to one Veda, such further terms being required for the study of the other Vedas.[7] Alongside prosecuting their studies, students were required to attend also to duties at the household of their teachers, which engendered their moral and spiritual discipline. The Upaniṣads are replete with instances of the pre-requisites in students before they were imparted the highest philosophical knowledge, viz., that of *Brahman*. The *Gopatha-Brāhmaṇa*[8] enjoins that a student should overcome caste-pride, fame, sleep, anger, bragging and foppishness. He is also required to be calm and unperturbed in mind, self-restrained, self-denying, patient and collected.[9] The *Āpastamba Dharmasūtra* enjoins that a student should never think ill of his teacher, for the teacher gives him a new birth through knowledge, which is the highest birth, while the father and mother give him only the physical birth.[10] Stipulations are made also for the teacher. He must, with as much solicitude as he would display towards a son, impart learning to the student, with utmost attention and without keeping back anything in knowledge. Except under unavoidable circumstances, he must not engage his pupil in his domestic work lest it might interfere with his studies.[11] On this subject, the *Mahābhārata*[12] has an instructive statement, which says that a teacher should instruct in sweet and clear terms and as lovingly as a father to a son.[13] The student is instructed not to stop with listening to lectures, but to think over them continuously and assimilate the ideas permanently.[14] The migration of students from one teacher to another, towards reinforcing one's knowledge or to receive instruction in a different discipline was also in vogue.[15]

---

6. *Cf., Ācāryavān puruṣo veda,* 'One who has taken a teacher knows' *Chāndogya Upa.*, 6.14.1-2. See also *Kaṭha Upa.*, 2.8; *Muṇḍaka* Upa., 1.2.12.
7. See *Gopatha Brāhmṇa*, 2.5, *Manusmṛti*, 3.1.
8. 2.1.2.1-9
9. The Dharmasūtras and Smṛtis also give codes of conduct for student. See, e.g., *Apastamba Dharmasūtra*, 1.3.17-24.
10. The teacher is exalted and equated with the trinity of gods. Cf. the popular verse :
    गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
    गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।
11. *Ap. Dh. Sutra*, 1.7.25-28.
12. *Ādi.*, 14.2.
13. मधुरं कथ्यते सौम्य श्लक्ष्णाक्षरपदं यथा ।
    प्रीयामहे भृशं तात पितेवेदं प्रभाषते ।।
14. The graded superiority of the three processes is stated in the verse :
    श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि ।
    निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ।। (*Vivekacūḍāmṇi* of Śaṅkarācārya, verse 265)
15. The *Bhāgavata Purāṇa* states :
    न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम् ।

SELECTION OF STUDENTS

It is interesting to note that teachers tested the students before accepting them as their disciples. The Upaniṣads record several instances of such questioning of prospective students.[16] *Viṣṇu Dharmasūtra*[17] enjoins the selection of students only after proper examination and the *Hārita Smṛti* recommends the rejection of the underserving.

METHOD OF INSTRUCTION

So far as philosophical matters were concerned teaching was conducted by the catechetical method, the pupil asking questions and the teacher expounding at length on the topics before them. The Upaniṣads, for instance, *Kaṭha*, *Praśna*, *Muṇḍaka*, *Chāndogya* and *Bṛhadāraṇyaka*, provide numerous instances of the teaching of this type. Philosophical ideas were often reinforced through parallels in practical life. See, for instance, how sage Uddālaka Āruṇi illustrates to his disciple-son Śvetaketu the nature of the subtle source of life, the Soul of everything :

The teacher instructs :"Bring here with fruit of the *Nyagrodha* tree". The student replies : "Here it is, Sir". "Open it". "It has been opened, Sir,". "What do you see?" "Sir, I see seeds as small as atoms." "Split one of the seeds". "One is split, Sir". "What do you see inside ?" "Nothing, Sir". "My dear", the teacher said, "from that minute source which you cannot see, this huge *nyagrodha* tree rises. Understand this, my dear."[18]

To take another example : The teacher directed : "Drop this salt into water and come tomorrow morning." The pupil obeyed. The teacher said, "Bring the salt that you put in overnight." The pupil looked for it and did not know where it had gone. The teacher said, "Oh ! It has dissolved. Sip it at the top. How does it taste ?" "It is saltish". "Sip it in the middle. How does it taste ?" "Saltish". "Throw it away and come to me". Śvetaketu obeyed saying that the salt remains intact as ever. To him, the teacher said, "Here, in your body, my dear, you do not see the existence of the True Being *(Sat)*, but all the same it is here".[19]

Scholarly debates, small and big, used to be held at different centres of education, which were attended by students with a view to improve their learning and attain fame. Large Congresses of scholars were held under royal auspices at the time of sacrifices. One such Congress, described in detail in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*[20] and referred to also in the Śatapatha

---

16. See, for instance, *Chāndogya Upa.*, 4.4., 8.7.3; *Kaṭhopaniṣad* 1.1.
17. 29.3.4.
18. *Chāndogya Upa.*, 6.12.
19. *Ibid.*, 6.13.1-2.

Brāhmaṇa and *Vāyu Purāṇa*[21] was convened by King Janaka of Videha. Among the several sages who attended the said Congress with their disciples was *Yājñavalkya*, who it is said, bagged all the prizes defeating, in dispute, the other scholars assembled.

TEACHER'S FEES

Teaching was a sacred and teachers were enjoined not to have any mercenary consideration. Stipulation of fees as a condition for teaching was condemned, but the offer of fees by a guardian according to one's mite was admissible. Students who took it as a duty to pay *guru-dakṣiṇā*, collected it from royal and other patrons who always obliged. Indeed it was considered below one's dignity to refuse a student's request for his teacher's fees.[22]

SITUATION OF THE HERMITAGES

The hermitages of the teachers were generally situated in forests, villages or banks of sacred rivers and lakes. The *Rāmāyaṇa*, the *Mahābhārata* and the Purāṇas contain numerous descriptions of such hermitages. Some of the poems and dramas like the *Raghuvaṁśa* and *Abhijñāna-Śākuntala* of Kālidāsa, the dramas of Bhāsa, the *Uttararamacarita* of Bhavabhūti and *Mudrārākṣasa* of Viśākhadatta also contain details of these. Set in sylvan surroundings, amidst abundant nature, these hermitages served as ideal centres of study in the early days. Later, however, in order to supplement the hermitages, which could accommodate only a small number of students, educational colleges, religious *maṭha-s*, Buddhist *Vihāra-s* and Jaina *upāśraya-s*, which could entertain a large number of students, arose to cater to the needs of the times. Some of the more important centres are noticed later.

SUBJECTS OF STUDY

During the early Vedic age, the primary concern should have been the study of Vedic hymns, tending to their further enrichment. When they had been establised and collected into the four main *Saṁhitā-s* viz., *Ṛgveda*, *Yajurveda*, *Sāmaveda* and the *Atharvaveda* and their several recensions, stress should have centred on them and their contents. There is a reference in the *Atharvaveda* to the effect that education included besides the four Vedas,

---

20. *Chs.* : 3.4.
21. 60.33 ff.
22. Cf. the very characteristic observation of King Raghu, occuring in Kālidasaś *Raghuvaṁśa* (5.24), to a student Kautsa, who approached him for his teacher's fees :
गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत् परीवादनवावतारः।।
"May not the new infamy fall upon me to the effect that a Vedic scholar approached Raghu for his teacher's fee and, not able to get his need fulfilled, had to resort to another donor.'

textual instruction *(anuśāsana)*, study of these *(vidyā)*, ancient dialogues *(vakovākya)*, history *(itihāsa)*, ancient narratives (Purāṇa), legends in verse *(gāthā)* and eulogies of royal personages *(nārāśaṃsī)*.[23]

During the age of the Brāhmaṇa texts and Upaniṣads, respectively, ritualistic studies and philosophical speculations also went into the curriculum, besides the six auxiliaries of the Veda. The 'fourteen disciplines of knowledge' *(Caturdaśa-vidyā)* which formed the curriculum in later times consisted of : (1-4) tha four Vedas, (5-10) the six *Vedāṅga-s*, (11) Sacred and secular law *(Dharma)*, (12) Epics and legends *(Purāṇa)*, (13) Science of ritualistic and philosophical exegesis *(Mīmāṁsā)* and (14) Logic *(Nyāya)*[24]. To these were added the four Secondary Vedas *(Upaveda-s)*, viz., the sciences of medicine *(Āyurveda)*, Weaponry *(Dhanurveda)*, music *(Gāndharvaveda)* and politics and economics *(Arthaśāstra)*.

During the classical period the study of the different systems of philosophy in their full-fledged scholastic pattern took shape. The study of eighteen vocational arts also became popular. They are : (1) Vocal music, (2) Instrumental music, (3) Dancing, (4) Painting, (5) Mathematics, (6) Accountancy, (7) Engineering, (8) Sculpture, (9) Agriculture, (10) Cattle-breeding, (11) Commerce, (12) Medicine, (13) Conveyancing and Law, (14) Administrative training, (15) Military Art, (16) Magic, (17) Poison cure, and (18) Location of Hidden treasures. The sixty-four arts *(Catuṣṣaṣṭi-kalā)* enjoined for general education includes several highly interesting arts and crafts. Some of these are of a professional nature while the others are purely personal attainments. They include, among other things, cookery, female, toilette, dress and ornamentation, architecture, sculpture, carpentry, physical training, in-door and outdoor sports, magic, literary skills etc., which tend to make private and social life the more rich and full.[25]

---

23. See :
तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्।
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्।। *(Atharvaveda, 15.6.8,11)*
Ṛgveda, *Samaveda, Yajurveda* and *Atharvaveda* followed him......'*Itihasa, Purāṇa*, *Gāthas*, and *Nārāśaṃśis* followed him'.
एवं विद्वान् अनुशासनानि, विद्या, वाकोवाक्यम् इतिहासपुराणम्, गाथाः, नाराशंसीः इत्यहरहः स्वाध्यायम्।
(Śatapatha Brāhmaṇa , 11.5.6.8).
24. पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
बेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य चचतुर्दश।। *(Yājñavalkya--Smṛti)*
25. The sixty-four arts enumerated in *Vātsyāyanas Kāmasūtra* (1.3.16), are :
    1. Vocal music.
    2. Instrumental music.
    3. Dancing.
    4. Painting.
    5. Putting of ornamental marks on the forehead.
    6. Designs with grains and flowers.
    7. Flower-laying.
    8. Beautification of teeth, dress etc.

CONVOCATION ADDRESS

At the completion of their studies, the teacher was required to indicate to them as to what was right and what was wrong, what to do and what not to do, and exhort them on the correct way of conduct in life, as is done in University Convocation address to-day. The *Taittirīya Upaniṣad*[26] contains an instructive version of a Vedic Convocation address. The Upaniṣad says:

When the Vedic study is over, the teacher should exhort the student in the following manner : "Speak the truth. Do your duty. Neglect not your daily studies. After having brought to your teacher his due reward, (enter into family life and) do not snap the continuity of your family line. Do not swerve from truth. Do not neglect your welfare. Do not neglect your prosperity. Do not neglect your duties of learning and teaching."

---

9. Decoration of the dais etc.
10. Preparation of beds.
11. Drumming on water.
12. Playful splashing of water.
13. Harmful medical concoctions.
14. Preparation of garlands.
15. Ornamentation of the plait of hair.
16. Personal ornamentation.
17. Ornamental ear-rings.
18. Mixing of sweet unguents.
19. Adornment with ornaments.
20. Magic.
21. Beneficial medical unguents.
22. Sleight of hand.
23. Special preparation of food and drink.
24. Mixing of drinks.
25. Tailoring.
26. Conjuring with strings.
27. Playing on *Vīṇā*, *ḍamarū* etc.
28. Literary riddles.
29. Cipher language based on specific letters from verses.
30. Composing expressions with syllables difficult to utter.
31. Reading and recitation of texts.
32. Appreciation of drama.
33. Completion of missing words in verses.
34. Caning of chairs etc.
35. Carving.
36. Carpentary.
37. Construction of houses.
38. Examination of gold and silver ornaments and gems.
39. Minerology and metallurgy.
40. Colourations of gems and knowledge of mines.
41. Horticultural preparations.
42. Goat, cock and quail fights.
43. Understanding the utterance of birds like the parrot and the *sārikā*.
44. Massaging with the feet and hands and applying oil to the hair.
45. Cipher language with concealed syllables.
46. Cipher languages.
47. Knowledge of foreign tongues.

"Do not neglect your duties towards the gods and the manes. Adore your mother and father as gods. Adore also your teacher and the guest as gods. Engage yourself in such actions as are blameless, not others. Cherish our good actions, not the others. Honour with seat those teachers who are superior to us. Give with faith. Do not give without faith. Give in plenty. Give with modesty, with fear, with due regard."

"Then, if you still have a doubt about duty or conduct, conduct yourself like those *brāhmaṇa-s* who are just, are devoted to their duties, are not severe, and are righteous. As to things that are prohibited conduct yourself, again, like those *brāhmaṇa-s* as are just, are devoted to their duties, are not severe, and are righteous."

"This is the command. This the advice. This is the essential teaching of the Veda. This is the instruction. Thus should you observe. Thus should this be observed".[27]

Indeed, this is a sermon which is valid even today. Equally inspiring is the common resolve taken by teachers and the taught together:

saha nāvavatu, saha nau bhunaktu, saha vīryam karavāvahai, mā vidviṣāvahai.

'Let us eat together. Let us work together. Let us never hate each other'.

---

48. Method of showering of flowers.
49. Omenology.
50. Knowledge of mechanical contrivances.
51. Acute memorisation.
52. Imitative speech.
53. Resolving of puzzle verses.
54. Composing poetry.
55. Knowledge of lexicons and metres.
56. Poetics.
57. Deception and false poses.
58. Artistic covering with cloth.
59. Game of dice.
60. Chess.
61. Entertaining children.
62. Etiquette.
63. Weaponry.
64. Physical exercise.

26. 1.11.

27. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर स्वाध्यान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम् देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि नानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्माच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया अदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शनः, युक्ता, अयुक्ता, अलूक्षा, धर्मकामाः स्युः यथा ते तेषु वर्तेरन्, तथा तेषु वर्तेथाः।
एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत् एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।
(Taitt. Upa., 1.11)

BUDDHIST EDUCATIONAL SYSTEM

What has been set out above represents the trends, attitudes and state of the tradition of learning in ancient and mediaeval India, with special reference to Hinduism. The tradition of learning among Buddhists and Jainas was similar in essence, but differed in respect of instructional surroundings and the texts studied.

First hand information in all details on the education of the Buddhist monks and laity is available in the travelogues left by Chinese pilgrims who visited India and travelled from place to place, imbibing knowledge in Buddhist texts. Among those who have left long narratives of their experiences and descriptions of the country as they saw it are Fa-Hien, Hieun-Tsang and I-Tsing. Fa-hien came to India on literary mission towards the beginning of the 5th cent. A.D., stayed in the country for three years and travelled from Punjab to Bengal, visiting monasteries and educational centres. Hieun-Tsang arrived in India in 629 A.D. and went about the country for fifteen years. I-Tsing who set foot on the Indian soil in A.D. 672 travelled through the country, sojourning at centres of learning for nearly fifteen years.

Education of Buddhist monks and the laity was conducted in monasteries called *vihārās*, which were generally situated on the outskirts of cities, a system which was started by Lord Buddha himself. Each sect of Buddhism had its own monastery. Large numbers of monks lived in these monasteries where there had been facilities for instruction, boarding and meditation. There were, in the monasteries lecture halls, a library and a medical dispensary, larger halls had been provided for public discourses and disputations. The monasteries were maintained by rich merchants and the royalty. These monasteries studded the entire land. Fa-Hien gives the number of *Vihāra-s* as over a thousand, while Hieun-Tsang, who went about the country for fifteen years, gives the figure as over six thousand, with a student strength of over a lakh and a half.

JAINSTIC EDUCATION

During its early days, Jainism did not encourage settled abodes of teaching. Monks and novices accompanied their teachers from place to place, enriching their knowledge. According to Mahāvīra, the founder of Jainism, a teacher should impart knowledge to students as a bird would feed its young ones. And, the process of education consisted of five steps, to wit, reading, questioning, recapitulation, memorising and expression. Gradually, monasteries with residential schools, called *Caitya-s* and *Upāśraya-s*, came to be endowed by rich patrons. Condition of learning was parallel to that in the Buddhist monasteries, except, of course, in the matter of the texts studied.

SOME PROMINENT CENTRES OF LEARNING

It should be instructive, in this context, to notice the nature and conduct of certain model educational institutions in ancient India. First hand information is available on several such institutions in accounts left by foreign travellers, inscriptions and contemporary literature which form reliable sources for this appraisal.

While, during the earliest times, education was imparted only in the households of teachers to a small number of disciples at a time, during later ages the need arose and conditions favoured the establishment, at favourable places, of larger educational institutions, which, as a rule, were combined with religious institutions. Rulers and feudal chiefs were almost always patrons of letters, and attracted to their courts learned scholars and also provided for educational institutions in their capitals. Among such institutions might be mentioned those at Taxila, Pāṭaliputra, Kanauj, Mithilā, Dhārā and Anahilapaṭṭaṇa in northern India and at Malkahd, Kalyāṇi and Tanjore in southern India. Some of the Rulers founded settlements, which select scholars were invited to occupy. Such scholarly colonies, called *agrahāra-s*, naturally grew into centres of learning. Some of the famous Buddhist monasteries and Hindu temples also developed into centres of education. Then again, heads of religious orders, who were themselves mostly scholars, had attached to their religious seats eminent scholars and provided for extensive teaching of students at their Maṭha-s. Lastly, several scholars, out of religious sentiments, resorted to important places of pilgrimage, where local patrons established institutions for imparting the education. A number of institutions at Varanasi, Nasik, Kanchi and other sacred places owe their existence for this reason. Some of these institutions might be noticed below briefly.

TAXILĀ (TAKṢAŚILĀ)

Takṣaśilā, capital of the Gandhara country and situated about 30 km. west of Rawalpindi (in Pakistan), was one of the most ancient centres of learning in India. The city is said to have been founded by the *Rāmāyaṇa* hero Bharata and was named after his son Takṣa. Several Buddhist Jātakas refer to the renowned teachers of Takṣaśilā and their multitude of disciples. The *Sutasoma Jātaka* mentions 103 princes from different countries being trained by one of the teachers there. The *Jātakas* refer to princes and scholars from various centres flocking to Takṣaśilā to sit at the feet of teachers at this centre. It is also recorded that facilities were provided here for instruction in the four Vedas, grammar, philosophy and the eighteen *śilpa-s*, the last comprising professional courses like medicine, surgery, weaponry etc.[28]

---

28. For details see A. S. Altekar, *Education in Ancient India*, 5th edn., Varanasi, 1957.

NĀLANDĀ

Nālandā, situated at about 70 km. south-east of Patna was a renowned Buddhist University, highly patronised and richly endowed. Several Chinese pilgrims came and stayed here, and it is found described in the travel accounts of Fa-Hien, Hieun-Tsang and I-Tsing, its thirteen extensive buildings, in several storeys, housed about 1000 teachers and 10,000 students. Hieun-Tsang speaks of the numerous students from different places and about the toughness of the entrance examination there. The curriculum of studies was cosmopolitan in that even the Hindu scriptures were taught in this Buddhist University. The University housed a huge library, and I-Tsing says that he got copied from that library 400 Sanskrit works, running to 50,000 verses. He adds that the library quarter was known as *Dharma-gañja* 'Market of religion'. It was located in three splendid buildings, appropriately called *Ratnasāgara* 'Sea of gems', *Ratnodadhi* 'Ocean of gems' and *Ratnarañjaka* 'Pleasing hoard of gems'.[29]

VIKRAMAŚILĀ

The University of Vikramśilā, about 35 km. to the east of Bhagalpur in Bihar served as an international University for about four centuries since its foundation by King Dharmapāla (c. 775-800 A.D.) in the 8th cent. A.D. who built for it extensive buildings and endowed it liberally. It had a big library and about 3000 students studied here at a time, many of whom were from Tibet. Being an institution of higher learning, it had a council headed by chief abbot, with six great scholars called *dvāra-paṇdita-s* who tested the scholarship of candidates who came from different regions and entered the institution through its different gates. Grammar, logic, metaphysics, tantra and ritualism were the main subjects taught here. It is also interesting to note that certificates specifying scholarship were issued to students who passed out from this institution.[30]

VALABHĪ

The University of Valabhī situated near Wala, a port-town and the capital of the Moitraka kings of Kathiawar in Gujarat, is said by I-Tsing to rival the University of Nālanadā. The hundred monasteries here accommodated about six thousand students. Secular subjects were also taught here. It was thus not exclusively a Buddhist or monastic centre of learning. Besides royal patronage, it was financed liberally also by the merchant princes of the city.[31]

---

29. *Ibid.*, 116-25
30. *Ibid.*, pp. 127-30.
31. *Ibid.*, pp. 125-27

VĀRĀṆASĪ

Vārāṇasi or Kāśi, situated on the banks of the Ganges, where Lord Buddha gave his first sermon and 'started rolling the wheel of Law' *(Dharmacakrapravartana)*, was a regligious centre both for the Hindus and the Buddhists. Numerous scholars from different parts of the land resorted to it and started a large number of private institutions of learning. The monastery at Sarnath developed as a centre of Buddhist learning with 1500 monk-students on its rolls. During the late mediaeval period, a number of scholarly families from Maharashtra and Karnataka migrated to Vārāṇasi and this enhanced greatly the teaching potential of the city. Apart from its teaching activity, Vārāṇasi is justly famous for the numerous works composed by its scholars, especially, on civil and religious law *(Dharmaśāstra)*, grammar, poetics, logic and philosophy.[32]

TEMPLE COLLEGES

The advantages of the organised system of education in Buddhist monasteries which enabled the imparting of specialised instruction to a large number of students simultaneously, in a shorter period of time, induced Hindu patrons to set up, on similar lines, colleges attached to Temples and the *Maṭhas* of religious pontiffs. This transformation is more prominent in South India than in the north. A number of Temple-colleges were set up under the patronage of the kings of the Rāṣtrakūṭa, Cālukya and Cola dynasties of South India. Large endowments were also made to these institutions and the relevant inscriptions give full details of their set up, including the subjects to be taught, the number of students to be admitted in each class, the number of teachers and their specialisations, the salary of the teachers and the stipends to students, and arrangements for boarding: Some of the inscriptions make a mention also of medical arrangements provided, libraries maintained and the punishment awarded for the infringement of injunctions. A few of these Temple Colleges might be referred to here.

EṆṆĀYIRAM TEMPLE COLLEGE

At Eṇṇāyiram, in the S. Arcot, Dt. of Tamilnadu, there flourished, towards the beginning of the 11th cent. A.D., a well-organised college, with an endowment of 300 acres of land, providing education for 346 students. According to the inscription documenting this endowment[33] 75 seats each were reserved for the *Ṛgveda* and the *Black Yajurveda*, 40 seats for the *Sāmaveda*, 20 for the *White Yajurveda*, 10 each for the *Atharvaveda*, *Baudhāyana Dharmasūtra* and *Vedānta*, 25 for grammar, 35 for *Mimāṁsā*, and 40 for

32. *Ibid.*, pp. 112-16.
33. *Annual Rep. of South Indian Epigraphy for* 1917, p. 145, Ins. 333 of 1917.

Rūpāvatāra. For the *Ṛgveda* and *Black Yajurveda* there were three teachers each, for *Mimāṁsā* two, and one each for the other subjects. The students were lodged and fed, and the teachers were also adequately paid, mostly in kind.[34]

Some of the other Temple Colleges, constituted on the above lines and differing only in their extent, are: The Tirumukkādal temple College attached to the Veṇkaṭeśa Perumāl Temple at that place, providing instructions also in Vaiṣṇava and Śaiva Tantra-s[35]; the Tiruvoṭṭiyūr Temple College, instituted in the name of the great Sanskrit grammarian Pāṇini where the specialisation was on grammatical studies[36]; the Malkapuram Temple College, besides teaching the *Āgamas* and other subjects, had a dispensary attached to it[37]; the Salotgi Temple College in the Bijapur Dt. of Karnataka, which was supported by public funds[38]; the Bhujangeśvara Temple College at Hebbal in Dt. Dharwar, Karnataka[39], the Nāgarī Temple College in Andhra Pradesh with the provision for the instruction of 2000 students in the Vedas, 200 in civil and religious law, 100 in the epics, and 50 in philosophy, with a huge library employing six librarians[40], the College of Yogeśvara Paṇḍita at Bijapur which conducted a free *Mimāṁsā* school[41] and the richly endowed Grammar College of Punnavayal in Dt. Tanjavur, Tamilnadu imparting instruction and boarding to about 500 students[42].

TRADITION OF FREE EDUCATION

An aspect of the tradition of learning in India from the earliest times which deserves speical notice is that education was free, wherever it was imparted at the teacher's house, Buddhist monastery, Jain Upāśraya, or Hindu temple college. The same was the case also in the Agrahāra villages and public *pāthaśālā-s* (school). Every student, howsoever poor, could get the highest education free, provided he was willing to learn and, if necessary, do some household or farm work for his teacher. Educational expenses were no cause of worry even to the poorest parents; on the other hand, the student was provided with the necessities of life by the teacher or the institution, as the case might be. The ideal that the gift of knowledge was the greatest gift was not only preached but was also practised in its fullest sense.

■ ■ ■

---

34. *Altekar, Education in Ancient India*, 135-36.
35. *Vide inscription in Epigraphia Indica*, Vol. XXI, No. 220.
36. *Vide An. Rep. of S. Ind. Ep. for* 1912, No. 201 and 110 of 1912.
37. *Vide An. Rep. of S. Ind. Ep. for* 1917, pp. 122-24.
38. Ep. Ind., IV. p.60.
39. *Ibid.*, V. p.355.
40. *Hyderabad Arch.*, S. No. 8, p.7.
41. *Vide Indian Antiquary*, X. pp.129-31.
42. *An Rep. of S. Ind. Ep.* for 1913, pp.109-10.

I

NATURE OF THE VEDIC COMPOSITION

Prof. S. P. Singh

The commonly prevalent view about the Veda today is that it is a collection of compositions produced by the Āryan people having reached India all anew. Due to the total novelty of the circumstances in which they had landed themselves they were very much excited in their responses to the stimulations presented by their new surroundings in all their static majesties and changing scenarioes. The excitement was so powerful that it got articulated in every possible manner. Be it the rising of the tropical sun alongwith the whole splendour of the dawn, the downpour of the rainy season, the grandeur of the Himalayas weaving a pattern of rivers in the vast plains of their newly found land, the vividity of the seasonal alternations, or the greenery of the dense forest and richness of the flora and fauna here, everything proved provocative to their fertile imagination. Bewitched by all this they articulated their responses in verses which are innocent and burdened with all their ignorance of things and happenings in this new land.

It is under this pre-supposition that the Vedas are studied, translated and understood today not only by the linguist, the anthropologist and the historian but also by the Vedist himself taking it as if it were the last word, the final verdict amounting to the gospel vis-a-vis the Veda.

Entirely contrary to this, however, has been the Indian viewpoint regarding the Veda throughout the whole tradition. The Purāṇas which have been regarded since their inception as elucidation of the Vedic ideas, take the Vedic compositions in a different light. According to the *Bhāgavata Purāṇa*, for instance, the Veda is beginningless and eternal. It is born of the Unborn himself. It is divine and was made manifest in the beginning of the creation for serving as the source of the act of creation. By virtue of embodying the creative impetus, it has given the objects in the world their shapes and sizes while on account of being verbal in form it has given them their respective denominations. Thus objects in their name and form both have been provided for by the Veda.[1]

1. अनादिनिधना नित्या वागुत्सुष्टा स्वयम्भुवा। आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।
नामरूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम्। वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।। *Bhāgavata Purāṇa*

Bhartṛhari holds the same view in a more definitive way when he observes that the creation is indeed a transformation out of the word and that this word is the Veda itself. He considers it as the established viewpoint of the Vedic scholars.[2] His own reasonings also lead him to the same conclusion. In his view the world is a surge of changing shapes and sceneries. The change, however, presupposes something eternally unchanging. It is the word in its eternity and that is the Veda.[3]

Similar to this was the position held by Śaunaka, the author of *Bṛhaddevatā* when he observed that the word is all this, since it is through word that the Vedas are studied and it is in the form of word that they are available."[4] Further by way of commenting on *Ṛgveda*[5], he remarks that the burden of the hymn is the highest knowledge which is the ineffable light coincident with Brahman, the Ultimate Reality and the eventual goal of Yoga.[6] In yet another context *Ś*aunaka observes that "the Vedic *mantra* can be visualized by no one else than a seer who has direct access to the Reality. His vision made articulate in the form of *mantra-s* embodies the Reality. Verbal expression and the *Devatā* are coincident here. As such, understanding of the *mantra* entails knowledge of the divinity.[7]

Going still farther back we find in Yāska a very definitive statement of the process through which the early seers got the vision of the *mantra-s*. While explaining the derivation of the word *ṛṣi* from the root dṛś he observes that the seers are called *ṛṣi* because they saw the *mantra-s*. By way of elucidating this point he recounts how the eternal Brahman, as the word and the reality both, rushed to the seers while they were practising *tapas*.[8] As pointed out here, the seers came into direct contact with the reality and the word intimately associated with it in a state of deep meditation and self-absorption which are the necessary psychological accompaniments of *tapas*. It is also important to note that this viewpoint regarding the origin of the Vedic *mantra-s* is put forth by *Yāska* not in his own words but in the words of the certain

---

2. शब्दस्य परिणामोऽयमत्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत।। *Vākyapadīya*, I.120

3. वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्। *Ibid*, I.121.
अनादितिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरं विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। *Ibid*, I

4. वाचा वेदा ह्यधीयन्ते वाचा छन्दांसि तत्र ह।
अथो वाक् सर्वमेवेदं तेन वाचस्पतिः स्तुतः।। *Bṛhaddevatā* II.45

5. *Rgveda*, x.71

6. यज्ज्योतिरमृतं ब्रह्म यद्योगात् समुपास्यते।
तज्ज्ञानेनाभितुष्टाव सूक्तेनायं बृहस्पतिः।। *Ibid.*, VII.10.9

7. न प्रत्यक्षमनृषेरस्ति मन्यम्।
योगेन दाक्ष्येण दमेन बुद्ध्या बाहुश्रुत्येन तपसा नियोगैः।
उपस्यास्तोः कृत्स्नशो देवताचया ऋतो ह यो वेद स वेद देवान्।। *Ibid.*, VIII.129-130

8. ऋषिर्दर्शनात्......। तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत तदृषीणामृषित्वमिति ह विज्ञायते। *Nirukta*, I.

Brāhmaṇa. Thus it bears out the antiquity of the viewpoint anterior even to *Yāska*.

In this way we find a sharp polarization of opinions on the origin of the Vedic *mantra-s*, the unbroken long tradition attributing it to *tapas* or meditation and contemplation of a very high order while the modern scholarship explaining it in terms of an expression of the curious mind of the primitive Āryans bewildered and trying to adjust in a new situation far removed from their native place. As such, it became imperative to examine the problem thoroughly and with care so as to reach a definite conclusion on it. As everything Vedic depends on this vital issue, resolution of it is a desideratum. The views held on it so far being divided on the above lines, one is left only with the internal evidence, if any, for a probable solution of the problem. We have to examine what the seers themselves tell us about the composition of the *mantra-s*. Study of the internal evidence becomes all the more important in view of the fact, that parallel to the Veda we have almost nothing surviving anywhere in the rest of the world.

While trying to go into the problem from this viewpoint we have to admit at the outset that the Vedic compositions are in a certain respect similar to those turned out by other authors in India and elsewhere. Yāska indeed makes out a very vital point when in course of refuting the arguments of Kautsa he observes that the Vedic *mantra-s* cannot be treated as meaningless anyway since they also make use of almost the same words as the non-Vedic compositions.[9] The words used in the *mantra-s* are quite human and they form the bed-rock not only of most of the Indian languages but that of the entire Indo-European family of languages. The commonness of words shared by the Vedic *mantra-s* with literary works and languages of such a vast majority of humanity world over, forms a solid ground against any uncommonness of them. Moreover, in the Veda itself we find a number of instances in which the seer claims to have composed the *mantra-s* variously and carefully like artefacts of various variety. For instance, a seer of the first *Maṇḍala* of the *Ṛgveda*, namely Nodhā Gautama, tells Indra how *mantra-s* have been created by his forefathers in the name of the deity and how the same are being addressed to him on the particular occasion.[10] Moreover, he not only reproduces *mantra-s* composed by his forefathers, but claims for himself to have produced a new one for the invocation of Indra.[11] Similarly, Gṛtsamada, the seer of the second *Maṇḍala* of the *Saṁhitā*, entreats at one place the Aśvins with the proud claim that the *mantra-s* concerned were created by the members of his own family.[12] He even indicates the special circumstance in which a particular set of *mantra-s* was

---

9. अर्थवन्तस्तु शब्दसामान्यात् । *Ibid.*, I.
10. अका॑रि त इन्द्र॒ गोत॑मेभि॒र्ब्रह्मा॒ण्योक्ता॒ नम॑सा॒ हरि॑भ्याम् । *Ṛgveda*, I.63.9.
11. स॒ना॒य॒ते गोत॑म इन्द्र॒ नव्य॒मत॑क्ष॒द ब्रह्म॑ ह॒रियोज॑नाय । *Ibid.*, I.62.13
12. ए॒तानि॑ वामश्विना॒ वर्ध॑नानि॒ ब्रह्म॒ स्तोम॑ गृत्सम॒दासो॑ अक्रन् । *Ibid.*, II.39.8.

seen by the members of his family. According to him, they created the *mantra-s* in the way those in need of protection make out intelligent ideas[13]. This reference obviously bears out distress as one of the significant factors in the composition of Vedic *mantra-s*. In yet another context the seer Parucchapa observes that people have composed the relevant *mantra-s* out of the desire for wealth in the same way as a skilful carpenter manufactures the chariot[14]. Gauravīta Śāktya is so much elated with his composition as to image out his literary feats by a couple of similes, namely that of weaving of cloth as well as manufacturing of chariot. To translate his remarks :

> 'O Indra, take delight in the *mantra-s* which, O mighty one, I have composed all anew. Being desirous of wealth, I have composed them like one who weaves skilfully beautiful clothes or like a carpenter manufacturing a chariot with utmost dexterity.'[15]

Similarly, Vāmadeva at one place invokes Indra with the incentive that he has created the *mantra* concerned for the mighty deity like the Bhṛgus the chariot. The motive behind the composition of the *mantra* is the attainment of intimate friendship with the deity and thereby protection of oneself.[16] Thus we see that to the mind of the Vedic seer manufacturing of chariot does not mean only application of dexterity but also awareness of a war-like situation lying behind his venture. Just as a warrior gets readied or manufactures an efficient chariot to meet the contingency of a war-like situation, even so the Vedic seer composes a *mantra* in a state of mind where the self-existence is under some sort of threat. In this tense situation composition of the *mantra* comes out as a means of safety. Through the composition the seer procures his safety like a warrior coming out victorious through the use of his horse. This is what Vāmadeva, while praying at one place the Ṛbhus, reveals as follows :

> 'Whatsoever mortal you Ṛbhus alongwith Indra protect, he be winner by means of his *mantra-s* in the attainment of wisdom like the warrior winning the war by means of his horse.'[17]

Gṛtsamada also talks of evocation of *mantra-s* in terms of preparation

---

13. एवा तें गृत्समदाः शूर मन्मांवस्यवो न वयुनानि तक्षुः। *Rg.*, II.19.8.
14. इमां ते वाचं वसूयन्त आयवो रथं न धीरः स्वपां अतक्षिषुः। *Ibid.*, I.130.6.
15. इन्द्र ब्रह्म क्रियमांणा जुषस्व या तें शविष्ठ नव्या अकंर्म।
वस्त्रैव भद्रा सुकृंता वसूयू रथं न धीरः स्वपां अतक्षम्।। *Ibid.*, V.29.15.
16. एवेदिन्द्राय वृषभाय वृष्णे ब्रह्माकर्म भृगवो न रथम्।
नू चिद्यथा नः सख्या वियोषदसंन्न उग्रोऽविता तंनूपाः।। *Ibid.*, IV.16.20.
17. सेदृंभवो यमवंथ यूयमिन्द्रश्च मर्त्यम्।
स धीभिरंस्तु सनिता मेधसाता सो अर्वता।। *Ibid.*, IV.37.6.

of the warrior for by driving forward his chariot. "We are bearing power for you Indra, understand it properly, like a warrior the chariot." Observing so the seer characterizes himself as "deeply immersed in prayer, meditation and sublime thought."[18]

Thus, it is obvious from the context itself that the reference to chariot, war, horse etc. in the *mantra-s* are made by way of symbolizing the psychic ordeals involved in their composition. The composition in itself is a matter of devotion, meditation and ideation at a higher plane.

This proposition gets a direct confirmation from a certain observation of Vāmadeva. As is obvious from his famous self-confession made in *Ṛgveda*[19], he was so precious as to have understood the secret of the birth of gods while still lying in the womb of the mother. Before the dawn of this understanding he felt as if he was enclosed in a hundred-fold iron castle, out of which he came out speedily like a falcon.[20] This statement is put by Vāmadeva in the mouth of Indra, the divinity. Thus it can very well be taken as a matter of self-experience of the seer himself. Taken as such, it reflects the inner experience of the seer. Thus the cosmogonic terminology used here is reducible to the level of deep psychological understanding, which is taken for granted in the case of this seer in the Vedantic tradition. Accordingly the iron-castle can be taken as symbolic of the thick layer of ignorance serving as the fetter of inertia around the surging higher consciousness. It is here in this consciousness that the seer happens to realize his identity with Indra, the divinity. Since the realization came to him quite early in his life, all the *mantra-s* seen by him must be bathed in that consciousness and be rather the product of the upsurge of that consciousness. Creativity of a poet, whosoever, arises from the nodus of his inner being. As would be his comprehension of the inner being so would be the level of his poetic creation. As Vāmadeva had seen his identity with Indra at so early a stage of his life, he can fairly well be taken to have seen his *mantra-s* out of that higher consciousness in which the human coalesces with the divine. The point of coalescing of the two finds a clear expression in a *mantra* seen by the seer in which he in the role of Indra observes that he would not condescend to be born through the normal course since it is indecent, but would like to come out through the side, since he has to accomplish a variety of acts including fighting with some and enquiring with others.[21] Obviously while fighting is the role of the divine Indra, enquiring is that of the human seer Vāmadeva. As both are two

---

18. वयं ते वयं इन्द्र विद्धि षु णः प्र भरामहे वाजयुर्न रथम्।
विपन्यवो दीध्यतो मनीषा सुम्नमियक्षन्तस्त्वावतो नृन् ।। *Ibid.*, II.20.1.
19. *Ibid.*, IV.27.
20. गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्।। *Ibid.*, IV.27.1.
21. नाहमतो निरया दुर्गहैतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै।। *Ibid.*, IV.18.2.

sides of the same coin, the act of enquiry seeks to be expressed concretely through the symbolism of fighting along with all its retinue of chariot, horse, conflict etc.

That the Vedic knowledge dawned upon the seers after they went through a certain ordeal in life particularly while in search of that hidden truth, is evident from numerous instances in the *Saṁhitā*. To take the instance of Vāmadeva himself, once he observes that having no way out he had to cook the entrails of a dog and see his wife being dishonoured in his presence. It was in this state of physical destitution and emotional oppression that the eagle fetched mead for him.[22] Cooking the entrails of dog is symbolic of utmost restraint on hunger while the second imagery may be taken as suggestive of control over the desire for sex. Mead is obviously symbolic of the spiritual beatitude par excellence, the quintessence of all experiences as distilled in the inner being or as thrown upward by all the turmoils and discordances of life. Just as a large number of drops of juices when put together in a certain homogenious ratio result in the formation of honey, even so all the experiences of life when harmonised perfectly result in the experience of the inner beatitude. This is the famous *Madhu-vidyā* propounded by the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*. This seems to be the mead made available to Vāmadeva by the falcon eventually after he was put to all sorts of extreme appressions of life.

As regards the upsurge of the beatitude, it is brought out by Vāmadeva through the symbolism of *ghṛta*. In the last hymn of his *maṇdala* he talks of a sea giving rise to a spate of waves of sweetness resulting in the attainment of immortality through the stalk of Soma. The wave is characterized further on as the secret name of *ghṛta* which again is described as the tongue of gods and even the centre of immortality.[23] Incidentally this *mantra* has been taken by Wilson as 'a good specimen of Vaidika vagueness and mystification.' This is because of the failure to understand the multiple symbolism involved in the account. Here the world is *conceived* as the ocean, on the surface of which are rising waves of experience under the pull of the mind. The experiences when screened and crystallized by the mind, get transformed into the sense of immortality. It is something like the curd, when churned, yielding the butter. Ordinarily the butter is considered as an effect of the curd. But in the Vedic view of things, the butter, though coming out of the curd, is the cause not only of the curd and the milk but of the animal also which has yielded the milk. This is what has been maintained in the P*uruṣa Sūkta* while observing that it was out of the butter yielded by the cosmic sacrifice that animals of all varieties were generated.[24] Thus the *ghṛta* as visualized by

---

22. अवर्त्या शुनं आन्त्राणि पेचे न देवेषु विविदे मर्डितारम्।
अपश्यं जायाममहीयमानामधा मे श्येनो मध्वा जभार।। *Ibid.*, IV.18.13.
23. समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारदुपांशुना सममृतत्वमानट्।
घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः।। *Ibid.*, IV.58.1.
24. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशून्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्याश्च ये।। *Ibid.*,X.90.8.

Vāmadeva lies at the root of the cosmic ocean itself. Its secret 'name' or essence is indeed what has been termed in the Veda as *'Ṛta'*, the primeval dynamics behind the surge of creation.

Having identified the primeval creative dynamics and having termed its essence as *Ṛta* and having symbolized the same by *ghṛta* Vāmadeva observes that the same secret name of *ghṛta* which indeed is *Ṛta* is upheld through sacrifice. Hereby, he means to say that the *Ṛta* forms the essence of sacrifice also. Vedic *mantra-s* as recited in course of sacrifice are *Ṛta* in verbal form. They are the lumps of *ghṛta*, as Vāmadeva puts it, arising from the commotion of the cosmic ocean. In view of the *ghṛta* being an animal product, the seer further on traces its origin in a four-horned bull. This bull is said to have just vomited the *ghṛta*.[25] It is this bull vomiting the *ghṛta* which in the immediately following *mantra* has been sketched out in a peculiar way as having four horns, three feet, two heads, seven hands, as bound in a threefold manner, roaring constantly and as having entered amongst human beings as a great divinity.[26] It is indeed the divinity of *Vāk* or sacrifice which in view of its verbal manifestation in a certain way has been conceived in this peculiar form. The *ghṛta* vomited by this bull of *Vāk* is the Vedic *mantra* itself. Equation of the *ghṛta* and the *mantra* is confirmed also by the fact that in the *Puruṣa Sūkta* the same cosmic sacrifice is said on the one hand to have *ghṛta* and on the other to have given rise to *ṛks*, *sāmans*, *chandas* and *yajuṣ*.[27] Entrance of the bull amongst mortals amounts to inculcation of the sense of sacrifice on the one hand and development of the verbal communication on the other in the human beings. This very imagery is perhaps the basis of the Purāṇic allegory of the four-mouthed *Brahmā* revealing the four Vedas to the primeval seers as his intellectual sons. The imagery, as well as the allegory, summarily suggests that the Vedic *mantra-s* are rooted in the divine as embodied in the human psyche, indeed in that layer of the psyche which is in correspondence with the divine and the cosmic. This is why they always refer to the divine and the cosmic. If there is anything worldly and personal in them, that is due to the human touch invariably involved in their expression.

The divine origin of the Vedic *mantra-s* is evident from numerous other references. A very telling statement in this regard is that of *Dīrghatamas*. In one of his verses he leaves for us the rare biographical note how he happened to get the revelation of the *mantra-s* going in his name. He observes that he does not know what he really is and that fully alert he wades through the mystery

---

25. वयं नाम प्र ब्रवामा घृतस्याऽस्मिन्यज्ञे धारयामा नमोभिः।
उप ब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुः शृङ्गोऽवमीद गौर एतत्।। *Ibid.*, IV.58.2.
26. चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश।। *Ibid.*, IV.58.3.
27. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।। *Ibid.*, X.90.9.

psychically. In the process of this inward movement when those, who are born of *Ṛta* first of all, come to him eventually, he gets revelation of his share of the *Vāk*.[28] Knowing not oneself is indicative of suspension of the ego-centric cognizance. It is only after the dismissal of the ego that one can go behind one's surface being and enter into the mystery of self-existence. When this is accomplished, there is the dawn of the first products of the universal dynamics. And these obviously are the divinities. It is they who make the *mantra-s* tangible to the seers.

It is on account of this that gods themselves have very often been characterized as *kavi-s*, and *ṛṣi-s.* Agni, for instance, has once been described as *ṛṣi* Angiras, and at that the first one. In the immediately following *mantra*, he is, again, characterized as the first and foremost *kavi* amongst the Angirasas.[29] He is *ṛṣi* inasmuch as he is in close contact with the Reality. He is also *kavi* because he imparts the *mantra-s* to the human seer. He, indeed, is the real creativity behind the creative mind of the Vedic seer. This is reflected in his characterization as *kavikratu*, the creative power in the poet.[30]

So is the case with *Bṛhaspati.* He is characterized as the poet of poets, having in him Vedic *mantra-s* most abundantly. He is the greatest ruler of *Brāhmaṇa-s* or *mantra-s*.[31] He has produced the *mantra-s* in the same way as the sun spreads out the rays.[32] Just as we are only receivers of the rays, even so the seers are only receivers of the *mantra-s* revealed upon them by *Bṛhaspati.*

Vedic *mantra-s* have closely been associated with sacrifice. In the *mantra-s* themselves there are found direct references to sacrifice and sacrificial acts of all varieties. It is indeed by collating these references in the *mantra-s* that the Bṛāhmaṇa-s have built up the huge institution of sacrifice. Due to the same close association, scholars have mooted out the idea that the *mantra-s* were composed practically in the sacrificial context. Sāyaṇa's sacrificial interpretation of the *mantra-s* gives credence to this viewpoint historically. In the *Ṛgveda* itself there is an account as to how it was in course of sacrifice that people reached the source of *Vāk* and found it introjected into seers.[33] Historical interpretation apart, which obviously is too naive to do justice to such statements, the real secret of the association of the *mantra* with the sacrifice lies in the natural tendency of the *mantra* to return to its source. The *mantra-s* tend to be offered to gods and goddesses so promptly and

28. न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः।। *I.Ibid.*, I.164.37
29. त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः कविः। *I.Ibid.*, I.31.2.
30. अग्निर्होता कविक्रतुः। *I.Ibid.*, I.1.5.
31. गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्।। *Ibid.*, II.23.1.
32. उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषामिज्जनिता।। *Ibid.*, II.23.2.
33. यज्ञेन वाचःपदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्। *Ibid.*, X.71.3.

eagerly simply because they have come from the same gods and goddesses. This is evident, for instance, from a *mantra* addressed to Aditi, in which it is ardently desired that the *mantra* might be acceptable to the goddess like her son to the mother. Further on in the same context it has stated that the *mantra* is placed in the seer by the divinity, *deva-hitam*.[34] As such, it has to return to the divinity eventually. The return is so spontaneous and forceful as the flow of the river towards the sea, as has been stated with reference to *Bṛhaspati* by conceiving him as the ocean of *mantra-s*. Return of the human to the divine under the aegis of gods is the essential principle behind the act of sacrificing while *mantra* is the stream of water making possible the return voyage to the sea of divine essence and consciousness forming the source of all *mantra-s* whatever. It is the will of the sea to make the water flow out and it is again the will of the same sea which makes the water stream back to it. Similarly, it is the will of *Bṛhaspati* which makes the *mantra-s* reach unto the seer and again it is the same will of *Bṛhaspati* which attracts the *mantra-s* back to him by way of sacrifice. *Bṛhaspati*, indeed, is the eagle observing both the boat as well as the water as has beautifully been put by Agastya.[35]

The same idea is expressed by Kutsa Aṅgiras through the imagery of the animal and its owner. Addressing Rudra, the Paśupati, the seer observes that he has returned the *mantra-s* to him like the cowherd the cows back to their owner after the day's grazing.[36] The seer is thus posed as the cowherd who takes charge of the cows from the owner in the morning and returns them back to him in the evening after grazing them in the day time. While the cows are the *mantra-s*, Rudra is their owner. The Paśupati-hood of Paśupati has, in this way, to do much more with his ownership of *mantra-s* than that of animals. The symbolism of cow in all its ramifications including grazing, milching, churning, rescuing, etc., is thus intimately connceted with the process of getting the relevant vision and turning the same into *mantra*. This is obvious specially in the hymns to Bṛhaspati. Bṛhaspati is the god of *mantra-s*. Tvaṣṭṛ, the divine *kavi* of each and every *Sāman*, has produced him from the whole of the creation. Thus Bṛhaspati stands as the *kāvya* of the divine. Even then the imagery employed in describing him is no less tangible than that used in the description of Indra. He is characterized, for instance, as the remover of darkness, killer of enemies, destroyer of the enclosure of cows, remover of the obstacle presented by mountains in his quest for cows, and as the creator of tides in the sea.[37] At the end of all this tangibly picturesque account, however, he is prayed to act as the

---

34. प्रति मे स्तोममदितिर्जगृभ्यात् सूनुं न माता हृद्यं सुशेवम्।
ब्रह्म प्रियं देवहितं यदस्त्यहं मित्रे वरुणे यन्मयोभु।। *Ibid.*, V.42.2

35. सं यं स्तुभोऽवनयो न यन्ति समुद्रं न स्रवतो रोधचक्राः।
स विद्वाँ उभयं चष्टे अन्तर्बृहस्पतिरस्तर आपश्च गृधः।। *Ibid.*, I.190.7

36. उप ते स्तोमान्पशुपा इवाकरं
रार[illegible] [illegible]र्मरुतां सुम्नमस्मे।। *Ibid.*, I.114.9

controller of the hymn in question as well as stimulator of the progeny of the seer.[38] Thus the entire stuff of the hymn boils down to a figurative account of the ordeals involved in the seeing or composition of the hymn and deep concern for its preservation. The seer's eagerness for the progeny indeed is due pre-eminently to his keen desire for the preservation of his mantric creation. This is evident from the involvement of generations after generations in the composition as well as preservation of *mantra-s*. The family Books of the *Ṛgveda* are indubitable evidence of this order of things. Had the seer not been so keen on this point, preservation as well as the creation of the Veda would have been an impossibility. How keen the Vedic seer was for the continuance of his life as well as of his progeny for sheer completion of the composition and guarantee of the preservation of whatever was accomplished, can further be understood from his closely personal prayer as the following.

> "Loosen the bond of him as of a thread, O Varuṇa , so that I may attain to your fountain of *Ṛta*. Do not severe the thread while I am weaving the *mantra*, nor do permit to be shattered untimely whatever is accomplished."[39]

The basic thing involved in the composition of the *mantra* is the attainment of *Ṛta*. The seer is always keen to attain to its fountainhead, the source of the entire dynamics of creation, the axle of the wheel of universal movement. In course of his effort to attaining to that goal he undergoes all trials and tribulations of life such as falling in the pit, being burnt there, diving in water and being immersed in it so as to be rescued by some divine help, breaking the mountain and entering into deep cavern, getting lost in thick darkness to be taken out of it by some supernal light from above, forgetting oneself completely so as to be reminded of oneself by the agents of *Ṛta*, so on and so forth. The story of Dadhyan in this regard is highly revealing. The seer gets the *madhu-vidyā* through the grace of Indra. He imparts the same to the Aśvins even at the cost of substitution of his head by the horse's head. The *Vidyā*, as explained by the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*, is obviously the knowledge of the self which controls the totality of the reality, both the individual and the universal and forms the essence of all, or is indeed the source of *Ṛta*. It is for the knowledge of this source of *Ṛta* that the seer strives so much with the help of the divine. Gods have their importance not in their own right but just as means to that supernal end. They serve as the medium through which the understanding of that supreme principle trickles down to the seer. It is this understanding which, when

---

37. तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः।
इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम्।। *Ibid.*, II.23.18.

38. ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व। *Ibid.*, II.23.19.

39. वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्याम ते वरुण खामृतस्य।
मा तन्तुश्छेदि वयतो धियं मे मा मात्रा शार्यपसः पुर ऋतोः।। *Ibid.*, II.28.5.

made articulate, assumes the form of *mantra*.

Mantra is indeed the articulate form of some deep meditative apriori ideation. It has some sort of supernal vision at the back of it. It is universal in spirit and appeal. It seeks to bring to the fore the ultimate source of creation. If it refers to anything which is extraneous to that essence, that is as means or mediums to attaining to that principle. It is in view of that stuff of consciousness that the entire nature is visualized as highly conscious. Gods and goddesses are archetypal formations out of that stuff while *mantra* is its articulation of it. When Dīrghatamas observes that the *Ṛk-s* exist in the highest imperishable heaven in the company of gods, he means to suggest the origin of the *mantra* in the supernal consciousness.[40] Elsewhere in the same hymn he makes use of the term *mantrayante* for the conservation of gods at the top of the heaven and characterizes the verbal form thus generated as all-pervading and all-comprehending without causing injury to anyone. Another seer, namely *Avatsāra Kāśyapa*, suggests the same thing through a different sort of symbolism. Instead of heaven, he makes use of the sea as the abode of the best of *mantra-s* when he observes :

> "The best of these *(mantra-s)* abides in the sea; wherever this *mantra* pervades, the pressing of Soma goes on uninterruptedly. The desire of him who recites this *mantra* in association with the pure being does not remain unfulfilled."[42]

In this *mantra*, as contrasted with that of Dīrghatamas, the abode of the best of *mantra-s* is said to lie in the sea. This is absolutely in conformity with the statement of *Vāk* in the famous Vāgāmbhṛṇī Hymn that her origin lies in the depth of the sea.[43] As the original abode of the *mantra*, the heaven and the sea are indeed one and the same thing, the former stressing on its sublimity while the latter pointing out to its mystery in terms of the psychic depth. Uninterrupted pressing of the Soma is symbolic of the eternal delight while the pure being with which is associated the *mantra* stands for the supreme Divine.

Thus the best of the *mantra-s* is the effulgence of the delight inherent in the Supreme Being. The rest of the *mantra-s* are subservient to it. This gradation amongst them is quite obvious as they are found in the Saṁhitā-s. There are certain central *mantra-s* which are related to the crux of

---

40. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।। *Ibid.*, I.164.39.

41. तिस्रो मातृस्त्रीन्पितृन बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठ विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्। *Ibid.*, I.164.10.

42. समुद्रमासामव तस्थे अग्रिमा न रिष्यति सवनं यस्मिन्नायता।
अत्रा न हार्दि कवणस्य रेजते यत्रा मतिर्विद्यते पूतबन्धनी। *Ibid.*, V.44.9.

43. मम योनिरप्स्वन्तः १ समुद्रे। *Ibid.*, X.125.7.

the reality while others are just elaborations on it. The famous *Gāyatrī mantra* is one of them, because it is directly associated with the Supreme Being. The same is the logic behind the admittance of *Om* as the essence of the *Gāyatrī*, for it is Brahman itself in verbal form without any accretion whatever. It is the first and foremost word of speech as such assuming the form of the multitude of words subsequently, as has been revealed by *Bṛhaspati*, the seer to himself in the famous *Jñāna Sūkta*. The best of the words was revealed to the seer from within through keen aspiration.[44] Again it is perhaps the same primeval word which is intended to be referred to by the terms *akṣare parame vyoman* in Dīrghatama's *mantra* quoted above a little earlier. It is *akṣare* in the singular because it is mono-syllabic eventually. It is *parama* because it is primeval. And *vyoman* almost coincides with *Om* if, of course, detached from *vi*, the prefix.

The deep spiritual origin of the *mantra-s* is also reflected in the uniformity of the images revealed and the terminology used in the accounts throughout the whole of *Ṛgveda*, the most primary one of all the Saṁhitās. We find almost the same legends recounted in similar words in various *Maṇḍala-s* of the Saṁhitā though seen by seers belonging to entirely different families all spreading over a vast area of northern India with all its dense forests and rivers and thus providing little chance for inter-communication amongst them. The same is true of the language and the style also. Composition and preservation of a literature of this magnitude in a uniform idiom and style by a large number of seers living at considerable distance from one another in that age of natural seclusion is a miracle no less astonishing than the highly spiritual ideas embodied in it. Vedic hymns to the same deity produced by as many seers, howsoever distantly placed from one another, evince greater uniformity of idiom, imagery, style and content amongst them than the works of any two poets of Sanskrit subsequently. This is striking particularly in view of the fact that whatever was composed was available only in memorized form and was confined to one's own family of seers. Under such circumstances, it is hard to account for the uniformity except for the oneness of the psychic ground which they all touched through their *sādhanā*. The inner layers of the human psyche have compressed in them primeval images of universal significance which have been characterized as archetypes by C.G.Jung, the eminent psychologist. The same is missing in the surface mind. This is perhaps how we can explain best the Vedic phenomenon of the common images used by seers living mostly in isolation from one another.

---

44. बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।। *Ibid.*, X.71.1.

II

Vision of Viśvāmitra

Viśvāmitra is one of the most celebrated seers of the *Ṛgveda*. The major portion of the third *maṇḍala* of the *Saṁhitā* is attributed to him. The famous *Gāyatrī mantra* is seen by him. Importance of the *Gāyatrī mantra* cannot be over estimated. It occupies the central position in the spiritual *sādhanā* since times immemortial. By taking resort to it, one is supposed to attain to the highest beatitude and understanding. The Brāhmaṇas again and again explain it as one which saves whosoever recites it. The entire cultural milieu of this country is permeated by its saving and enlightening potency. As such, it is a desideration to know the psychic equipment of the seer who has seen or formulated this *mantra*. Seeing of formulating, no matter whatever the precise position regarding a *mantra* imbued with this remarkable potency, must presuppose the matching development in the consciousness of the seer or formulator concerned, for any *mantra*, whatsoever, is a tangible expression of a certain state of consciousness of the seer.

From this viewpoint, when we look at the pertinent references to the seer in his own *mantra-s*, we find him as something amazing. He appears most dramatically and forcefully in the famous *Nadī Sūkta* of the third *Maṇḍala.* As the account shows, he comes to the bank of Vipāśā and Śutudrī rivers along with the king of the Bharata dynasty who is accompanied by his forces moving by carts and chariots. The incident seems to have taken place somewhere near the foot-hills of the Himalayas where the two rivers are still in close proximity of each other and are immensely fast and forceful in their flow. They are leaping out of the lap of the Himalayas wishfully like a pair of mares set free of all the ropes.[1] The tremendous flow of the rivers deters the army from moving ahead. The regal power fails to meet the contingency of the situation. It is in this trying state of things that Viśvāmitra comes to the fore with his spiritual power. He implores upon the rivers to accede to his prayer and give way to the army. Initially he appeals to the humane feelings of the rivers by addressing them as most motherly and licking the common bank as two cows the common calf.[2] But the rivers take a stern turn in their response to him by drawing his attention to their divine and geological roots. "While flowing with volume of water we indeed are moving along the bed created by gods. Being

---

1. प्र पर्वतानामुशती उपस्थादश्वें इव विषिते हासमाने।
   गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे विपाट्छुतुद्री पयसा जवेते।। *Ibid.*, III.33.1
2. अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासं विपाशमुर्वी सुभगामगन्म।
   वत्समिव मातरा संरिहाणे समानं योनिमनु सञ्चरन्ती।। *Ibid.*, III.33.3

rooted in the creative surge of the Creator, the flow is by no means to be stopped. Under such circumstances, what does the *Vipra* expect of us", they observe "while invoking us time and again".[3]

In response to it, the seer also becomes serious and observes that while praying them to stop for a moment he is not unaware of the pre-ordinated nature of their flow. And at the same time he informs them that by virtue of being the son of Kuśika and as one having his tongue made wet with the Soma-juice, he too is not an ordinary man. It is from this high pedestal of enlightened pedigree and culture of speech that he is producing a mighty and lofty prayer just for the sake of protection from submergence.[4]

Thus in this interaction between the physical compulsion and the human ingeniousness, when no way out is available, the seer comes forth with his lofty vision of tracing the meeting ground between the two contending forces in the divine of the rivers on the one hand and his long tradition as a seer on the other. The seer's seerhood lies in his immense penetrative insight going deep into the divine origin of all including the natural spectacle. In his vision the nature traces its root back to the Divine action and creativity. Here the otherwise violent rivers feel that they have been carved out by Indra with thunderbolt in his hand and having removed Vṛtra, the obstacle in the surge of the Divine creativity. The water in them is made to flow by the beautiful hands of *Savitṛ* and it is under his persuation that they are flowing so extensively.[5]

The vision of Divine origin of things and involvement of the Divine hand in their movement, is felt as so inestimably valuable that the seer gets inspired to preserve it for the posterity at any cost for the well being of the latter and maintenance of the sanctity of the former.[6] If man wants to control nature in the real sense of the term, he would have to go back to its Divine root. If, on the other hand, he seeks to make it subservient to him forcefully and by betrayal, he would be committing a sacrilege and endangering his own continuity.

Viśvāmitra takes recourse to the former way and finds the rivers conceding to his prayer willingly and with all the sweetness of love possible in this world.[7] The consequence is that the water level goes down to the extent as

---

3. एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनिं देवकृतं चरन्तीः।
न वर्तवे प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर्विप्रो नद्यो जोहवीति।। *Ibid*, 3.33.4

4. रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः।
प्र सिन्धुमच्छा बृहती मनीषावस्युरह्वे कुशिकस्य सूनुः।। *Ibid.*,3.33.5

5. इन्द्रो अस्माँ अरदद्वज्रबाहुरपाहन्वृत्रं परिधिं नदीनाम्।
देवो ऽनयत्सविता सुपाणिस्तस्य वयं प्रसवे याम उर्वीः।। *Ibid.*,3.33.6

6. एतद्वचो जरितर्मापि मृष्ठा आ यत्ते घोषानुत्तरा युगानि।
उक्थेषु कारो प्रति नो जुषस्व मा नो नि कः पुरुषत्रा नमस्ते।। *Ibid.*, 3.33.8

to make even the bullock carts wade it without endangering the life of the bullocks, as the account goes.[8]

Thus we see how by sheer force of his vision, the seer was able to persuade even otherwise turbulent rivers to give way to the army. The confrontation between the natural and human forces was avoided ingeniously by his spiritual power. The consequence was that not only the army could cross the rivers but also the seer got the good wishes and love of them.[9]

This could be possible owing to several factors of enlightenment associated with the seer. Besides his enlightened parentage, which has already been referred to, his teacher also was of the highest order. In one of his *mantra-s* he gives a graphic account of his teacher. He describes the latter as comparable to a reservoir of water flowing through hundreds of streams and yet remaining inexhaustible : *śatadhāram utsam*. Reservoir of water is an established symbol of knowledge. In another Ṛgvedic *mantra*, for instance, it is observed that pupils gifted with even equal sense-capabilities and made to live together in an identical way, may differ from one another to the extent as to some of them resembling a reservoir of water deep upto the knees, some resembling to one deep upto the waist while a few resembling to one being immeasurable in depth.[10] Viśvāmitra further on describes his teacher as being endowed with special seeing power : *vipaścita*. It is an adjective used usually for gods. He is also characterized as the author of ideas worth articulating : *pitaraṁ vaktvānām*. According to the seer, he is capable of uniting the pupil with the Reality he himself is cognizant of : *meḷim*. He has such a developed cosmic consciousness as to delight under the heaven and on the earth like a child feeling enraptured in the lap of his father and the mother : *madantaṁ pitror upasthe*. He is also characterized as one speaking only the truth to the extent as to get automatically materialized whatever he spoke of : *satyavācam*.[11] A person better equipped in knowledge than this is almost an impossibility.

Having undergone learning and *sādhanā* under the studentship of such an enlightened teacher. Viśvāmitra became eventually so much enlightened as to realize his identity with the Divinity, Agni, for instance. This is

---

7. आ तें कारो शृणवामा वचांसि ययाथं दूरादनंसा रथेंन।
निं तें नंसै पीप्यानेव योषा मयांयेव कन्यां शश्वचै तें।।*Ibid.*, 3.33.10

8. उद्वं ऊर्मिः शम्यां हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।
मादुंष्कृतौ व्येंनसा ऽघ्न्यौ शूनमारंताम्।।*Ibid.*, 3.33.13

9. अतांरिषुभरता गव्यवः समभंक्त विप्रंः सूमतिं नदीनांम्।*Ibid.*, 3.33.12

10. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखांयो मनोजवेष्वसंमा बभूवुः।
आदघ्नासं उपकक्षासं उ त्वे ह्रदा इंव स्नात्वां उ त्वे दद्वश्रे।।*Ibid.*, X.71.71.7

11. शतधांरमुत्समक्षींयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वांनाम्।
मेळिं मदंन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोंदसी पिपृतं सत्यवाचंम्।।*Ibid.*, III.26.9.

evident in the *mantra* preceding immediately but one. Here he observes that he is Agni itself having his eye as the clarified butter, and the ambrosial drink in his mouth. He considers himself as the light holding together the three worlds or manifesting itself in the triple form of the fire on the earth, air in the atmosphere and sun in the heaven. He takes himself further as the creator of the regions, imperishable source of illumination as well as oblation to be offered to that fire.[12] To identify onself with Agni and then with the oblation, has far-reaching implications. Agni is the Divinity while the seer is the devotee. Identification of the latter with the former is suggestive of the highest rung the seer has reached in his spiritual *sādhanā*. Identification of himself with the oblation, on the other hand, denotes perfect equivalence between the subject and the object. The totality of the reality is obviously divided between the subject and the object. Due to both of them claiming to be absolutely exclusive of each other, there is created a terrible fissure in the order of the reality. If the reality is homogeneously one, any such fissure in it cannot but be a product of ignorance lying in dividing the identical into mutually contradictory terms. Removal of the ignorance would, therefore, lie in restoring the identity between the two. This is what the seer Viśvāmitra achieves here by identifying himself with the oblation as well as the Agni. In the Upaniṣads the same idea is conveyed through the symbols of the eater and the food.[13] To the commonsense view of things, there is a polar difference between the eater and the food. But, as a matter of fact, what is food at one stage, becomes an organic part of the eater subsequently and the eater himself is used as food by some one else eventually. This fact of mutual transformation between the two is indicative of essential oneness of them at the fundamental level. The seer's identification of himself with the Agni on the one hand and the oblation on the other, bears but his facile access to that core of things. That the access to that core through the unification of the subject and the object involves several experiences of utmost mystical type, is evident from the *Taittirīya Upaniṣad* according to which after having accomplished the identification of the food and the eater, one feels as the following :

> "I am the creator of the *mantra*, I am the creator of the *mantra*.
> I am the first progeny of *Ṛta*, born prior even to gods, and also
> the navel of immortality".[14]

In keeping with this account of the supremely realized soul as given in the Upaniṣad, Viśvāmitra also, as recounted in the sequel, views eventually himself not only as the creator of *mantra-s* worth preserving but also as actual creator and purifier on the cosmic scale. No more does he remain a human

---

12. अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतं मे चक्षुरमृतं म आसन्।
अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो धर्मो हविरस्मि नाम।। *Ibid*, 3.26.7

13. अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो ३ ऽहमन्नादो ३ ऽहमन्नादः। *Tait. up.*, III.6.

14. अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता ३ स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ भायि।
Ibid, III

learner. He rather comes to visualize his inborn omniscience.[15] In this capacity he feels as if it is he who has purified the sun through the triple filters of the earth, the atmosphere and the heaven or the Agni, the Vāyu and the Sūrya. The act of purification was accomplished through the spiritual light attained inwardly. Through powers inherent in the self he made of himself most blessed and prolific. All this resulted in his looking around the whole of the horizon comprising the heaven and the earth as something wholly transformed.[16] By moving inward, realizing the self in its entire purity and capabilities and then by transfiguring in the world, he re-created the latter in a new light, as it were. He was considered a great seer of divine origin and inspiration not only because he received great ideas but particularly because having an eye on the well being of the people he stopped the flow of certain rivers, as has already been pointed out.[17] He and his descendants worshipped Agni not only as something tangible produced by the rubbing of two sticks but particularly as the all-pervading and immortal principle obtaining each and every object in the world.[18] He, no doubt, enkindles the fire and offers his oblations to it. But, while doing so, he visualizes from behind the burning fire the unique divinity constituting the soul of the gods. He characterizes visions like this as representative of the reality of things.[19]

He was so actively involved in the actual process of the world that his spiritual force was compared to the golden movement of the sun. Just as the sun cannot be stopped in its movement, so Viśvāmitra cannot be resisted in his spiritual march.

He was by no means a seer living on sheer ideation lying in abstraction from the actuality of things. He dwelt in actuality and saw the reality of things through it. For the sake of this type of vision he kept constantly awake while enkindling the fire. In fact, the constantly burning fire symbolized the continuous wakefulness of the consciousness.[20] It was in this state of constant inner wakefulness that he received from the heaven and the earth that truth which his predecessors, the truth-speaking seers, discovered therein.[21] The heaven and the earth both according to the seer, are governed by the principle of order and movement. They both are, therefore, laden with truth. By coming into close

---

15. जन्मना जातवेदा । *R.V.* III.26.7.
16. त्रिभिः पवित्रैरपुपोद्धय र्कं हृदा मतिं ज्योतिरनु प्रजानन् ।
वर्षिष्ठं रत्नमकृत स्वधाभिरादिद् द्यावापृथिवी पर्यपश्यत् ।। *Ibid.*, III.26.8.
17. महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः ।। *Ibid.*, III.53.9.
18. जन्मन् जन्मन् निहितो जातवेदा विश्वामित्रेभिरिध्यते अजस्रः ।। *Ibid.*, III.1.21.
19. समिद्धे अग्नावृतमिद्वदेम महद्देवानामसुरत्वमेकम् ।। *Ibid.*, III.55.3.
20. तं त्वा विप्रा विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
हव्यवाहममर्त्यं सहोवृधम् ।। *Ibid.*, III.10.9.
21. उतो हि वां पूर्व्या आविविद्र ऋतावरी रोदसी सत्यवाचः । *Ibid.*, III.54.4

contact with them at the deeper level through constant inner wakefulness, one is able to establish an inner correspondence with them. Vedic *mantra-s* are the articulate form of the ideas emerging from this correspondence. It is, in the seeing of such *mantra-s* through control over one's mind and accomplishment of good acts that lies the secret of seerhood. Such seers indeed moved from the mundane to the world of order as quickly as the air sped up by the mind. It is they, indeed, who have created the heaven, as it were.[22]

According to Dīrghatmas, Vedic *mantra-s* obtain originally in the highest ether wherein also dwell the gods. One who does not know this secret, Dīrghatmas observes, his whole study of the *mantra-s* is futile. On the contrary, the seer continues, those who understand this secret, are eventually elevated to the heaven themselves.[23] In the same spirit Viśvāmitra also observes that the *mantra* in its pristine purity is born in the heaven and that it gets awakened when recited in course of sacrifice. Here she gets clad in white lustrous dresses. In its origin, it is timeless and is received by him through his heritage.[24] As has already been pointed out, heaven of Viśvāmitra or indeed of any Vedic seer, corresponds to the highest point in his psychic being. As heaven is the repository of all *mantra-s* as well as gods, even so this point in the psychic being forms the source of *mantra-s*. Emanating from that source, they take shape through articulation which in view of its faultlessness is described here as a white lustrous garment. The garment 'the *mantra* is clad in, may be new but the wisdom expressed through it is only a heritage having already been received by his forefathers'.

It is made clear in yet another *mantra* in which one is asked to offer to Agni the word which is primeval as well as great.[25] That this word might be celebrated *'Om'* there is much possibility of it. Needless to point out that the word *'Om'* occurs several times even in the *Yajurveda*. In Ṛgvedic recitations, it is just proposed. The long and invariable tradition must carry weight in favour of this word having been in prevalence at the time of composition of the *Ṛgveda* as well. Being monosyllabic, it is worth identifying with the *akṣara* of Dīrghatamas as quoted above. The *akṣara*, as observed by the seer, obtains in the highest ether. So does *Om* by virtue of being the broadest primary word to be carved out of the sound-content of the ether. Beginning with the guttural *'a'* and ending with

---

22. इनोत पृच्छ जनिमा कवीनां मनोधृतः सुकृतस्तक्षत द्याम्।
इमा उ ते प्रण्यो ३ वर्धमाना मनोवाता अध नु धर्मणि ग्मन्।। *Ibid.*, III.38.2.

23. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।। *Ibid.*, I.164.39

24. दिवश्चिदा पूर्व्या जायमाना वि जागृविर्विदथे शस्यमाना।
भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धीः।। *Ibid.*, III.39.2.

25. प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्।। *Ibid.*, III.10.5.

labial *'m'* by passing through the palatal 'u', it compresses in it the total possibility of articulation and sound in the vocal organ which indeed may be treated as the microcosmic form of the ether. Cosmic creativity of *'Om'* is also implicit in Viśvāmitra primeval great word in the second hemistich of the *mantra* quoted above. Here the offering of the word to Agni is compared to doing the same for the creator who as the *mantra* observes, bears in him all the illuminations of *mantra-s.*[26] Thus the offering of the word to Agni is justified on the ground of its luminosity. Just as Agni is luminous physically, even so the creator is luminous on account of his being laden with knowledge. Surging out of that knowledge when *Om*, as the summary form of the same would be offered to Agni, it would naturally open up the cognitive content of Agni's illumination. As a result of it, the illumination of Agni would be transformed into the illumination of consciousness.

As regards his way of composing *mantra-s*, it is brought out by Viśvāmitra through the simile of manufacturing of the chariot by the carpenter. "I envisage an Idea or *mantra*", he observes, "like a carpenter manufacturing the chariot, and I rush with the task like the well trained racing horse".[27] Through this meticulous and speedy action what he acquires is something higher and delightful. It is, of course, so amazing that having acquired it, he feels the necessity of meeting other profound seers for further clarification and consolidation of the position.[28] It is this intercommunication amongst the seers which indeed is one of the reasons behind the uniformity of ideas and styles in the whole of the *Ṛgveda Saṁhitā*.

The efficacy of gods in the revelation of *mantra-s* lies in making available to the seer what is moving in complete abandon in his psychic horizon. This is brought out by one of his *mantra-s* in which he observes that the wise god has made available to me the higher idea or *mantra* like a milching cow moving unguarded and in isolation.[29] The simile obviously brings out the state of rapt attention and abandonment in which the seer comes accross the *mantra* effortlessly and spontaneously. He does not create the *mantra* but only finds it by the grace of some divine agency. Instead of composing it, he just sees it. This process of seeing of *mantra-s* finds a direct exposition in one of Dīrghatamas's *mantra-s* in which he observes that he did not know what he was like and was moving in mental isolation and that in this state of things he got the *mantra-s* with the agency of the gods.[30] Viśvāmitra himself observes at another place that he

---

26. विपां ज्योतींषि बिभ्रंते न वेधसें ।। *Ibid.*, 3.10.5

27. अभि तष्टेंव दीधया मनीषामत्यो न वाजी सुधुरो जिहांनः ।। *Ibid*, III.38.1.

28. अभि प्रियाणि मर्मृशत्परांणि कवीरिच्छमि संदृशें सुमेधाः ।। *Ibid*, III-38.1

29. प्र में विविक्वाँ अंविदन्मनीषां धेनुं चरन्तीं प्रयुंतामगोपाम् ।। *Ibid*, III.57.1

30. न वि जांनामि यदिंवेदमस्मिं निण्यः सन्नंद्धो मनंसा चरामि ।
यदा मागंन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अंश्नुवे भागमस्याः ।। *Ibid*, 1.164.37

produces *mantra-s* only then the receptivity for them is stimulated in him.[31]

What the seer attains on the metaphysical side through the type of *sādhana* discerned above, is the direct experience of the one supreme Being, the eternal source and controller of all. In one of the *mantra-s* he observes that he has understood intimately the eternal and primeval one who is the creator of our great forefather even; through their action the gods are just offering their prayer to Him; they are on the broad way to Him.[32] Similarly, in another *mantra* in the same context he observes that the whole of the world, no matter whether mobile, constant, walking or flying, is being controlled by one Being from which the entire world of multiplicity has arisen.[33] The same Being he calls elsewhere as the mighty Divinity of gods.[34]

To understand the supreme unifying principle behind the world of multiplicity and variety is the ultimate objective of the quest for knowledge and this was achieved by Viśvāmitra quite obviously. Beyond that he has achieved in this respect, the humanity has not progressed any further except for elaborating on it. The supreme Being thus discovered by him is put in the neuter gender despite the possibility of being put either in the masculine or in the feminine gender. This shows that the vision of the seer went ahead of monotheism also, not to say of polytheism. Indeed he is basically monistic in his outlook and takes resort to polytheism by way of explaining the multiplicity of things in the world. Gods are the supervening agencies of the natural phenomena and via them the world is not only being controlled and operated but is also to be transformed eventually. Sacrifice, according to the seer, is one of the tools of this transformation. Through it the worldly is to be transformed into the Divine. "He is the better sacrificer", the seer observes, "who performs the sacrifice along with the understanding of the birth of gods".[35]

That the philosophical vision of the seer was not only metaphysical but was also very well grounded in the understanding of the physical, is evident from a number of his casual references. For instance, as is obvious from one such reference, the earth, according to him, bears in it immense wealth of different varieties.[36] Similarly in another *mantra* he attributes the creation of the world to Agni and considers it as surpassing all in might.[37] This reminds us of the cosmic

---

31. विवेष यन्मा धिषणा जजान।। *Ibid*, III.32.14.
32. सना पुराणमध्येम्यारान्महः पितुर्जनितुर्जामि तन्नः।
देवासो यत्र पनितार एवैरुरौ पथि व्युते तस्थुरन्तः।। *Ibid*, 3.54.9
33. एजद् ध्रुवं पत्यते विश्वमेकं चरत्पतत्रि विषुणं वि जातम्।। *Ibid*, III.54.8
34. महद्देवानामसुरत्वमेकम्। Ibid, III.55.1.
35. सेदु होता सत्यतरो यजाति यथा देवानां जनिमानि वेद। *Ibid*, III.4.10.
36. पुरू वसूनि पृथिवी बिभर्ति। *Ibid*, III.51.5.
37. चक्रियों विश्वा भुवनाभि सासहिः। *Ibid*, III.16.4.

ball of fire which, according to modern science, has exploded into clusters, galaxies, stars and planets. Lastly, it is Viśvāmitra who for the first time has articulated the state of complete withdrawal by the word *śūna* which is the basis of the important mathematical term *śūnya*, zero.[38]

---

38. शूनमारंताम् । *Ibid*, III.33.13.

III

Interpretation of the Legend of Śunaḥśepa

The story of Śunaḥśepa occurs in the 33rd chapter of the *Aitareya Brāhmaṇa*. According to it, there was a king known as Hariścandra. He had no son. He was advised by sage Nārada to pray to Varuṇa for getting the son and promise also to sacrifice the same to him. He did so and readily came the favourable response from the deity. In course of time the child was born and was named Rohita. Immediately came Varuṇa asking him to offer the new born baby in sacrifice. The king was quick enough to borrow time by asking the deity to wait until the child was ten days old under the plea that the animal is also not sacrificed until it is at least ten days old. After ten days when the deity approaches him again, he seeks to postpone the offering under the plea that the child must cut teeth before it is worthy of being sacrificed, since the same is true of animals. When the child cuts teeth and the deity asks the king again to fulfil his promise, the latter takes recourse to the plea that the same cannot be done until the child has its first teeth fallen down, since so is done in regard to animals. The first teeth having fallen down when Varuṇa approaches him again, the king postpones the matter by telling him that he ought to wait until new teeth have come out. This even having been fulfilled, when the deity comes to him again, the king prays him to wait until the boy grows to the age of putting on armour. This too having happened, when the deity approaches him next and the king puts accordingly the proposal before Rohitas, the latter escapes to the forest and remains there wandering for a year.

As a punishment for the breach of the promise Varuṇa curses the king with *jalodara*, a disease of the stomach. Having heard of it, Rohita returns to the village to offer himself to the deity and thus alleviate the suffering of his father. But under the advice of god Indra who appears there in the human form, he goes back to the forest and resumes wandering from place to place for six years as sustained by yearly advice of the deity.

Eventually in course of his wanderings he comes upon a recluse namely Ajīgarta, the son of Suyavas. The famishing Ajīgarta has three sons, namely, Śunaḥpuccha, Śunaḥśepa and Śunaḥlāṅgūla. Rohita proposes to Ajīgarta to spare one of his sons in exchange for something, probably cows, numbering one hundred. He accepts the proposal but declines to give over his eldest son. The mother on the other hand, refuses to part company with the

youngest one. Thus remains Śunaḥśepa for being purchased and brought to the village.

Having returned to the village Rohita communicates his intention to the king who in turn seeks the consent of Varuṇa. The latter agrees to the substitution and asks the king to make the offering of man in place of animal on the occasion of *Rājasūya* sacrifice. The royal sacrifice is in the long run scheduled to be performed under the priesthood of such Vedic seers as Viśvāmitra, Jamadagni, Vasiṣṭha and Agastya.

When Śunaḥśepa is brought to the sacrificial ground, no one dares to tie him to the sacrificial post. Then Ajīgarta offers to accomplish this task also, provided he is given one hundred (cows?) again. This having been agreed to and accomplished, there comes the stage of striking the human victim with the sword. No one dares to come forward for this heinous act. Then Ajīgarta again offers to accomplish this task also for a fee amounting to the above. This having been agreed to and the sword being sharpened by the father, Śunaḥśepa comes to apprehend the inhuman behaviour he is going to be meted out. With this anticipation and the sense of betrayal and helplessness from the side of humanity, he turns his attention for succour to the Divinity. First of all he prays to Prajāpati who in his turn asks him to pray to Agni as the latter is nearest to man. On moving to Agni he is asked by the latter to pray to Savitṛ as he is the Lord of all stimulations. Savitṛ, being prayed to, asks him to move to Varuṇa as he has actually been offered to the latter. On doing so, he is advised by Varuṇa to go back to Agni again since the latter serves as the mouth through which gods receive what is offered to them. Agni in his turn asks him to pray to the Viśvedevāḥ who, being thus prayed to, instructs him to move to Indra as the latter is the most powerful amongst gods. Being approached thus, Indra asks him to move on to the Aśvins. The latter in their turn direct him to Uṣas with the promise that on her being prayed to, they would set him free. When he prays to Uṣas by three verses at last, he gets his three knots untied one after the other. Simultaneously the king also gets cured of his disease.

Being overwhelmed by the event of his redemption, the sages serving as priests, ask him to act as the chief priest in the sacrifice. He does so and recites a number of *mantra-s*, some of these being attributed to him while two of these being attributed to Vāmadeva and Atri as occurring in *Ṛgveda*[1] respectively. Being pleased with the success of the son, Ajīgarta feels proud of him and asks Śunaḥśepa to go to Viśvāmitra and sit in his lap who in his turn declares him as his own son and makes him the most important amongst his sons. When Ajīgarta asks Viśvāmitra to return Śunaḥśepa to him as he was his real father, Viśvāmitra refuses to oblige him by claiming that no more did Śunaḥśepa belong to him since he was given to himself as a divine gift. Instead of 'Śunaḥśepa' he further on re-names him as 'Devarāta'.

1. IV. 1.5. and V. 2.7.

As regards the signification of this story, the foremost which has been drawn in the modern times is to take it as a veritable proof of the prevalence of human sacrifice in ancient India. This is how Hillebrandt has dilated upon this story in his *Rituallitteratur* and *Vedisch Mythologie*. The ground for this inference is quite obvious. As a matter of fact, originally Rohita and subsequently Śunaḥśepa, as his substitute, were evidently slated to be sacrificed. If Rohita escaped the strike of the dagger, it was due to the ingeniousness of the king, presence of mind of Rohita himself and the tactics of Indra, all combined. The same in the case of Śunaḥśepa was entirely providential.

But at the same time it is also true that the human sacrifice proposed to be made here is not really intended. It is unwillingly conceded to as a way out of a greater malady. The king did not have a son and the only course left for him was to get one through the promise to the deity. Under the compulsions of the circumstance though he promised to sacrifice the child, his unwillingness for it is evident in his several postponements of the execution. And when he conceded to the execution at last, it was obviously under the threat to his survival. So is the case with Rohita and Ajīgarta. Rohita had to escape victimization while Ajīgarta had to survive the extreme poverty. And while doing so, none of them stands glorified. The king and Rohita just escape extinction of their lives while Ajīgarta stands publicly condemned. Thus the cumulative effect of the proposal and the transaction in the case of all the three is rather negative.

As regards the attitude of the gods themselves towards the human sacrifice, it too is negative. If there is anything doubtful in this regard, it relates to Varuṇa. .Otherwise all other gods, including Varuṇa himself later on, work for saving the life of the human victim. While Indra strives to save the life of Rohita, all of them, come together to protect the life of his substitute, Śunaḥśepa. As regards Varuṇa, if he put forth sacrifice of the child as the pre-condition of the king having one, it was obviously not out of his desire to relish the sacrifice but out of his keenness to test the eagerness of the king for the progeny. This is reflected in his conceding so many times to the postponement of the sacrifice by the king on so flimsy grounds as stated above and eventually in his striving himself for the redemption of Śunaḥśepa.

Thus the real motif of the story is not just to give an account of human sacrifice as such but to create an occasion for testing the relative strength of the instincts for progeny and self-protection and show the love and care of the Divine for the helpless in the human world. If the self-protective instinct of man happens to operate sometimes even at the expense of the life of the progeny, the Divine, if, of course invoked sincerely, is ready to provide its succour to the endangered helpless life. Return to the Divine is the ultimate solution of all problems, howsoever fraught with contradictions.

This conclusion, though missed so miserably by interpreters in the

modern times, is quite obvious from the sequel to the story in the Brāhmaṇa. According to it, the story is to be narrated to the king following his coronation. It is supposed to redeem him of all his sins committed towards both, the human and the divine. The same is instructed to be done even when the king has the last vestige of sin. The relevance of listening to the story in this context lies obviously in the supposition that it has the efficacy of removing whatever crimes against humanity the king might have committed in course of the fighting. By virtue of escaping the tragedy through the help of the Divine, Śunaḥśepa comes indeed to show the way out of the drudgery of life whatever.

This interpretation is further validated if we go to the root of the story in the *Ṛgveda*. Śunaḥśepa is indeed the seer of 97 *mantra-s* in *Ṛgveda*.[2] That he was somehow bound and tried to free himself from the bondage, has been referred to in these *mantra-s* several times. Once it is said that being bound to three pieces of wood Śunaḥśepa invoked Varuṇa and that, therefore, the deity may kindly set him free from the bonds.[3] In another *mantra* the number of pillars he is tied to is mentioned as thousand.[4] In yet another *mantra* it is the bonds rather than the pillars which have found mention and that as three in number.[5] In any case, mention of three bonds and three pillars is quite understandable. But when the number is raised to thousand, particularly in regard to the bonds, it begins to call for some other explanation, for thousand is not only an unwieldly number in this respect but is also symbolic of something innumerable in the Veda. Thousand or innumerable can obviously not be an actual number in the context of bonds applied to an individual. Its feasibility becomes further doubtful when we find the same Śunaḥśepa praying in another *mantra* to Agni not to set him free from a triple bond but to grant him something of the highest wealth, something of the middle and something of the lowest one.[6] If grant of the wealth can amount to setting free from a certain bondage, the latter must naturally stand for some sort of dearth rather than for any actual bond. The matter becomes clearer from yet another *mantra* where instead of bonds it is certain sins from which he wishes to be set free.[7]

Further light is shed on the nature of the bondage if we take into consideration the objective Śunaḥśepa wants to reach after his release.

2. *Ṛgveda*, 1.24-30
3. शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।
   अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद्विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान्।। *Ibid*, I.24.13
4. शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद्यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः।। *Ibid*, V.2.7.
5. उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं नि मध्यमं श्रथाय। *Ibid*, I.24.15.
6. आ नो भज परमेष्वा वाजेषु मध्यमेषु।
   शिक्षा वस्वो अन्तमस्य।। *Ibid*, I.27.5.
7. राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि।। *Ibid*, I.24.14.

Needless to remind ourselves that in the Brāhmaṇic story after being set free from the bondage he moves to Viśvāmitra and sits in his lap and refuses to part with it when asked for by Ajīgarta, his father. But in the Ṛgvedic account he craves for something much higher. Here he clearly states that he is beseeching for the divine help so as to be restored to the lap of Aditi where he can see his father and the mother.[8] It is indeed out of this desire that he starts thinking of breaking the shackles of bondage with the help of the Divine. In fact, the account of his sitting in the lap of Viśvāmitra as given in the Brāhmaṇa is a little out of the context. As per the Ṛgvedic details, Viśvāmitra, has nothing to do with the life or story of Śunaḥśepa. As such, scholars have so far been wondering why Viśvāmitra has been alluded to in the story at all. In fact, *Ṛgveda* being the basic source of the *Aitareya Brāhmaṇa* in which the story occurs, in any case it is the *Saṁhitā* which the Brāhmaṇa ought to have followed at each step. If, however, it departs from the account of the *Saṁhitā* at any point, that must be by way of substitution. Accordingly, what seems most probable is that the lap of Viśvāmitra is outright a substitute of the lap of Aditi. The choice on him for the substitution rather than on any other seer has him for the substitution rather than on any other seer has fallen partly due to his pre-eminence among the Vedic seers and partly due to his belonging to some royal family. Being a substitute of Rohita, the young prince, it was but in the fitness of things for Śunaḥśepa to have preferred the lap of Viśvāmitra, the royal seer. It was on account of this deliberate choice that he could eventually become the chief owner of the whole of India but for Andhra, Puṇḍra, Śabara, Pulinda and Mutiba to which the elder sons of Viśvāmitra were relegated.[9]

As regards the significance of restoration to the lap of Aditi, that indeed is immense and holds the key to the understanding of the story in the right perspective. Lap of Aditi is that primeval state of creation which serves as the line of demarcation between non-being or in other words the unmanifest and the manifest. Here lies the point of coincidence between the material and the efficient cause resulting thus in the monotheistic view of reality. As a Ṛgvedic *mantra* observes : "Non-being and Being lie in the highest heaven, in the birth of Dakṣa and the lap of Aditi. Agni is verily the first born of *Ṛta* and hence both the bull and the cow in his primeval life".[10] This oneness of the ultimate cause is also brought out by another *mantra* in the *Saṁhitā* relating to Aditi in which she is characterized paradoxically as the mother as well as the daughter of Dakṣa.[11]

---

8. कस्यं नूनं कंतमस्यामृतानां मनामहे चारुं देवस्य नामं।
   को नौ मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।। *Ibid*, I.24.1
9. *Ait. Brāh.*, XXXIII.6.
10. असंच्च सच्चं परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थें।
    अग्निर्ह'नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः।। *R. V.*, X.5.7.
11. अदितेर्दक्षों अजायत दक्षाद्वदितिः परि।। *Ibid*, X.72.4.

In yet another *mantra* the same idea gets a more comprehensive expression in which it is said: "Aditi is the heaven, Aditi is the mid region, Aditi is the mother, he is the father, he is the son; all the gods are Aditi, the five sorts of creatures are Aditi; Aditi is the born as well as what is yet to be born".[12] What is notable in this *mantra* is that here besides being characterized as father and mother Aditi is also said to be the son. Thus here not only the two causes but the effect is also unified in one and the same entity. Besides this causal unification, the spatial extension and the temporal continuity are also brought together and unified in her by characterizing her as the heaven and the mid region on the one hand and the past and the future on the other. Thus according to the *mantra*, whatever anywhere was, is and will be, is Aditi, meaning undivided Reality. Though appearing as divided and distributed in space and phased in time, she really remains all the same in her integrality. If there is any difference between the apparent and the real in the integrality of her being, it lies in the former's proneness to birth and death in contrast to the immortality of the latter. This is explicit in that account of her in the Saṁhitā where it is said that while departing alongwith her seven sons to the primeval age Aditi left behind her the eighth, namely Mārtaṇḍa for birth and death.[13]

Now it is this vortex of birth and death in which Śunaḥśepa feels himself to be caught. Fear of death, particularly the untimely one, haunts his mind. He is particularly afraid of the wicked who have an evil eye on him from far and near both. He prays to Agni, the custodian of all life, to protect him from them.[14] Be it noted here that the enemy he is affraid of is not only close to him, as the Brāhmaṇic story implies, but also quite afar from him as is the actual position in life. He is quite sure that he can reach the lap of Aditi not through untimely death but by living a full life during which he would have proper opportunity to get rid of sins through noble action. This is why he prays to Varuṇa to show him the right path so that he may get his life prolonged.[15] It is for the sake of living a full life that he implores upon Varuṇa to set him free from the three bonds, the upper, the middle and the lower.[16] The long and full life, however, is intended, not only for getting rid of sins but also for acquiring certain higher values of life. He prays to Varuṇa not only for driving away the agency of dearth and lawlessness and

12. अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।। *Ibid*, I.89.10.

13. सप्तभिः पुत्रैरादितिरुपप्रैत् पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवै त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत।। Ibid, X.72.9.

14. स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः। पाहि सदमिद् विश्वायुः।। Ibid, I.27.3.

15. स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्।
प्र ण आयूंषि तारिषत्।। Ibid, I.25.12.

16. उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत। अवाधमानि जीवसे।। Ibid, I.25.21.

making him free of sins but also for enabling him to attain to the height of values,[17] the values which lie beyond condemnation and enmity.[18]

With a view to attaining to these objectives of long life, sinlessness and higher spiritual values he moves from god to god hurriedly. The hurry which he shows in this respect is not due to fear from the impending fall of the dagger of his father Ajīgarta, as the Brāhmaṇic story tells us, but due to his vision of the relative shortness of the span of life for accomplishing the colossal task of redemption from the snare of birth and death. This part of the Brāhmaṇic story in which Śunaḥśepa is sent from god to god hurriedly by the gods themselves one after the other is indeed based not on any such urgency of the actual situation as the story gives us to understand but on the fact that in the *Saṁhitā* the hymns attributed to Śunaḥśepa are addressed to so many gods within a short span of just 97 *mantra-s* and are arranged in the same order as is the sequence of gods in the story.

According to the Brāhmaṇic story, all the 7 *mantra-s* ascribed to Śunaḥśepa are produced in the context of his release from the sacrificial post. But if we go through their contents carefully, the contention of the story becomes a suspect. For instance, if the *mantra-s* were produced in the context of the actual sacrifice, it was but natural for Śunaḥśepa to have uttered everything in the singular rather revengefully as he was mercilessly singled out for killing from the whole of the contemporary humanity. But as against this possibility what we find as a matter of fact is that he expresses himself more after in the plural than in the singular. In the very first *mantra* he proposes in the plural to sing in praise of that one amongst gods who can take all of them to Aditi where they can see their father and mother together.[19] The same plurality of the praying agent is maintained in the second and third *mantra-s* also. In the second and fifth *mantra-s* the plurality is obvious through the pronominal as well as verbal expression leaving thus little scope for doubt regarding the multiplicity of the persons on behalf of whom the prayer is offered. Again in the ninth *mantra* he prays to Varuṇa on behalf of many to set them free from all the sins they might have committed.[20] In the concluding two *mantra-s* of the hymn also the seer speaks in the plural praying to Varuṇa to make them free of all the sins and thus

---

17. मूर्धानं राय आरभे।। *Ibid*, I.24.5.
18. यश्चिद्धि तं इत्था भगः शशमानः पुरा निदः।
अद्वेषो हस्तयोर्दधे।। *Ibid*, I.24.4.
19. *Ibid*, I.24.1.
20. अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।। *Ibid*, I.24.2.
अभि त्वा देव सवितरीशानं वार्याणाम्।
सदावन् भागमीमहे।। *Ibid*, I.24.3.

render them sinless in the eyes of Aditi.[21] In the next hymns also he maintains the same plurality of the agent through the expressions *minīmasi, karāmahe, āyūṁṣi, asmākam, manāmahe, smasi, havāmahe, vayam, uṣmasi,* and *asme.* This shows that in his prayer Śunahśepa speaks not only on his own behalf, as was expected in keeping with the Brāhmaṇic story, but on behalf of probably the whole of the humanity. Meanwhile he makes use of the singular also a few times through the expressions *yāmi, mahyam, cake* and *huve* which, however, are quite few in number. Since the seer is in any case a singular person, his use of the singular number for himself is natural. As such, use of the plural and that also much more frequently suggests that he at the moment is speaking much more on behalf of others than on his own behalf. And this was not probable under the circumstances he was put in as per the Brāhmaṇic story.

The seer of some of these *mantra-s* alludes to Śunaḥśepa in a way as if the latter were entirely different from him. For instance, once he observes that Varuṇa may kindly release him who was invoked by Śunaḥśepa under arrest.[22] Similarly, in the immediately following *mantra* again he speaks of Śunaḥśepa in the same manner as if the latter were someone else and were bound to three posts.[23] Statements like these need not be taken as indicative of someone else speaking in place of Śunaḥśepa quite posterior to him, so much posterior, of course, as to have been rendered into a mythical personage. This would obviously go counter to the traditionally admitted view of Śunaḥśepa as the seer of all these ninety seven *mantra-s* together. And to treat the inconvenient ones from amongst them as interpolations, does not only betray one's ignorance of them but is extremely pernicious for the text.

A solution to this problem can be found out by taking into consideration the mode of expression adopted by some other seers of the *Saṁhitā*. In this regard an interesting example is to be found in the famous Gambler's Hymn. Here one and the same seer presents himself in a double role, posing himself sometimes as a gambler undergoing all the trials and tribulations accruing out of his abominable pursuit and at others as one observing dispassionately the horrors of the life of the gambler. Just as an actor offers himself willingly for all sorts of roles, howsoever unpleasant and morally detestable, even so for the sake of dramatic effect the Vedic seer is likely to depict himself as the object as well as the subject of his composition. This tendency of objectification of oneself

---

21. कृतं चिदेनः प्र मुमुग्ध्यस्मत् ।। *Ibid*, I.24.9.
22. अव ते हेलो वरुण नमोभिरव यज्ञेभिरीमहे हविर्भिः । ३
    क्षयन्नस्मभ्यमसुर प्रचेता राजन्नेनांसि शिश्रथः कृतानि ।।
    उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
    अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ।। *Ibid*, I.24.14-15.
23. शुनःशेपो यमह्वद् गृभीतः सो अस्मान् राजा वरुणो मुमोक्तु ।। *Ibid*, I.24.12.

by the author in course of his composition re-appears later on in the medieval Hindi poetry in the form of the poet inserting his name in his composition in a way as if someone entirely different from him were being just referred to or quoted.

As such, the story of the bondage of Śunaḥśepa appears to be a tale concocted by the Brāhmaṇa on the basis of certain expressions in the *mantra-s* bearing out the seer's objectification of himself undertaken for dramatic effect. Kindred to Śunaḥśepa are the cases of Atri falling in an informal pit, Ṛjrāśva getting blinded by his angry father, Gotama getting so thirsty as to be provided water by the Aśvins, and Dīrghatamas being floated by his sons on a wooden plank. Even the name Śunaḥśepa, dog's tail, appears to be one assumed by the seer in view of his realization of the futility of life if bereft of view of his realization of the futility of life if bereft of the Divine touch. Though the names of all the three sons of Ajīgarta convey the common meaning of 'dog's tail', the pathos of Śunaḥśepa's life is all the more enhanced by his being disowned by his father and mother even. This state of utter dissociation and disillusionment, showing the utter uselessness of life otherwise, is created as the pre-condition of the descent of the Divine bringing to him in its trail a number of nice things besides infusing a meaning in his life. As a cosequence of the descent, he gets re-designated from 'dog's tail' to the 'divine gift' and elevated in his parenthood from Ajīgarta to Viśvāmitra.

Self-denial has indeed been taken in the Vedas as the surest way to true knowledge and redemption. Falling in the pit, the fire or the water is symbolic of the denial leading to dissolution of the ego. It is only after the process of denial and dissolution is completed that there is the manifestation of the Divine. The celebrated *Ṛgvedic* seer Dīrghatamas, for instance, observes that he did not know what he was and that he wandered around as a cart drawn by the mind as a horse. It was in this state of complete self-denial and egolessness that the Divine dawned upon him along with the words of wisdom preserved in the *Saṁhitā* in his name.[24] Similar, to my mind is the case of Śunaḥśepa. Naming of him as 'dog's tail', desertion of him by his parents, attempt of the king to offer him in the sacrifice, all these seem to be intended to shake the ego-sense of the individual to the extent as to get him shown of all disillusionments of the mortal world and make him inclined to seek the final resort in the immortality of the Divine.

Sacrifice itself in the Vedas is a symbolic act standing for self-offering, self-transformation and self-elevation. The key to its symbolism may be had in the famous Hymn to Puruṣa. Here God is said to have offered himself in the sacrifice of the cosmic creation. It was through his self-sacrifice that the creation came into being. Now if God transformed himself into the creation through

---

24. शुनः शेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः ।। *Ibid*, I.24.13.

sacrifice, the creature also has the way out for self-transformation and restoration to godhood through it. This is what happens in the case of Śunaḥśepa. If the God of the Hymn to *Puruṣa* offers himself to be transformed as the world, Śunaḥśepa offers himself so as to be elevated to the lap of Aditi, the Divine Creatrix. In both the cases the host of divine beings plays the role of the agency of transformation.[25] While in the case of Śunaḥśepa the gods are prayed to set him free so as to enable him to reach the lap of Aditi, in the case of the *Puruṣa* it is through the agency of the gods that he is offered in the cosmic sacrifice.

Thus Śunaḥśepa is bound not to be done to death but to be redeemed from mortality. He is like the *Puruṣa* of the *Sāṁkhya* bound by the *Prakṛti* only to be redeemed for ever. All the hues and cries made by him in the state of bondage are just preparatory to attaining to the state of final redemption. As such, the three bonds of Śunaḥśepa, as mentioned above, may be taken as prototypel of the three *guṇa-s* of the *Sāṁkhya* which as strands of the *Prakṛti* go to blind the *Puruṣa*.

Lastly, there is broad akinness between Śunaḥśepa and the *Sāṁkhya's Puruṣa* in regard to the state of redemption also. When disengaged from *Prakṛti* the *Puruṣa* is supposed to attain to the state of eternal solitude, *kaivalya*. Similarly after being released from the clutches of the mortals described as three-fold and thousand-fold, Śunaḥśepa has the promise of attaining to the lap of Aditi which is characterized elsewhere in the *Sāṁhitā* directly with reference to Śunaḥśepa himself as the state of eternal peace[26]. This *mantra* indeed, as the solitary reference to the seer besides his own *mantra-s*, gives the quint essence of his whole story. Here the threefold bond becomes thousandfold and the lap of Aditi comes to be characterized as the state of eternal peace. As such, this reference must be later than the actual compositions of the seer Śunaḥśepa. And this is an obvious jolt to the myth created in the modern times that the fifth *maṇḍala* of the *Sāṁhitā* is necessarily anterior to the first one. For what is recounted in detail by Śunaḥśepa as a matter of self-experience in the first *maṇḍala*, the same is put in a summary form and referred to as an event of the past by seer Ātreya in the fifth *maṇḍala*.

---

25. न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः।। *Ibid*, I.164.37.

26. तेनं देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। *Ibid*, 10.90.7.

पुराण साहित्य

प्रो. प्रमोद गणेश लाले

प्राचीन काल से "पुराण" शब्द विशेषण के रूप में आता था, किन्तु अथर्ववेद से लेकर उसके कुछ साहित्यिक रूप प्राप्त होने लगे। अथर्ववेद में इतिहास, पुराण, नाराशंसी, गाथा– ये शब्द बहुत बार आये हैं। शतपथ ब्राह्मण में पारिप्लव के नौवें दिन की एक विधि यह है– **सानुपदिशति पुराणं वेदं सोऽयमिति किञ्चिन पुराणमाचक्षीत।** अत्यस्तोम के प्रसङ्‌ग में ध्रुवा, उर्ध्वा, दिशा में पुराणों को रखने का विधान है। मनुस्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों में पुराणों के उल्लेख हैं।

पुराण एक विकसन शास्त्र साहित्य बन गया। अब तक अट्ठारह पुराण माने गये हैं। अमरकोश की "पुराण" की व्याख्या बहुत से पुराणों में उपलब्ध होती है –

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्।।

कुछ पुराणों में "पुराण" शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है–

यस्मात् पुरा ह्यनीसीदं पुराणं तेन चोच्यते।।[1]
पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्।।[2]

पुराण के रचयिता व्यास कहे जाते हैं। व्यास ने अपने पाँचवें शिष्य सूत-रोमहर्षण को इतिहास पुराण पढ़ाये, जिनका उसने अपनी आकर्षक शैली में व्यापक प्रचार किया। सूत के कार्य का उल्लेख पुराणों में किया गया है।[3]

व्यास ने जिस पुराण का प्रस्थान किया था, उसको कालान्तर में निश्चित विषयों से युक्त

---

1. वायु पु., 1.2.
2. पद्म पु., 5.2.
3. स्वधर्म एष सूतस्य सद्भिर्दृष्टः पुरातनैः।
देवतानां ऋषीणां च राज्ञाञ्चामिततेजसाम्।।
वंशानां धारणं कार्यं श्रुतानां च महात्मनाम्।
इतिहासपुराणेषु दिष्टा ये ब्रह्मवादिभिः।।
वायु. पु. 1.31.22; पद्म पु., 5.1.27.

संहिता के रूप में प्रवर्तित कर दिया गया था। विभिन्न देशों और कालों में मूल पुराण संहिता का प्रणयन होने और शैव, वैष्णव, शाक्त सम्प्रदायों के आचार्यों द्वारा स्वीकृत किये जाने के कारण अनेक पुराण ग्रन्थों की क्रमशः रचना तथा उनका विकास होने लगा। प्रवक्ता के नाम या विषयों को लेकर उनके नाम पड़े। प्रवक्तृनाम वाले पुराण साम्प्रदायिक नहीं थे, पर प्रतिपाद्य विषय नाम वाले पुराण साम्प्रदायिक परिवेश में रचे गये थे। इसे उपबृंहण कहा गया है। यहाँ तक कि यह समझा गया कि वेदों का अर्थ जानना हो तो पुराण और इतिहास का ज्ञान अनिवार्य था। इस तरह पुराणों के प्रतिपाद्यों को वैदिक अधिष्ठान मिल गया–

इतिहासपुराणेभ्यां वेदं समुपबृंह्येत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्याति।।[4]

इसकी भी कई विधायें हुईं–

(1) पुराणों की कतिपय देवता-स्तुतियों में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग हुआ।

(2) कुछ पुराणों में वैदिक पदों के अर्थ साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से बताये गये। जैसे "प्रवणो धनुः"[5] का भागवत में या अग्निजिह्वाओं का मार्कण्डेय[6] में विकरण।

(3) त्र्यम्बकं यजामहे......मन्त्र के 'त्र्यम्बक' पद का अर्थ लिङ्पुराण में विशद रूप से बताया गया है[7]।

(4) सरस्वती का वर्णन उपबृंहण का उत्तम उदाहरण है।

विकास की धारा में और भी कुछ प्रवाह आकर मिलते रहे। इसमें धर्मशास्त्र के अनेक विषयों का समावेश कर लिया गया। दान, श्राद्धविधि, राजनीति से कई पुराण भरपूर है। वैष्णव पुराणों में वैष्णव तीर्थों तथा मतों का रूचिकर वर्णन देकर मोक्षार्थियों को स्वर्ग का मार्ग प्रशस्त तथा सुलभ बनाया गया है। उनका माहात्म्य वर्णन करने के लिए अनेक आख्यानों, उपाख्यानों का प्रवेश किया गया है।

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पजोक्तिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः।।

नारदपुराण में सदाचार, इष्टापूर्तधर्म, ज्ञान, प्रायश्चित आदि विषय हैं तो मत्स्यपुराण के 48 अध्यायों में शतायुष्य की विधियाँ बतायी गयी हैं। वराहपुराण में भी विविध धर्मों का वर्णन है[8]।

पुराणों के द्वारा और एक प्रकार का विश्वास दृढ़मूल हो चला था। यद्यपि भगवान् सर्वत्र

4. महा. आदि, 217
5. 7.15.42
6. 99.52.58
7. 1.35.16.35; 5.54.17.31
8. वराह पु०, अध्याय, 20–50

वास करते हैं, वह अपार करूणावृत्ति से कुछ विशेष स्थानों पर अवतार लेते हैं। इस अवतार में उनका प्रमुख उद्देश्य होता है– धर्म की प्रतिष्ठापना, अधर्म का विनाश, सज्जनों की रक्षा, दुर्जनों का नाश। विष्णु ने इस हेतु अनेक अवतार लिये हैं, जैसे मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, राम, कृष्ण आदि दस। अवतार के स्थान तथा वहाँ की नदियों का जल भी पवित्र हो गया। भारत भर में ऐसे सैकड़ों पुण्य स्थान या तीर्थ हैं जो विष्णु, शिव, देवी, गणेश आदि देवताओं की मूर्तिभूत सन्निथि से पवित्र हो गये हैं। तीर्थयात्रा करना धार्मिक पुण्य सम्पादन करने वाला एक उपाय बन गया। प्रत्येक स्थान की परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए तथा लोगों में धार्मिक प्रवृत्ति का परिपोष करने के लिए तीर्थयात्रा एक प्रमुख साधन बन गया। अयोध्या, द्वारका, काशी, कांची, प्रयाग, गया आदि तीर्थों के विस्तृत वर्णन, वहाँ से सम्बद्ध भक्तगण तथा भगवान् की अनेक कथायें पायी जाती हैं। भगवान् अपने भक्तों की इच्छा के अनुसार रूप धारण करते हैं। भगवान् का यह कथन प्रसिद्ध ही है–

> **त्वं भवयोगपरिभावितहृत्सरोज**
> **आस्से श्रुतोक्षितपथो ननु नाथ पुंस्त्वम्।**
> **यद्यद्धिया त उरूगाय विभावयन्ति**
> **तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।।**[9]

भागवत् में लगभग उन्नीस स्थलों पर भक्ति के उपादान बतलाये गये हैं। उनमें त्रिविधा भक्ति से लेकर 36 प्रकार की भक्ति बतलायी गयी है। उसमें भाव के साथ-साथ सदाचार का भी उपदेश है। उदाहरणार्थ, नारद ने प्रह्लाद को बारह प्रकार की भक्ति का उपदेश दिया है–

> **गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च।**
> ....
> **एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे।**
> **वासुदेवे भगवति यया संलभते रतिम्।।**

श्रीकृष्ण द्वारा उद्धव को दिये गये उपदेश में तेरह प्रकार की भक्ति बतायी गयी है।

भक्ति का यह जो वेगवान् प्रवाह उत्तर भारत में चला, उस पर दक्षिण के आलवार सन्तों का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। उन सन्तों में कृष्णलीला की मधुर झलक भागवत के कई सदियों पहले से पायी जाती है। भक्ति का कथन–

> **उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।**

का अर्थ प्रत्यायन दृष्टि से ठीक तरह से हो सकता है।

अवतार लीला का रोचक वर्णन पुराणों में मिलता है। अनेक आख्यानों तथा उपाख्यानों ने इस रोचकता को बढ़ाया है। इस तरह वैदिक आचारों में कुछ परिवर्तन करके उनको सर्वसामान्य लोगों के लिए आचरण सुलभ बनाया।

---

9. भागवत, 4.1.4.

वेदों की यज्ञविधि गौण बन गयी और मोक्ष पाने के और कुछ साधन प्रशस्त हो गये। धर्मशास्त्रों में दान का माहात्म्य है। पुराणों ने आख्यानों की सहायता से उनका जनसामान्य में प्रचार करने का सफल प्रयास किया था। इसमें अनेक लोकोपकारी कार्यों का अन्तर्भाव हुआ, जिनको पूर्त कहा जाता है, जैसे–

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमर्थिभ्यः पूर्तमित्यभिधीयते।।[10]

इसी प्रकार परोपकार की महिमा पुराणों ने भी गायी है–

न स्वर्गे ब्रह्मलोके वा तत्सुखं प्राप्यते नरैः।
यदार्तजन्तुनिर्वाणदानोत्थमिति मे मतिः।
यज्ञदानतपांसीह परत्र च न भूतये।
भवन्ति तस्य यस्यार्तपरित्राणे न मानसम्।।[11]

पुराणों में भक्तिः

भगवान् के अवतारों की महिमा ने भगवद् भक्ति का भाव उत्पन्न किया। भक्ति कई गुणों का एक सामूहिक व्यपदेश है, जो भगवत्प्राप्ति के लिए अनिवार्य है। सभी पुराणों में भगवान्, भक्त, भक्ति की प्रशंसा पायी जाती है, पर भक्ति एक अक्षयनिधि है भागवतपुराण में। इसमें कृष्ण भक्ति की पराकाष्ठा पुराणों की एक लक्षणीय विशेषता है– उनका विश्वकोशात्मक रूप। पुराणों ने धीरे-धीरे इनसाइक्लोपेडिक (Encyclopaedic) रूप ले लिया। पुराणों को नित्य नूतन बनाने के लिए साम्प्रदायिक या पारम्परिक विषयों के साथ वैज्ञानिक जानकारी भी प्रविष्ट कर दी गयी। इससे तत्कालीन धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, विज्ञान सामान्य लोगों के लिए भी सुलभ बन गया। पुराणों की ज्ञानसंकलन की इस प्रवृत्ति से सचमुच एक क्रान्ति को गयी। वेद-वेदांगों का वर्णन तो है ही पर छन्दः शास्त्र : व्याकरण[12], छन्दशास्त्र,[13] ज्योतिशास्त्र (नारद और विष्णुधर्मोत्तर) आदि शास्त्रों की सुगम शैली में चर्चा की गयी है। भविष्यपुराण में कल्पसूत्रों के विषयों का सटीक वर्णन है, षड् दर्शनों, विशेषतः सांख्य–योगों की चर्चा, तो प्रायः हर पुराण में पायी जाती है। वेदान्त के सभी सम्प्रदायों का वर्णन पुराणों में आया है। चित्र तथा शिल्प के शास्त्र का प्रामाणिक विवेचन विष्णुधर्मोत्तर पुराण में आया है। अग्नि[14], मत्स्य[15] आदि में मूर्तिविज्ञान अथवा प्रतिमाशास्त्र का विवरण पाया जाता है। पुराणों के विकासकाल में आगमों के उपर्युक्त विषय भी पर्याप्त विस्तृत हुए थे।

डॉ. हाजरा ने स्मृतिविषय और पुराणों में उनके निर्देश इस विषय पर दो पुस्तकें लिखी हैं। पुराणों में आन्ध्र, गुप्त राजाओं की वंशावली यथातथ्य पायी जाती है। इस प्रकार पुराण साहित्य

---

10. अग्नि पु., 201.3
11. मार्कण्डेय पु., 15.57.62
12. अग्निपु., 345-359
13. गरुड़, 207-212
14. 44-55
15. 258-262

एक जनसाहित्य हो गया। शस्त्र, शास्त्र, विज्ञान, नीति आदि विषयों का ज्ञान जनसामान्य तक पहुँचानें का महान् ऐतिहासिक कार्य पुराणों ने किया है।

महाभारत तथा पुराणों में एक श्लोक प्रसिद्ध है–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं महरिष्यति।।[16]

वेदमन्त्रों के द्वारा प्रतिपादित अर्थ, सिद्धान्त तथा तथ्यों का विस्तार तथा परिपोष पुराणों में किया गया है। इसके आयाम इस प्रकार हैं–

(क) पुराणों में भिन्न-भिन्न देवताओं की जो स्तुतियाँ हैं, उनमें कई स्थानों पर वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ – वायुपुराण के 55वें अध्याय की शिवस्तुति में बहुत से पद गुम्फित हुए हैं।

(ख) पुराणों में वैदिक मन्त्रों की कई प्रकारों से व्याख्या की गयी है। पुराणों को इससे एक दृढ़ प्रामाण्य मिला तथा उनके आचारों तथा दैवतविचारों की अनुष्ठेयता को समाज में विशेष आदर प्राप्त हुआ।

(1) कुछ व्याख्याओं में मूल वैदिक पदों में परिवर्तन किया गया। पुरूष सूक्त की **'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्'** पंक्ति को **'सर्वव्यापी भुवः स्पर्शादत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्'** कर दिया गया[17]।

(2) **'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्'**[18] का उल्लेख पद्मपुराण[19] में 'वेदगुह्यम्' कहा गया है। भागवत पुराणों[20] में उपनिषद् के 'प्रणवोधनुः' की – **'धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति, शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम्'** कहा गया है। **'बृहरदारण्यके आत्मानं चेद्विजानीयात्.........शरीरमनुसंज्वरेत्'** पद हैं। उनके बदले 'देहं पुष्णाति लम्पटः' – कहकर मूल पद का अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है। **'द्वा सुपर्णा–'** इत्यादि प्रसिद्ध पद को इस तरह स्पष्ट किया गया है–

सुपर्णावेतो सदृशो सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलमन्यमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्।।[21]

काली, कराली आदि अग्निजिह्वाओं का स्पष्टीकरण मार्कण्डेय पुराण में इस प्रकार किया गया है।[22]

काली कालनिष्ठाकरी

16. आदि, 1.267
17. विष्णु., 1.12-58
18. ऋग्. 1.164.29
19. VI.255-66
20. 7.15.142
21. भाग. पु., 11.11-16
22. 99.52-58

कराली	महाप्रलयकारणा
मनोजवा	लघिमागुणलक्षणा
सूत्रहिता	भूतों के लिए काम करने वाली
सुधूम्रवर्णा	प्राणिरोगदायिका
स्फुलिङ्गिनी	सब पुद्गलों की उत्पत्तिकारिणी

त्र्यम्बकं यजामहे – की लिङ्गपुराण में शैवशास्त्र के अनुसार व्याख्या की गयी है[23]–

त्र्यम्बकम्	त्रिलोक, त्रिमण्डल, त्रिगुण
सुगन्धिम्	पुष्प में गन्ध के समान सूक्ष्म होने के कारण सुगन्धि
पुष्टिवर्धनम्	प्रकृति आदि के वर्णन में हेतु होने के कारण

(3) कई व्याख्यानों में साम्प्रदायिकों ने अपनी रूचि के अनुसार परिवर्तन कर लिये हैं– **'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्ये'**[24] की व्याख्या पद्मपुराण में की गयी है,[25] जिसमें पुराणकार ने विष्णुलोक का वर्णन किया है–

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति।।

की यज्ञपरक व्याख्या भागवतपुराण में आयी है।[26] स्कन्दपुराण में भी (काशीखण्ड) शिववर्णन में यह मन्त्र दिया गया है।[27]

उपबृंहण का सबसे प्रबल उदाहरण है – सरस्वती का वर्णन। सरस्वती का जो नदी रूप वेदों में प्रकृष्ट था, उसके साथ-साथ पुराणों में उसके वाग्देवता रूप को अधिक प्राधान्य मिला। वेदों तथा पुराणों में आये हुए विशेषणों का अन्वीक्षण करने से यह बात ध्यान में आती है।

वैदिक	**पौराणिक**
वृत्रघ्नी, असुर्या, नदीतमा, देवितमा, वाजिनीवती, सप्तस्वसा, मरुत्सखा पावीरवी, भयोभूः सिन्धुमाता आदि।	ब्रह्मयोनि, ब्रह्मवासिनी, शब्दवासिनी, श्रुतिलक्षणा, विष्णोर्जिह्वा, रसना, परमेश्वरी भाषा, अक्षरा, गिरा, कविजिह्वाग्र-वासिनी अन्यबीजरूपा आदि

पुराणों ने विष्णु के अवतारों का विस्तार से वर्णन किया गया है। विष्णु के प्रायः दसों अवतारों के नाम पर एक-एक पुराण प्रचलित हुआ। उनमें उस अवतार के वर्णन के साथ-साथ अन्य विषय भी आ गये हैं, सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित। इनके वर्णन के प्रसङ्ग

23. 1.35, 16.30
24. ऋ०, 1.154.6
25. 6.250.70.73
26. 8.16.31
27. 73.93-96

में तत्कालीन प्रसिद्ध देवताओं, उनके भक्तों तथा राजाओं की विशेषता बतलाने वाली अनेक रोचक कथायें भी पुराणों में अन्तर्भूत हुई। इस सम्बन्ध में अन्य पुराणों का यह वचन द्रष्टव्य है–

आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः।।[28]

इन तृतीयान्त पदों से यह ध्वनित होता है कि पहले जो पञ्चलक्षण पुराण प्रसिद्ध था, उसके आख्यानादि को जोड़कर "पुराणसंहिता" को व्यास ने प्रणीत किया। आख्यान, उपाख्यान, गाथायें और कल्पशुद्धि– ये चारों लोकवृत्त प्रधान हैं, लौकिक विषयों की सुरक्षा और प्रचार को उद्‌देश्य मानकर लोककल्याण की इच्छा करने वाले व्यास ने पुराणों के साथ आख्यान आदि का संयोजन कर दिया है।

वेद और सूत्रग्रन्थों में शुनःशेप, सौपर्ण आदि की कथायें आख्यान कही गयी है, तो बृहद्रथ आदि के चरित उपाख्यान। ब्राह्मणग्रन्थों में बहुत सी गाथायें आती है। "कल्प" का विषय है धार्मिक अनुष्ठान सम्बन्धी विवरण। टीकाकार श्रीधर "कल्पशुद्धि" का अर्थ "श्राद्धकल्प" लेते हैं। ओझा और चतुर्वेदी उसमें धर्मशास्त्रीय विषयों का अन्तर्भाव करते हैं। कई विद्वान् कल्प में कर्मकाण्ड, नक्षत्र, वैतान, संहिताविधान, आंगिरसकल्प का भी अन्तर्भाव करते हैं। इनका समावेश होने के बाद व्यासपरम्परा में पुराणों का प्रवचन होने लगा और वे वेदप्रामाण्यवादी समाज में प्रतिष्ठा पाने लगे। व्यासकाल से ही ऐतिहासिक सामग्री पुराणों में समाविष्ट होने लगी थी। इतिहास, आख्यान, पुराण, धर्मशास्त्र आदि पूर्वकालीन पृथक् विषयों को कालानुसार प्रयोजन रूप में समाविष्ट करते हुए पुराणों ने एक विशाल किन्तु एकात्म रूप प्राप्त कर लिया।

इनके साथ-साथ दो और विषयों की भी चर्चा पुराणों में पर्याप्त मात्रा में हुई है। पहला विषय है व्रत। किसी विशेष दिन पर अनशन, देवतापूजन आदि का विधान प्रायः हर एक पुराण में पाया जाता है।

सभी मतों में दशविध कर्मों का पालन करना आवश्यक है–

क्षमा सत्यं दया दानं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
देवपूजाग्निहवनं सन्तोषोऽस्तेयमेव च।
सर्वमतेष्वयं धर्मः सामान्यो दशधा स्मृतः।।[29]

ये व्रत यज्ञों से भी श्रेष्ठ माने जाने लगे।

एकाहेनापि यद् भानोः पूजायाः प्राप्यते फलम्।
यथोक्तदक्षिणैर्विप्रैर्न तत्क्रतुशतैरपि।।[30]

भविष्यपुराण के ब्रह्मखण्ड में 7500 श्लोकों तथा उत्तर खण्ड में 5000 श्लोकों में विभिन्न व्रतों का विवेचन किया गया है।

---

28. विष्णु., 111.6.16; वायु.; 60.28, ब्रह्माण्ड; 1.74.1
29. अग्नि., 175.100
30. ब्रह्म., 29.61

व्रतों के समान महत्त्व अनेकानेक तीर्थों को प्राप्त हुआ है। पुराणों के द्वारा भगवद्भक्ति का प्रचार हो रहा था। लोगों का यह विश्वास बढ़ने लगा था कि भगवान् का वास यद्यपि सर्वत्र होता है, वह अपनी करूणवृत्ति के कारण तथा भक्तों के उद्धार के लिए कुछ विशिष्ट स्थानों पर अवतार लेते हैं। जहाँ-जहाँ उन्होंने अवतार लिया वे स्थान तीर्थ कहलाने लगे। तीर्थस्थलों की यात्रा करना, वहाँ पर भगवान् के प्रतीकों या उनकी प्रतिमाओं का दर्शन करना एक पुण्यकार्य समझा जाने लगा। भगवान् के कुछ लीलावतारों का वर्णन भारतीय परम्परा में अनुस्यूत था। तीर्थयात्रा के स्थानों पर जलाशय, वृक्षाराम, मन्दिर आदि बनवाये गये। इस प्रकार तीर्थ अनेक सामाजिक तथा धार्मिक गतिविधियों से गूँज उठे और धार्मिक जागरण के द्युतिमान् केन्द्र बन गये। तीर्थों की पुण्यता पर पुराणों में भी संक्षेप में कहा गया है। जैसे–

प्रभावाददद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसा।
परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता।।[31]

ध्यान देने की बात यह है कि यह तीर्थ भारत भर में फैले हुये हैं। अर्बुद, अवन्ती, अयोध्या, बदरीनाथ, द्वारका, कांची, प्रयाग आदि सैकड़ों तीर्थ अपने अक्षुण्ण माहात्म्य को धारण किये हुये हैं। काशी, गया, मथुरा, मदुरै, तिरूरपति, चिदम्बरम् आदि क्षेत्रों में भक्तों की भीड़ जबर्दस्त रहती है। तीर्थों के साथ-साथ गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी, गोदावरी आदि जिन-जिन नदियों के किनारे वे तीर्थ बसे हैं, उनका माहात्म्य भी काफी रोचक है।

स्थान-स्थान पर दान, परोपकार, सत्य, अहिंसा आदि गुणों की महत्ता बतलाने वाली कथायें पायी जाती हैं। परोपकार या दान के सम्बन्ध में आने वाले कुछ पद्य इस प्रकार हैं –

न सर्गे ब्रह्मलोके वा तत्सुखं प्राप्यते नरैः।
यदार्तजन्तुनिर्वाणदानोत्थानमिति मे मतिः।।[32]

नोपकारात्परो धर्मो नापकारादधं पदम्।
जीवितं सफलं तस्य यः परार्थोद्यतः सदा।।
अग्निरापो रविः पृथिवी धान्यानि विविधानि च।
परार्थं वर्तनं तेषां सती चापि विशेषतः।।[33]

पुराणों में गोदान के महत्त्व का वर्णन यत्र-तत्र किया गया है। कभी-कभी अन्य वस्तुओं को गौ के आकार में बनाकर 'धेनु' के नाम से उन्हें दान दिया जाता था। जैसे गुड-घृत-तिल-मधु-शर्करा आदि।

जब (पाँचवीं से दसवीं शती तक) पुराणों का विकास हो रहा था तब तमिलनाडु में भक्ति का प्रवाह वेग से बह रहा था। बहुत से विद्वान् मानते हैं कि कृष्णभक्ति के रागात्मक पक्ष का प्रादुर्भाव तथा विकास दक्षिण से प्रारम्भ हुआ था। यह प्रवाह भागवतपुराण पर बहुत प्रभाव डाल गया और भागवत की नवविधा भक्ति का सर्जन करता गया। कृष्ण ने बाल्यावस्था में जो लीलायें दिखायीं या

---

31. स्कन्द, कुमारिका खण्ड, VI.43
32. कार्कण्डेय, 15-57
33. ब्रह्म, 125.36-37

जिन राक्षसों का संहार किया, उनका मनोरम वर्णन अलवार सन्तों की रचनाओं में भी आया है। गोप-गोपियों का चार प्रकार का सम्बन्ध कृष्ण के साथ बन गया था– दास्य भाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव, माधुर्यभाव। अंडाल, पेरियालवार तोंडराप्पोडि, नम्मालवार आदि अवतारों की रचनायें इतनी आदर पा चुकी थीं कि उनको वेदों का स्थान प्राप्त हो गया था। उन्हें 'दिव्यप्रबन्धम्' नाम भी प्राप्त हुआ था। इस प्रकार पञ्च लक्षण पुराणों का विकास सामाजिक अङ्गों को समृद्ध करने में हुआ और पुराण तत्कालीन ज्ञान–विज्ञान को संजोये रखने वाले एक विश्वकोश बन गये थे। धार्मिक-सामाजिक विषयों के साथ अन्य ऐहिक विषयों का भी ऊहापोह पुराणों में हुआ। अग्निपुराण, वराहपुराण, गरूडपुराण आदि पुराणों में व्याकरण, अलङ्कार, ज्योतिष, रत्नशास्त्र, श्राद्धादि संस्कार, कृषि, भूगोल, वर्ष, द्वीप आदि विषयों का भी वर्णन आया है। इस प्रकार पुराण विश्वास बन गये और विश्व हित की रक्षा करने के लिए उन्होंने अनेक आदर्श निर्माण किये। सामान्य जीवन को सफल तथा सार्थक बनाने के लिए सभी सम्भव मार्गों को उपलब्ध कराने वाला पुराण साहित्य एक अद्वितीय साहित्य है। व्यास, शुक, सूत, शैनक की परम्परा से पुराण जनसामान्य के मानस में दृढ़ स्थान प्राप्त कर चुके हैं।

दक्षिण भारत के कुछ स्तोत्र

वेदों से लेकर स्तोत्रों का स्रोत संस्कृत साहित्य में रहा है। स्तुति द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना और उनसे अपने अभीष्ट पूर्ति का निवेदन करना स्तोत्र साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है। जब मोक्षमार्ग में कर्म और ज्ञान का प्राधान्य रहा, तब स्तोत्रों का प्रवाह रुद्ध सा होने लगा, किन्तु भक्तिप्रधान साहित्य में स्तोत्रों की समृद्धि दिखाई पड़ती है। सभी पुराणों में भक्ति का प्राधान्य है, अतः उसमें अनेक देवताओं के स्तोत्र गाये गये हैं। स्तोत्र के चार भेद माने जाते हैं– द्रव्य-कर्म-विधि-अभिजन। इस सम्बन्ध में वेद में 'स्तोत्र' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिससे पता चलता है कि स्तोत्र संगीतात्मक थे। संस्कृत में स्तोत्रों का विभाग सामान्यतः देवताओं के अनुसार होता है जैसे शिवस्तोत्र, कृष्णस्तोत्र, देवीस्तोत्र, आदि। आदिशंकराचार्य ने स्तोत्र का एक और रूप प्रचलित किया था। "सौन्दर्यलहरी" में उन्होंने देवी भगवती का रससिक्त वर्णन किया है। यह प्रकार इतना जनप्रिय तथा कविप्रिय हुआ कि उत्तरकाल में सैंकड़ों लहरीकाव्य लिखे गये। सामान्यतया लहरीकाव्य में परमात्मा के प्रति रागात्मक आत्मनिवेदन पाया जाता है। इसका प्रकृष्ट निदर्शन है 'सौन्दर्यलहरी'। इसमें देवी के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का वर्णन बड़ी ही मधुर तथा मनोहर शैली में किया गया है। डॉ. वर्णेकर ने उसका लक्षण इस प्रकार दिया है–

> एकवृत्तनिबद्धं यत् पाञ्चालीरीतिगुम्फितम्।
> मनोज्ञवाच्यालङ्कारशब्दचित्रं क्वचित् क्वचित्।।
> दिव्यभावगुणा काचिद् विभूतिर्यत्र वर्ण्यते।
> अनन्यश्रद्धया भक्त्या सुश्लोकैश्चारुबन्धनैः।।
> तत् खण्डकाव्यं काव्यज्ञैर्लहरीसंज्ञकं मतम्।
> सौन्दर्यलहरीकारो मतो यस्य प्रवर्तकः।।

डॉ. त्रिपाठी के अनुसार आद्यन्त एक छन्द में निबद्ध किसी एक विषय–देवस्तुति, निसर्गच्छवि, भाव विशेष आदि पर कवि के आन्तरिक भाव की अभिव्यक्ति से युक्त प्रायः 50 या इससे अधिक पद्यों का काव्य लहरीकाव्य है।

उपासना के आधार पर कुछ लहरीकाव्य लिखे गये हैं– लहरीकाव्य में पंडितराज जगन्नाथ की पाँच लहरियाँ विख्यात हैं। आधुनिक काल में डॉ. राधाबल्लभ त्रिपाठी का लहरीदशकम् भी आत्मनिवेदन, भावोत्कटता तथा सुयोग्य शब्द चयन के लिए विख्यात हुआ है।

. दक्षिण के स्तोत्रों में केरल के कवि बिल्वमङ्गल या लीलाशुक का "कृष्णकर्णामृतम्" एक प्राचीन स्तोत्र है। इसमें मधुराभक्ति का परिपाक हुआ है और श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं का ललित मनोहर वर्णन पाया जाता है। दक्षिण के एक और कवि "मूक" ने 'मूकपञ्चशती' लिखी थी जिसमें

काञ्चीपुरम् की कामाक्षी की स्तुति की गयी है। कटाक्ष-पादारविन्द-मन्दस्मित-स्तुति तथा आर्या– ये पाँच शतक हैं। इस पूरे काव्य में रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष और विरोधाभास के रमणीय उदाहरण पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ– विरोधाभास–

श्वेताऽपि प्रकटं निशाकररुचा कटाक्ष–
नीलोऽपि रागमधिकं जनयन् मुरारेः।
लोलोऽपि भक्तिमधिकां द्रढयन्नराणां।।

रूपक – कटाक्षकुठारधारा–

पादारविन्द –

अनुप्रास – जगद्रक्षादक्षा नलिनरुचिशिक्षा पदुतरा।

यमक – क्वणत्काञ्ची काञ्चीपुरविपञ्ची लयझरी–

रूपक – कादम्बिनीव तव भाति कटाक्षमाला।

वेदान्तदेशिक का 'पादुकासहस्रम्' एक अद्भुत स्तोत्र है। उसमें रंगनाथ की पादुका का भिन्न-भिन्न वृत्तों के सहस्र श्लोकों में वर्णन किया गया है। इसमें कवि की प्रतिभा का अप्रतिहत सञ्चार है, कल्पना की उड़ान पर्याप्त उञ्छित है और सभी प्रकार के अलङ्कारों की भरमार है। पादुका पर हजार श्लोकों की रचना करना यह एक व्युत्पन्न तथा प्रौढ़ प्रतिमाविलास के कवि का ही कार्य है–

न्यस्तं विष्णोः पदमिह महत् स्वेन भूम्ना वहन्त्योः
आम्नायाख्यामविहतगतिं वर्तयन् योर्निजाज्ञाम्।
आसन्नानां प्रणयपदवीमात्मना परमन्त्योः
द्वैराज्यश्रीर्भवति जगतामेकराज्ये भवत्योः।।

विरोधाभास–

परिचितपदमूला पादुके रङ्गिगणस्त्वं
प्रभवति भुजमध्ये कौस्तुभोऽयं तथापि।।
भवति भृशमधस्तात्तेजसा भव्यभूम्ना
शलभितदुरितानां तावकानां मणीनाम्।।
पद्येन देवि शठकोपमुनिस्तवासीत्।
तस्यापि नामवहनान्मुनिपादुके त्वम्।
शेषी बभूव भुवयोरपि शेषशायी
शेषं त्वशेषमपि शेषपदे स्थितं वः।।

शंकराचार्य द्वारा प्रणीत लहरी प्रणाली इतनी प्रभावशालिनी रही कि उस विधा को अपनाना आजकल के कवि भी गर्व की बात समझते हैं। इसका एक मनोरम उदाहरण है डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी की "लहरीदशकम्"। लहरीकाव्य का विभाजन प्रायः इस प्रकार किया जाता है–

1. दार्शनिक लहरीकाव्य 2. देवस्तुतिपरक 3. देवीस्तुतिपरक 4. नदीस्तुतिपरक 5. प्राकृतिक उपादानों पर निर्मित 6. मनोदशाविषयक 7. यथार्थचित्रणपरक

दक्षिण सौन्दर्यलहरी स्तोत्र पूरे भारत में प्रसिद्ध है। उसमें तान्त्रिक और अद्वैत सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। शैली तो बहुत ही हृदयंगम है।

दक्षिण के संस्कृत स्तोत्रो का भारतीय भक्ति साहित्य को बहुमूल्य योगदान है। भारतीय एकात्मता का यह एक अनोखा निदर्शन है। संस्कृत भाषा और सनातन संस्कृति को इन स्तोत्रों ने समृद्ध किया है।

पुरुषमेध : आध्यात्मिक आयाम

प्रो० मान सिंह

'शतपथ-ब्राह्मण' के एक स्थल के अनुसार पुरुषमेध का सर्वप्रथम अनुष्ठान प्रजापति ने किया और अन्तिम श्यापर्णसायकायन ने[1]। पुरुषमेध के प्रतिपादक स्थल के अनुसार पुरुष नारायण ने अतिष्ठा (सर्वोपरिता) की कामना करने पर इस पञ्चरात्र (पाँच सुत्या-दिवसों से युक्त) यज्ञक्रतु का दर्शन किया; उससे यजन कर वह सब भूतों में सर्वोपरि हो गया, वह सब कुछ बन गया[2]। अतः इस यज्ञ का प्रयोजन अतिष्ठा की प्राप्ति है। अतिष्ठा की कामना करने वाला ब्राह्मण अथवा राजन्य (क्षत्रिय) इसका अधिकारी है (वैश्यादि नहीं)[3]। यह अश्वमेघ के समान है[4]।

पुरुषमेध में 23 दीक्षायें, 12 उपसद् तथा 5 सुत्यायें होती हैं; इस प्रकार यह 40 दिनों में सम्पन्न होता है[5]। इसका आरम्भ चैत्र मास की शुक्ला दशमी को किया जाता है[6]।

दीक्षाओं तथा उपसदों के बाद सुत्याओं का आरम्भ किया जाता है। सुत्याओं का क्रम इस प्रकार है– प्रथम दिन अग्निष्टोम, द्वितीय दिन उक्थ्य, तृतीय दिन अतिरात्र, चतुर्थ दिन उक्थ्य तथा पञ्चम दिन अग्निष्टोम। इस प्रकार मध्य में अतिरात्र, उसके दोनों ओर उक्थ्य और दोनों अन्तिम छोरों पर अग्निष्टोम का अनुष्ठान किया जाता है[7]। इस यज्ञ में 11 यूप गाड़े जाते हैं; उपवसथ-दिवस पर अग्नीषोमीय पशु भी 11 ही होते हैं[8]; किन्तु पुरोडाश एक ही होता है। सुत्या के तीसरे दिन

---

1. तान्हैतान्प्रजापतिः प्रथमऽआलेभे। श्यापर्णः सायकायनोऽन्तमः। शतपथ–ब्राह्मण (मा.) (श०ब्रा०), 6.2.1.39
2. "पुरुषो ह नारायणो ऽकामयत। अतितिष्ठेय सर्व्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्व्वं स्यामिति स ऽ एतम्पुरुषमेधम्पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्तमाहरत्तेनायजत तेनेष्ट्वा ऽत्यष्ठित्सर्व्वाणि भूतानीद सर्ध्यमभवत्।" तदेव, 13.6.1.1 'गोपथ–ब्राह्मण' (पूर्वभाग, 5.8) के अनुसार पुरुषमेध से यजन करके प्रजापति ने 'विराट्' नाम धारण किया : "स प्रजापतिः पुरुषमेधेनेष्ट्वा विराडिति नाम धत्त।"
3. "पुरुषमेघस्त्रयोविंशतिर्दीक्षोऽतिष्ठाकामस्य"; "ब्राह्मणराजन्ययोः।" कात्यायनश्रौतसूत्र (का०श्रौ०सू.), 21.1-2
4. "सर्वमाश्वमेधिकम्।" शांखायनश्रौतसूत्र (शां०श्रौ०सू०), 16.10.2
5. "तस्य त्रयोविंशतिर्दीक्षाः। द्वादशोपसदः पञ्च सुत्याः स ऽ एष चत्वारिंशद्रात्रः सदीक्षोपसत्कः।" श०ब्रा०, 13.6.1.2
6. 'सरला'वृत्ति (काशीः अच्युतग्रन्थमाला–कार्यालय, संवत् 1987), 21.1 : "चैत्रशुक्लदशम्यामस्यारम्भः; भूमिका, पृ. 67। विद्याधर शर्मा, का०श्रौ०सू.
7. "अग्निष्टोमावन्तरेणातिरात्र उक्थ्यपक्षः।" श०ब्रा०, 13.6.1.8 : "तस्याग्निष्टोमं प्रथममहर्भवति। अथोक्थ्यो ऽथातिरात्रो ऽयोक्थ्यो ऽथाग्निष्टोमः स वा ऽ एष ऽ उभयतोज्योतिरुभयत ऽ उक्थ्यः।" का०श्रौ०सू., 21.3

अतिरात्र सोमयाग का अनुष्ठान होता है। उस दिन प्रत्येक यूप में 11-11 पशुओं का नियोजन किया जाता है : अग्निष्ठ (मध्यम) यूप में ब्रह्मादि देवताओं के लिए ब्राह्मणादि 48; द्वितीय यूप में वर्णादि देवताओं के लिए अनुरुधादि 11; तृतीय यूप में मर्यादादि देवताओं के लिए प्रश्नविवागादि 11; चतुर्थ यूप में भादि देवताओं के लिए दार्वाहरादि 11; पञ्चम यूप में वैरहत्यादि देवताओं के लिए पिशुनादि 11; षष्ठ यूप में योगादि देवताओं के लिए योक्त्र्यादि 11; सप्तम यूप में परिवत्सरादि देवताओं के लिए अविजातादि 11; अष्टम यूप में पारादि देवताओं के लिए मार्गारादि 11; नवम यूप में पश्चादोषादि देवताओं के लिए ग्लाव्यादि 11; दशम यूप में आस्कन्दादि देवताओं के लिए सभास्थाण्वादि 11; और एकादश यूप में महसादि देवताओं के लिए वीणावादादि 11 पुरुषरूप पशु। इसके अतिरिक्त द्वितीय उच्छित यूप में नृत्तादि देवताओं के लिए वीणावादादि 14; और अतिदीर्घ, अतिह्रस्व, अतिस्थूल, अतिकृश, अतिशुक्ल, अतिकृष्ण, अतिकुल्व (रोमरहित) तथा अतिलोमश इन 8 विरूप और अशूद्र तथा अब्राह्मण प्राजापत्य, तथा मागध, पुंश्चली, कितव और क्लीब इन 4 अशूद्र तथा अब्राह्मण प्राजापत्य– इस प्रकार 26 पशुओं का और नियोजन किया जाता है; पहले 11 को मिलाकर इस यूप में नियुक्त पशुओं की संख्या 37 हो जाती है। सभी यूपों के पशुओं की सम्मिलित संख्या 184 होती है[9]।

'शतपथ-ब्राह्मण' के अनुसार इन नियुक्त पशुओं के उपाकरण के समय सविता देव को प्रसन्न करने के लिए "देव सवितुः.", "तत्सवितुर्वरेण्यम्." तथा "विश्वानि देव सवितः." (वाजसनेयि-संहिता, 30,1-3) इन तीन ऋचाओं से तीन सकृदगृहीत आज्य की आहुतियाँ आहवनीय में दी जाती हैं[10]। तदनन्तर ब्रह्मा दक्षिण की ओर बैठकर "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्." (वा. सं., 31.1-16) इस षोडर्च पुरुषनारायणानुवाक द्वारा नियुक्त पुरुषों (पशुओं) की होतृवत् अभिष्टुति करता है[11]; अर्थात् प्रथम तथा अन्तिम ऋचा की तीन बार आवृत्ति करते हुए और मन्त्र के अन्तिम अक्षर को प्रणवादेश करते हुए (यथा– "सहस्रशीर्षा पुरुषः...........ङ्गुलो३म्।।" "पुरुष एवेद...........रोहतो३म्।।")[12] इसके बाद आलम्भन क्रम से यथादेवत प्रोक्षणादि किया जाता है। ब्राह्मणादि के पर्यग्निकरण के पश्चात् "इदं ब्रह्मणे", "इदं क्षत्राय" आदि इस प्रकार जिस-जिस देवता को उद्दिष्ट करके जो-जो पुरुष नियुक्त किया गया है उस-उस प्रत्येक देवता के लिए एक-एक आज्याहुति प्रदान की जाती है।[13]

---

8. 'एकादशीग्नीषोमीयाः पशव उपवसयथ।...........एकादश यूपाः ऐकादशिनाः सुत्यासु पशवो भवन्ति।" श०ब्रा०, 13.6.1.4-5 : "यूपैकादशिनी भवति। तावन्तोऽग्नीषोमीयाः। का०श्रौ०सू., 21.4-5
9. विभिन्न देवताओं के लिए उद्दिष्ट पशुओं के परिगणनार्थ अवलोकनीय वाजसनेयि–संहिता (वा.सं.), 30.5-22। तुलनीय का.श्रौ.सू., 21.8-10 : नियोजनकाले ऽष्टाचत्वारि शतमाद्यानग्निष्ठे। इतरेष्वेकादशैकादश। द्वितीयोच्छिते शेषान्।" श.ब्रा., 13.6.2.5-8
10. "स वै पशूनुपाकरिष्यन्। एतास्तिस्राहुतीर्जुहोति देवसवितस्तत्सवितर्त्वरेण्यम्विश्वानि देव सवितरिति सवितारम्प्रीणाति।" श.ब्रा., 13.6.2.9 : उवट तथा महीधर, भाष्य, वा.सं., 30.1-2
11. "नियुक्तान्पुरुषान् ब्रह्मा दक्षिणतः पुरुषेण नारायणे नाभिष्टौति सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादित्येतेन षोडशच्येन श.ब्रा., 13.6.2.12 : "नियुक्तान् ब्रह्माऽभिष्टौति होतृवदनुवाकेन "सहस्रशीर्षेति"। का.श्रौ.सू., 21.11
12. महीधर, भाष्य, वा.सं., 30.22।
13. "तत्पर्यग्निकृताः पशवो बभूवुरसंज्ञप्ताः श.ब्रा., 13.6.2.12 : आज्येन जुहोति।" 13.6.2.14 : "स्विष्टकृदवनस्पत्यन्तरे पुरुषदेवताभ्यो जुहोति।" का.श्रौ.सू., 21.13

तत्पश्चात् सभी ब्राह्मणादि को यूपों से मुक्त करके छोड़ दिया जाता है।[14] तदनन्तर यजमान ऐकादशिन पशुओं से संज्ञपनादिप्रधानयागान्त वनस्पतियाग करके, सकृद्गृहीत आज्य को ग्रहण कर, आहवनीय में ब्रह्मादि पुरुष देवताओं के लिए आहुति देता है और "ओम् ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा, मरुद्भ्यः स्वाहा" आदि रीति से 184 देवताओं के लिए स्वाहाकारपूर्वक घृताहुतियाँ देकर, स्विष्टकृदादि उदवसानीयान्त कर्म करता है।[15] उदवसानीय आहुतियों की समाप्ति पर 3 मैत्रावरुणी, 3 वैश्वदेवी तथा 5 बार्हस्पत्या-इन 11 वशा अनूबन्ध्याओं (बाँझ गायों) का आलभन करता है[16], जिसमें 3 ही पशुपुरोडाश होते हैं। त्रैधातवी उदवसानीया के अन्त में यजमान "अयं ते योनिः[17]"आदि मन्त्र से आत्मा (मुख अथवा कोष्ठ में)[18] अग्नियों (गार्हपत्य तथा आहवनीय) का समारोपण[19] करके "अद्भ्यः सम्भृतः[20]" इस षडर्च उत्तरनारायणानुवाक से सुयोपस्थान करके, पीछे न देखता हुआ अरण्यगमन कर जाये और कभी न लौटे।[21] यदि पुरुषमेघ के बाद ग्रामवास की इच्छा हो तो उदवसानीया के अनुसार अनन्तर सायम् आहुति प्रदान कर, देवजयन का आदीपन कर गृह चला जाये, गृह जाकर मथकर अग्नि की स्थापना करे और यथेच्छ यज्ञों का अनुष्ठान भी करे।

---

14. "तात्पर्यग्निकृताः पशवो बभूवुरसंज्ञप्ताः। श.ब्रा., 13.6.2.12 : "कपिञ्जलादिवदुत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्।" का.श्रौ.सू., 21.12
15. वा.सं., महीधर, भाष्य 30.22
16. "उदयनीयाया स स्थितायाम्। एकादश वशा अनूबन्ध्या आलभते – मैत्रावरुणीः, वैश्वदेवीः, बार्हस्पत्याः। श०ब्रा०, 13.6.2.16 : "त्रैधातव्युदवसानीया।" 13.6.2.17
17. वाडजस्नेयी सं., 3.13; 12.52
18. विद्याधर शर्मा, का०श्रौ०सू., 'सरला' वृत्ति, 21.17; हरिस्वामी, भाष्य, श०ब्रा० 13.6.2.20।
19. महीधर (भाष्य, वा० सं०, 30.22) द्वारा उद्धृत शांखायनोक्ति के अनुसार यजमान गार्हपत्य में अधरारणि तथा आहवनीय में उत्तरारणि को डालकर आत्मा में इन दो अग्नियों का समारोपण करके वनव्रज्या ग्रहण कर ले : "गार्हपत्येऽधरारणिमनुप्रहृत्याहवनीय उत्तरारणिमात्मन्यग्नी समारोप्यारण्यं व्रजेत्" इति शाङ्खायनोक्तेः।" तुलनीय शां०श्रौ०सू०, 16.1 (सर्वमेघप्रकरण); वैतानश्रौतसूत्र, 7.3.14 (सर्वमेघ–प्रकरण)।
20. वही, 31.17-22
21. "अथात्मन्नग्नी समारोह्य उत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थायानपेक्षमाणोऽरण्यमभिप्रेयात्तदेव मनुष्येभ्यस्तिरोभवति यद्यु ग्रामे विवसेदरण्योरग्नी समारोह्योत्तरनारायणेनैवादित्यमुपस्थाप्य गृहेषु प्रत्यवस्येदथ तान् यज्ञक्रतूनाहरेत यानभ्याप्नुयात्।" श.ब्रा., 13.6.2.20 : "मैधातव्यन्ते समारोह्यात्मन्नग्नी सूर्यमुपस्थायाद्भ्यः सम्भृत इत्यनुवाकेनानपेक्षमाणोऽरण्ये गत्वा प्रत्येयात्। ग्रामे वा विवत्सन्नरण्योः।" का.श्रौ.सू., 21.17-18

महीधर ने अरण्यगमन का तात्पर्य 'संन्यास ग्रहण करना' माना है (भाष्य, वा०सं०, 30.22 : "अरण्यं गत्वा संन्यसेत्। पुरुषमेधानन्तरं संन्यास एव।); किन्तु हरिस्वामी (भाष्य, श०ब्रा०, 13.6.2.20) इसे 'वैखानस वृत्त' मानते हैं। देवयाज्ञिक (पद्धति, का०श्रौ०सू०, 21.18) भी इसे पाक्षिक तृतीय आश्रम (वानप्रस्थ) का संकेतक स्वीकार करते हैं। विद्याधर शर्मा (का०श्रौ०सू०, 'सरला' वृत्ति, भूमिका, पृ. 67), डॉ. सूर्यकान्त (वैदिक कोश, वाराणसीः काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पृ. 418), डॉ. विजय पाल (श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय, द्वितीय भाग, बहालगढ : रामलाल कपूर ट्रस्ट, पृ. 154) आदि विद्वानों ने भी इसका अभिप्राय 'वानप्रस्थ ग्रहण करना' किया है।

आचार्य मनु (मनुस्मृति, 6.38) ने भी प्राजापत्येष्टि के बाद ब्राह्मण द्वारा सर्वस्व दक्षिणा देकर, आत्मा में अग्नियों का समारोपण कर गृह से प्रव्रजन का उल्लेख किया है :

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणम्।
आत्मन्यग्नी समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्।।

पुरुषमेघ में दक्षिणा अश्वमेधवत् होती है; भेद यह है कि अश्वमेध में भूमि, पुरुष तथा ब्राह्मणधन नहीं दिया जाता[22], जबकि पुरुषमेध में पुरुष भी दक्षिणा के रूप में दिये जाते हैं;[23] अश्वमेघ में सुत्या–दिवसों की संख्या तीन होने से दिग्विजय में विभिन्न दिशाओं से प्राप्त द्रव्य का प्रतिदिन तृतीय-तृतीय भाग दक्षिणास्वरूप प्रदान किया जाता है– प्राची दिशा से आनीत द्रव्य का तृतीय भाग होता को, दक्षिण दिशा से आनीत द्रव्य का ब्रह्मा को, प्रतीची दिशा से आनीत द्रव्य का अध्वर्यु को और उदीची दिशा से आनीत द्रव्य उद्गाता को, जबकि पुरुषमेघ में सुत्यादिवसों की संख्या पाँच होने से प्राच्यादि दिशाओं से आनीत द्रव्य का दक्षिणास्वरूप प्रदेय अंश प्रतिदिन पञ्चम-पञ्चम होता है। यह व्यवस्था राजन्य यजमान के लिए है। यदि पुरुषमेघ-याग ब्राह्मण करे तो वह सर्वस्व दक्षिणा में दे।[24]

'शतपथ-ब्राह्मण' में 'पुरुषमेघ' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है– (1) ये लोक ही 'पूः' (पुरी) हैं और जो इसमें पवन (गति) करता है वह 'पुरुष', वही इसमें लेटा है, अतः उसे 'पुरुष' कहते हैं; लोकों में स्थित अन्न उसका मेघस् है, अतः यह 'पुरुषमेघ है; अथवा (2) इसमें मेघ्य पुरुषों का आलभन (ग्रहण प्राप्ति)[25] किया जाता है, अतः यह 'पुरुषमेघ' है।[26] 'शतपथ-ब्राह्मण' में पुरुषमेघ का प्रतीकात्मक वर्णन है। इन लोकों को पुरुषमेघ मानकर कहा गया है कि इन लोकों के दोनों ओर ज्योति है– इधर अग्नि, उधर आदित्य; अन्न उक्थ्य है और आत्मा अतिरात्र, अतिरात्र के दोनों ओर उक्थ्य होता है, इसलिए यह आत्मा अन्न से परिवृढ है, वर्षिष्ठ अतिरात्र (सुत्या) दिवसों के मध्य में होता है और यह यवमध्य सदृश होता है। इसका अधिदैवत-वर्णन करते हुए कहा गया

---

22. "विजयमध्याद्धोतुः प्राची दिग् दक्षिणा ब्रह्मणो ऽध्यवर्योः प्रतीच्युद्गातुरुदीची तृतीयं तृतीयन्वहं ददाति भूमि–पुरुष–ब्राह्मणस्ववर्जम्।" का०श्रौ०सू., 20.4.27

23. अथातो दक्षिणानाम्। मध्यम्प्रति राष्ट्रस्य यदन्यद्भूमेश्च ब्राह्मणस्य वित्तात्सत्पुरुषम्प्राची दिग्होतुर्दक्षिणा ब्रह्मणः प्रतीच्यध्वर्य्योरुदीच्युद्गातुस्तदेव होतृकाऽ अन्वाभक्ताः। श०ब्रा०, 13.6.2.18 : "सपुरुषमश्वमेधवद्दक्षिणा।" का०श्रौ०सू., 21.1.14

24. "अथ यदि ब्राह्मणो यजेत। सर्व्ववेदसन्दद्यात्।" श०ब्रा०, 13.6.2.19 : "सर्वस्वं ब्राह्मणस्य।" का०श्रौ०सू., 21.1.15

25. "शतपथ–ब्राह्मण" में पुरुषमेघ–प्रकरण में 9 स्थलों पर 'आलभते' पद का प्रयोग हुआ है, जिसका सर्वत्र 'ग्रहण' अथवा 'प्राप्ति' अर्थ ही ग्राह्य है, 'बलि' नहीं, क्योंकि पुरुषमेघ में 184 पुरुष तथा 11 वशा अनूबन्ध्या पशुओं की बलि नहीं दी जाती। अनुवादक एगलिङ्ग ने भी इसका अर्थ "ग्रहण करता है" (siezes) ही किया है, यही स्थिति 'वाजसनेयि–संहिता' (30.22) में प्रयुक्त 'आलभते' पद की भी है; स्वयं याज्ञिक भाष्यकार महीधर ने भी उसका अर्थ 'बलि' नहीं किया है। इसके विपरीत, 'वैतानश्रौतसूत्र' (7.2.25-26) तथा 'शांखायनश्रौतसूत्र' (13.7-9) में पुरुषमेघ में मेध्य पुरुषपशु का वास्तविक संज्ञपन (मारण) स्वीकार किया गया है, जबकि वस्तुतः इस यज्ञ में अद्यप्रभृति कभी भी वास्तविक बलि नहीं दी गयी है। 'ऐतरेय–ब्राह्मण' (अष्टमाध्याय) में वर्णित शौनःशेपाख्यान (शां०श्रौ०सू०, 11.2 में संकेतित) में भी यूप में नियुक्त आजिगर्ति शुनःशेप को मुक्त कर दिया जाता है। 'शतपथ–ब्राह्मण' (13.6.212) में पशुओं के लिए 'असंज्ञप्ताः' विशेषण स्पष्टतः मारण का प्रतिषेध करता है। यही नहीं, वहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पुरुष का संस्थापन न करे, अन्यथा पुरुष पुरुष को खाने लगेगा'। अतः उन्हें पर्यग्निकृत करके मुक्त कर दे : "पुरुष मा सन्तिष्ठिपो यदि स स्थापयिष्यति पुरुष ऽएव पुरुषमत्स्यतीति तान्पर्य्यग्निकृतानेवोदसृजत्।" (13.6.2.13)।

26. "अथ यस्मात्पुरुषमेधो नाम। इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योऽयम्पवते सोऽस्याम्पुरि शेते तस्मात्पुरुषस्तस्य पदेषु लोकेष्वन्नन्दस्यात्रग्मेधस्तद्यदस्यैतदन्नम्मेधस्तस्मात्पुरुषमेधो ऽथो यदस्मिन्मेध्यान्पुरुषानालभते तस्मादेव पुरुषमेधः।" श०ब्रा०, 13.6.2.1

है कि प्रथम (सुत्या) दिवस तथा वसन्त ऋतु यही (पृथिवी) लोक है; द्वितीय (सुत्या) दिवस इस लोक से ऊपर और अन्तरिक्ष से नीचे का स्थान तथा ग्रीष्म ऋतु है; तृतीय (सुत्या) दिवस अन्तरिक्ष तथा वर्षा ऋतु है; चतुर्थ (सुत्या) दिवस अन्तरिक्ष से ऊपर और द्युलोक से नीचे का स्थान तथा हेमन्त ऋतु है; और पञ्चम (सुत्या) दिवस द्युलोक तथा शिशिर ऋतु है। अध्यात्मपरक वर्णनानुसार प्रथम (सुत्या) दिवस तथा वसन्त ऋतु इसकी प्रतिष्ठा (पैर) है। द्वितीय (सुत्या) दिवस तथा ग्रीष्म ऋतु इसका प्रतिष्ठा से ऊपर और मध्य (कमर) से नीचे का भाग है; मध्यम अर्थात् तृतीय (सुत्या) दिवस तथा वर्षा एवं शरद् ऋतु इसका मध्य भाग है; चतुर्थ (सुत्या) दिवस तथा हेमन्त ऋतु इसका मध्य भाग (कमर) से ऊपर और सिर से नीचे का भाग है; और पञ्चम (सुत्या) दिवस तथा शिशिर ऋतु इसका सिर है। इस प्रकार लोक, संवत्सर तथा आत्मा– ये सब पुरुषमेघ के बराबर हैं; ये सर्वरूप हैं और पुरुषमेघ भी सर्वात्मक है।[27] पुरुषमेघ के सर्वात्मक रूप का अनेकत्र उल्लेख है।[28] सर्व है प्रजापति[29] और प्रजापति है ब्रह्म।[30] वस्तुतः यज्ञ मूलतः ब्रह्म ही तो है।[31]

पुरुषमेघ का पुरुष नारायण द्वारा दर्शन तथा अनुष्ठान; पुरुष रूप पशुओं का यूपों में नियोजन; उनके उपाकरण के समय "देव सवितः", "तत्सवितुर्वरेण्यम्" तथा "विश्वानि देव सवितः[32] इन तीनों ऋचाओं से सविता देव के प्रसादनार्थ आहवनीय में आज्याहुतियाँ; नियुक्त पुरुषों की षोडर्च पुरुषनारायणानुवाक[33] से ब्रह्मा द्वारा अभिष्टुति; और यजमान द्वारा "अदभ्यः सम्भृतः"[34] इस षडर्च उत्तरनारायणानुवाक से सूर्योपस्थान पुरुषमेघ के आध्यात्मिक स्वरूप के संकेतक है। पुरुषमेघ का द्रष्टा पुरुष नारायण और पुरुषनारायणानुवाक का देवता पुरुष एक ही है– (ऋषि-नारायण),जो सर्वरूप है,[35] यूप भी, जिसमें कि मेध्य पुरुषों का नियोजन किया जाता है, पुरुष ही है;[36] यह विष्णु

---

27. तदेव, 13.6.1.9-11।
28. तदेव, 13.6.1.3,6,11; 13.6.2.12,19,20 (सर्वं पुरुषमेधः)
29. "सर्वं हि प्रजापतिः।" तदेव, 13.6.1.6 : (कस्येत्) "सर्वस्य हि सर्वनामसंज्ञा क्रियते, सर्वश्च प्रजापतिः, प्रजापतिश्च कः।" पतञ्जलि, महाभाष्य, अष्टाध्यायी 4.2.25
30. "ब्रह्म वै प्रजापतिः।"; श.ब्रा., 13.6.2.8 : "सर्वं ब्रह्म प्रजापतिः।" 7.3.1.42
31. "ब्रह्म यज्ञः।" तदेव, 3.1.4.15
"एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत्प्रजापतिः। 4.3.4.3.
"पुरुषो वै यज्ञस्तेनेदं सर्व्वं मितम्। 10.2.1.2
तुलनीय, 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'। ऋग्वेद, 10.90.16
32. "पुरुष एवेदं सर्वं यदभूतं यच्च भाव्यम्। वा.सं., 31.2
33. यूप के पुरुष स्वरूप के लिए अवलोकनीय श.ब्रा., 3.7.1.17-21।
34. विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा; यास्क, निरुक्त, 12.18 : विष्णातेविशतेर्वा स्याद् वेवेष्टेर्व्याप्तिकर्मणः। शौनक, बृहद्देवता, 2.69 तुलनीय वैष्णवो यूपः। श.ब्रा., 3.7.1.17
35. "पुरुषो वै नाराशंसः।" द्रष्टव्य आनर्तीय भाष्यः" पुरुषरूपः पुमान्नररूपेण प्रशस्यत इति नाराशंसः। नरैर्वा परमात्मदर्शिभिः श्रद्दधानैर्दर्शनसम्पन्नैः प्रशस्यत इति नाराशंसः। तुलनीय शां.श्रौ.सू., 11.32
36. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।।
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विवाजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।। वा.सं., 40.6-7
सब जीवों में समदृष्टिहेतु द्रष्टव्य श्रीमदभगवदगीता, 5.18; 6.9,32; 12.18,14,24।

अर्थात् सर्वत्र व्याप्त परम तत्त्व (ब्रह्म) से सम्बद्ध है;[37] सम्भवतः वह 'अथर्ववेद'[38] में प्रतिपादित 'स्कम्भ' से अभिन्न है।[39] उसमें मेघ्य पुरुषों का नियोजन ब्रह्मरूप पुरुष के साथ जीवरूप पुरुषों का नियोजन है, जो दोनों में स्वरूपगत अभेद की स्थापना करता है। नियुक्त पुरुषों की अभिष्टुति जीवरूपी पुरुष के रूप से उसी परम पुरुष की प्रशस्ति है; अत एव वह 'नाराशंस' है।[40] उच्चावच अथवा विविध प्रकार के पुरुषों का नियोजन इस तथ्य के द्योतनार्थ है कि लौकिक अथवा व्यावहारिक दृष्टि से उनमें भेदप्रतीति होने पर भी पारमार्थिक दृष्टि से वे सभी उसी आत्मरूप पुरुष की अभिव्यक्तियाँ हैं और परमार्थतः अभिन्न हैं; अतः आत्मौपम्य अथवा आत्मवत् समदृष्टि के अधिकारी हैं। तेजोरूप आज्य[42] की सावित्री आहुतियों द्वारा सविता देव का प्रसादन तथा षडर्च उत्तरनारायणानुवाक द्वारा सूर्योपस्थान इस निमित्त निहित है कि वह अपने 'हिरण्मय पात्र' को अपावृत कर सत्यस्वरूप, तमसः परस्तात्, आदित्यवर्ण अधिष्ठाता पुरुष का दर्शन करा सके, क्योंकि उसका ज्ञान यजमानरूप मर्त्य का अमृतत्व है, उसके साथ तादात्म्यानुभव ही उसका स्वस्वरूपानुभव अथवा आत्मानुभव है।

---

37. "तेजो वा आज्यम्।" श.ब्रा., 13.6.2.15
38. "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।" वा.सं., 40.17, तुलनीय "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नापावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।" ईशोपनिषद्, 15
39. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वा ऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थो विद्यतेऽयेनाय।। वा.सं., 31.18
40. "यो ऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म।।" ईशोपनिषद्, 16 : "तेजो यत्ते रूपं कल्याणततं तत्ते पश्यामि यो ऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।" तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.8 : "स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।" सैव, 40.17

'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' और वेद

'श्रीमद्‌भगवद्‌गीता' के अनुसार सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण (ब्रह्मतत्त्ववेत्ता), वेदों तथा यज्ञों की रचना ब्रह्म के त्रिविध निर्देश 'ओम्, तत् तथा सत्' से हुई।[1] यज्ञ की उत्पत्ति विहित कर्म से होती है; कर्मसमुदाय वेद से उत्पन्न है; और वेद अविनाशी (अक्षर) ब्रह्म से।[2] यज्ञ इष्टकामधुक है और प्रजापति द्वारा प्रजाओं के साथ-साथ उसकी भी सृष्टि हुई। यज्ञ द्वारा देव भावित होकर यज्ञकर्ता को भावित करते हैं और इष्ट भोग प्रदान करते हैं; यज्ञशिष्ट खाने वाले व्यक्ति सब पापों से मुक्त हो जाते हैं।[3] यज्ञ न करने वाले पुरुष के लिए न तो यह लोक (सुखदायक) है और न ही अन्य (परलोक)।[4] वेद की वाणी में बहुविध यज्ञों का विस्तरेण प्रतिपादन है; ये सभी यज्ञ (मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा सम्पाद्य) कर्मों द्वारा अनुष्ठित होने वाले हैं।[5] 'श्रीभद्‌भगवद्‌गीता' के अनुसार वेद ऊर्ध्वमूल, अधःशाख तथा अव्यय (अविनाशी) संसाररूप अश्वत्थ-वृक्ष के पर्ण (पत्ते) हैं। जिस प्रकार पर्ण वृक्ष की शाखा से उत्पन्न होकर वृक्ष की वृद्धि और रक्षा करते हैं उसी प्रकार आदिपुरुष से उत्पन्न वेद[6] विहित कर्मों द्वारा संसार की वृद्धि तथा रक्षा करते हैं; जो यह जानता है कि परमेश्वर

---

1. ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्राह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
   ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता, 17.23
2. अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
   यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।
   कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
   तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। सैव, 3.14-15
3. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
   अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्तित्वष्टकामधुक्।।
   देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।।
   परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।
   इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
   तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।
   यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
   भुञ्जन्ते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। सैव, 3.10-13
4. नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। सैव, 4.31ख
5. एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
   कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। सैव, 4.32

   यहाँ "ब्रह्मणो मुखे" में "ब्रह्म" शब्द को वेदपरक मानना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र यज्ञों को वेद से उत्पन्न बतलाया गया है (सैव, 3.15)।
6. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
   छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।। ऋग्वेद, 10.90.8

की माया से उत्पन्न संसारवृक्ष उत्पत्ति-विनाशशील तथा क्षणिक है; अतः उसके भोगों में न फँसकर संसार से विरक्त तथा उपरत होकर उसी परमतत्त्व का अनुसन्धान करना चाहिए, उसी की शरण में जाना चाहिए, वही वेदों का तात्पर्य जानता है तथा इस संसारवृक्ष के तत्त्व को भी जानता है।[7] वेद की यज्ञरूप कर्मों से सम्बद्धता 'मुण्डकोपनिषद्' से भी प्रमाणित है।[8]

इस प्रकार याज्ञिक दृष्टि से वेदों में इस लोक तथा परलोक के विविध भोगों की प्राप्ति के लिए अनेकविध काम्य कर्मों का विधान किया गया है और उन कर्मों के विभिन्न फल प्रतिपादित किये गये हैं। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि वेदों में विहित सकाम कर्मों को करने वाले (त्रैविध), सोमपान करने वाले, पापरहित पुरुष मुझे यज्ञों द्वारा पूजकर स्वर्ग प्राप्ति चाहते हैं; वे अपने पुण्यों के फलरूप स्वर्गलोक को प्राप्त कर वहाँ दिव्य देवभोगों को भोगते हैं और विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्यों के क्षीण हो जाने पर मर्त्यलोक में प्रविष्ट होत हैं। इस प्रकार त्रयी प्रतिपादित सकामकर्मों का आश्रय लेने वाले और भोगों की कामना करने वाले लोग बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं।[9] वस्तुतः योग की अवाप्ति भी तभी सम्भव है जबकि विविध भोगों के साधनभूत कर्मों के प्रतिपादक वेदों के वचनों से विचलित साधक की बुद्धि समाधि में निश्चल तथा स्थिर हो जाये।[10] वेद के उन वचनों और उनके द्वारा उपदिष्ट फलरूप भोगों में आसक्ति रखने वाले (वेदवादरत) लोग स्वर्ग ही को परम प्राप्तव्य स्वीकार करते हैं और उससे बढ़कर कोई वस्तु नहीं है, ऐसा मानते हैं। ये अविवेकी जन इस प्रकार की आपाततः रमणीय (पुष्पिता) वाणी का अवलम्बन करते हैं, जो जन्मरूप कर्मफल प्रदान करने वाली और भोग और ऐश्वर्य की उपलब्धि के लिए अनेक विशिष्ट क्रियाओं का वर्णन करने वाली है। ऐसी वाणी द्वारा अपहृत चित्त वाले तथा भोग और ऐश्वर्य में आसक्त लोगों की परमात्मा में निश्चयात्मिका (व्यवसायात्मिका) बुद्धि नहीं होती है।[11] इसी से भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि वेद तीन गुणों के कार्यरूप भोगों तथा उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले (त्रैगुण्य विषय) हैं; अतः तू निस्त्रैगुण्य अर्थात् भोगों तथा उनके साधनों में आसक्तिविहीन, हर्षशोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य तत्त्व परमात्मा में अवस्थित,

---

7. ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।। श्रीमद्भगवद्गीता, 15.1

8. तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यश्यं स्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि।
तान्यचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके।। मुण्डकोपनिषद्, 1.2.1
कर्मों से उपलक्षणतया अग्निहोत्र एवम् अन्यान्य यज्ञों का ग्रहण होता है– (तुलनीय सैव, 1.2.2-6)।

9. त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।। श्रीमद्भगवद्गीता, 9.20-21

10. श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।। सैव, 2.53

11. यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।। सैव, 2.42-44

योगक्षेम की कामना न करने वाला और आत्मवान् हो जा।[12] भोगों तथा तत्साधनों में ममता, आसक्ति तथा कामना से सर्वथा रहित हो जाना ही निस्त्रैगुण्य होना है, स्वरूपतः समस्त कर्मों और विषयों का त्याग मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है; यह शरीर भी तो तीनों गुणों का ही कार्य है, जिसका त्याग अभिप्रेत नहीं ! अतः शरीर, उसके द्वारा किये जाने वाले कर्मों और उनके फलरूप समस्त भोगों में अहंता, ममता, आसक्ति तथा कामना का परित्याग ही निस्त्रैगुण्य है। 'श्रीमदभगवदगीता' के एवं-विध सन्दर्भों का वास्तविक तात्पर्य वेदों तथा तत्र प्रतिपादित यज्ञादि कर्मों की गही में नहीं प्रत्युत वेदों को मात्र भोगैश्वर्यप्रापक काम्यकर्मों का प्रतिपादक मानने वाली दृष्टि तथा यज्ञादि कर्मों के फलासक्तियुक्त सकाम अनुष्ठान की निन्दा में निहित है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में अन्य अनेक स्थलों पर भी यज्ञ की चर्चा है[13]; किन्तु कहीं भी वह सकाम यज्ञानुष्ठान की पक्षधर नहीं है। भगवान् श्रीकृष्ण की दृष्टि में शास्त्रविधि से नियत, कर्त्तव्यभावना से अनुष्ठित और फल की आकांक्षा से विहीन होकर किया जाने वाला यज्ञ सात्त्विक तथा श्रेष्ठ है।[14] यज्ञ, दान तथा तप रूप कर्म अत्याज्य और फलासक्तिरहित कर्त्तव्यभावना से करणीय हैं।[15] अथवा ईश्वर के निमित्त अनासक्तभावपूर्वक किये जाने वाले कर्म के अतिरिक्त सभी कर्म बन्धनकारक होते हैं।[16] यज्ञार्थ कर्म करने वाले मनुष्य के (पूर्व सञ्चित पापपुण्यरूप) समस्त कर्म भी विलीन हो जाते हैं।[17] 'श्रीमद्भगवद्गीता' में अभिव्यक्त यह दृष्टि पूर्वतः 'मुण्डकोपनिषद्' में उपलब्ध है। वहाँ वेदों का परिगणन वेदाङ्गों के साथ अपरा विद्या के अन्तर्गत किया गया है, जबकि परा विद्या से अक्षर ब्रह्म का अधिगम होता है।[18] सम्भवतः इसका कारण वेदमन्त्रों में काम्यकर्मों का प्रतिपादन है।[19] वहाँ दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, अतिथि-सत्कार बलिवैश्वदेव आदि यज्ञ-यागों से रहित शास्त्रविधि की अवहेलना कर किये गये अग्निहोत्र को सात पुण्यलोकों का विनाश करने वाला माना गया है; विधिपूर्वक अग्निहोत्रादिक को

---

12. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। सैव, 2.45

13. सैव, 16.1, 16; 17.7, 11, 12, 13, 24, 25, 27; 18.5, 70 आदि।

14. अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो च इज्यते।
यष्टव्यमिति मनः समाधाय स सात्त्विकः।। सैव, 17.11

15. यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।। सैव, 18.6

16. यज्ञार्थात्कर्मणो ऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय* मुक्तसङ्गः रामाचर।। सैव, 3.9
तुलनीय ईशोपनिषद्, 2 :
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

17. गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। श्रीमद्भगवद्गीता, 4.23

18. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ऽथर्ववेदः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अय परा यया तदक्षरमधिगम्यते। मुण्डकोपनिषद्, 1.1.5

19. तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके।। तुलनीय सैव, 1.2.1

सुकृत (शुभ कर्मों से प्राप्त) पुण्य ब्रह्मलोक अर्थात् स्वर्गलोक का प्रापक वर्णित किया गया है। दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य आदि अठारह निम्न श्रेणी के अर्थात् सकाम कर्मों से युक्त यज्ञ अठारह अदृढ (अस्थिर) नौकायें हैं (जिनसे भवसागर पार करना सम्भव नहीं है); जो मूर्ख व्यक्ति इसे ही कल्याण का मार्ग मानकर इसकी प्रशंसा करते हैं वे निःसन्देह बार-बार जरा-मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं। अविद्या के भीतर वर्तमान होने पर भी अपने-आप बुद्धिमान् बनने वाले और अपने-आपको पण्डित (विवेकी विद्वान्) मानने वाले ये मूर्ख बार-बार आघात (कष्ट) सहन करते हुए ठीक वैसे ही भटकते रहते हैं जैसे कि अन्धे के द्वारा ही ले जाये जाने वाले अन्य अन्धे। ये मूर्ख लोग अविद्या में बहुधा वर्तमान होने पर भी 'हम कृतार्थ हो गये' ऐसा अभिमान कर लेते हैं, क्योंकि कर्मी अर्थात् सकामकर्म करने वाले लोग फलासक्ति (राग) के कारण कल्याण के मार्ग को नहीं जान पाते हैं, जिस कारण वे दुःख से आतुर हो क्षीणलोक होकर (पुण्यार्जित स्वर्गादि लोकों से हटाये जाकर) नीचे गिर जाते हैं। इष्ट (यज्ञ यागादि श्रौतकर्म) तथा पूर्त (वापी, कूप आदि खुदवाना, बगीचे लगवाना आदि स्मृति विहित कर्म) सकाम कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले अत्यन्त मूर्ख लोग उससे भिन्न श्रेय को नहीं जानते; अतः वे पुण्यकर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग के उच्चतम स्थान (पृष्ठ) में भोगों का अनुभव करके इस (मर्त्यलोक) अथवा इससे भी हीन लोक में प्रवेश करते हैं।[20] अतः (सकाम) कर्म से प्राप्त किये जाने वाले लोकों की परीक्षा करके ब्राह्मण (ब्रह्मजिज्ञासु) को चाहिए कि वह निर्वेद को प्राप्त हो जाए और जान ले कि स्वतःसिद्ध (अकृत) ब्रह्म इस कृत कर्म से प्राप्य नहीं है; और उस अक्षर ब्रह्म के अधिगम के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय (वेद के सम्यक् ज्ञाता) तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाये।[21]

'श्रीमद्भगवद्गीता' में दैवयज्ञ, इन्द्रियसंयमयज्ञ, विषयहवनयज्ञ, आत्मसंयमयोग (समाधि-योग), जपयज्ञ, प्राणयज्ञ तथा ब्रह्म (आत्म) – यज्ञ– इन प्रमुख यज्ञों का वर्णन आया है। विविध देवों को उद्दिष्ट करके हवन, पूजा, मन्त्रजप, दान आदि करना दैवयज्ञ है;[22] संयमरूप अग्नियों में समस्त इन्द्रियों का हवन इन्द्रियसंयमयज्ञ;[23] शब्दादि समस्त विषयों को इन्द्रियरूप अग्नियों में हवन करना विषयहवनयज्ञ;[24] इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाओं को और प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से दीपित आत्मसंयमयोगरूप अग्नि में हवन करना आत्मसंयमयोगयज्ञ;[25] प्राणायामपरायण होकर अपान में प्राण का (कुम्भक), वैसे ही प्राण में अपान का (रेचक) हवन करना, प्राण तथा अपान की गति को

---

20. सैव, 1.2.1-10

21. परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो।
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।। सैव, 1.2.12
यहाँ 'श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' पदों से श्रुति (वेद) का वास्तव में ब्रह्म प्रतिपादकत्व सिद्ध होता है, जो 'श्रीमद्भगवद्गीता' को भी मान्य है।

22. दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते। श्रीमद्भगवद्गीता, 4.25 क

23. श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। सैव, 4.26 क

24. शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। सैव, 4.26 ख

25. सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। सैव, 4.27

रोककर प्राणों को प्राणों ही में हवन करना;[26] नासाभ्यन्तरचारी प्राणी तथा अपान की गति को सम करना[27] आदि प्राणयज्ञ; प्रणव (ओङ्कार)[28] अथवा मन्त्रविशेष का जप जपयज्ञ; और सर्वत्र अभेददर्शन तथा ब्रह्मभावानुभूति ब्रह्मयज्ञ।[29] ब्रह्मयज्ञ में अर्पण (स्रुवादि) ब्रह्म होता है, हरिर्द्रव्य भी ब्रह्म ही होता है, ब्रह्मरूप यजमान द्वारा ब्रह्माग्नि में आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म ही होती है, और इस ब्रह्मकर्म में स्थित योगी का प्राप्तव्य फल भी ब्रह्म ही होता है।[30] यही ब्रह्माग्नि में यज्ञ से यज्ञ का यजन है।[31] अन्यत्र उल्लिखित यज्ञ हैं– द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ तथा स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञ।[32] स्थूल रूप में विविध यज्ञों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है– द्रव्ययज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ। 'श्रीमद्भगवद्गीता' के अनुसार द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेयान् है, क्योंकि अखिल कर्म ज्ञान में परिसमाप्त होता है।[33] ज्ञानयज्ञ का अभिप्राय साधक द्वारा सम्पूर्ण भूतों को निःशेष भाव से पहले अपने में और बाद में सच्चिदानन्द घन परमात्मा में देखना है।[34] ज्ञानाग्नि सर्वकर्मों को भस्मसात् कर देता है।[35] इस प्रकार उपरिसंकेतित ब्रह्मयज्ञ तथा यह ज्ञानयज्ञ स्वरूपतः एक ही माने जा सकते हैं। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में जपयज्ञ को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए श्रीकृष्ण अपने-आपको यज्ञों में जपयज्ञरूप घोषित

---

26. अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।। सैव, 4.29-30

27. प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।। सैव, 5.27 ख
प्राण तथा अपान की गति विषम होती है; कभी वे वाम नासिका में चलते हैं और कभी दक्षिण नासिका में। वाम नासिका में चलने को इडानाडी में चलना और दक्षिण नासिका में चलने को पिङ्गला-नाडी में चलना माना जाता है। इस स्थिति में मनुष्य के चित्त में चञ्चलता और विकल्प रहते हैं। प्राण तथा अपान की गति को दोनों नासिकाओं में समकर देने से वे सुषुम्णा में गतिशील हो जाते हैं, जहाँ उनकी गति सूक्ष्म तथा शान्त रहती है, जिससे साधक को, मन में विकल्पों के विगलित होने से स्थिर शान्ति की स्थिति प्राप्त होती है।

28. ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। सैव, 8.13 क

29. सैव, 4.24, 25

30. ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिनां।। सैव, 4.24

31. ब्रह्मग्नावपरे यज्ञं यज्ञे नैवोपजुह्वति। सैव, 4.25 ख
तुलनीय ऋग्वेद, 10.90.19 : यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।

32. द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। श्रीमद्भगवद्गीता, 4.28

33. श्रेयान्द्रव्यमयाद्यःज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। सैव, 4.33

34. यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।। सैव, 4.35

35. यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुते ऽर्जुन।
ज्ञानाग्नि : सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।। सैव, 4.37
तुलनीय मुण्डकोपनिषद्, 2.28 :
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।

करते हैं।[36] यज्ञशिष्ट अमृत (देवतादि को विधिपूर्वक अन्न का विभाग करने पर अवशिष्ट अन्न) का भोग करने वाले योगिजन सनातन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं;[37] अन्नभिन्न यज्ञों में अन्तःकरण की शुद्धि होने पर प्रसाद की उपलब्धि[38] को ही यज्ञशिष्ट अमृत मानना चाहिए, जो ब्रह्मप्राप्ति में हेतु है। किसी भी प्रकार के यज्ञादि कर्म फलासक्तिरहित यज्ञार्थ अर्थात् कर्त्तव्यभाव से अथवा परमेश्वर के निमित्त अनुष्ठित करने चाहिए, कामनापूर्वक नहीं। मनुष्य को चित्त से सभी कर्मों को परमेश्वर को समर्पित करते हुए तत्परायण तथा तच्चित्त होना चाहिए।[39]

वस्तुतः सभी यज्ञादि कर्मों में यजनीय किं वा आराधनीय परम देवता केवल परमेश्वर ही है। वही ब्रह्म है, वही सम्पूर्ण अध्यात्म और वही अखिल कर्म।[40] वही अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ है।[41] वही सबका प्रभव है, जिससे सब प्रवर्तित होता है;[42] वस्तुतः वही सब कुछ है।[43] सारे देवता परमेश्वर के अन्तर्गत ही हैं।[44] भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि अन्य देवताओं का श्रद्धायुक्त होकर यजन करने वाले भक्त भी वस्तुतः अविधिपूर्वक (अज्ञानपूर्वक) मेरी ही पूजा करते हैं;[45] भोगकामनाओं द्वारा हृतज्ञान व्यक्ति अपने स्वभाव से प्रेरित होकर अन्य देवताओं की पूजा करते हैं; जो-जो भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धापूर्वक पूजना चाहते हैं उस-उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी

---

36. यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। श्रीमद्भगवद्गीता, 10.25 ख

मनु (मनुस्मृति, 2.85) के अनुसार विधियज्ञ से जपयज्ञ दस गुना, उपांशुजप सौगुना और मानसजप हजारगुना श्रेष्ठ है–

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः।।

37. यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। श्रीमदभगवदगीता, 4.31

38. सैव, 2.64-65; 18.36-37

39. चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव।। सैव, 18.57

40. जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।। सैव, 7.29

इसी प्रकार 'मुण्डकोपनिषद्' (2.1.10) में पुरुष को तप, कर्म तथा परम अमृत ब्रह्म यह सब माना गया है : पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।

41. साधिभूताधिदैवं मा साधियज्ञं च ये विदुः। श्रीमदभगवदगीता, 7.30 क

42. अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रत्यस्तथा।। सैव, 7.6 ख
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। 10.8 ख

43. वासुदेवः सर्वम्। सैव, 7.19 ख

44. पश्यामि देवांस्तव देव देहे। सैव, 11.15 क

आपाततः पृथक् प्रतीत होने वाले विविध देवता वस्तुतः उसी एक आत्मरूप परमेश्वर की विविध कर्मविशेषानुसार अभिव्यक्तियाँ होने के कारण उसी के अंगभूत हैं। अवलोकनीय ऋग्वेद, 1.164.46 : एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति; 3.55.19 : महद्देवानामसुरत्वमेकम्; यास्क, निरुक्त, 7.4 : माहाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।......कर्मजन्मानः। आत्मजन्मानः। आत्मैवेषां रथो भवति। आत्माश्वः। आत्मायुधम्। आत्मेषवः। आत्मा सर्वं देवस्य।

45. ये ऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।। श्रीमद्भगवद्गीता, 9.23

देवता के प्रति स्थिर करता हूँ; वह पुरुष श्रद्धापूर्वक उस देवता का पूजन कर उससे मेरे द्वारा ही विहित अभीष्ट भोगों को प्राप्त करता है; किन्तु उन अल्प बुद्धि वालों का फल नाशवान् होता है और वे तत्तद्देवताओं को प्राप्त करते हैं, जबकि मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।[46] भगवत्तत्त्व को न जानने वाले लोग देवतादि को यज्ञादि का भोक्ता समझते हैं, इसी से वे अल्प तथा विनाशशील फल के भागी होते हैं; किन्तु वास्तव में यज्ञादि का भोक्ता तो परमेश्वर ही है।[47] यही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि क्रतु (श्रौतकर्म) मैं हूँ; यज्ञ (पञ्चमहायज्ञादि स्मार्त कर्म) मैं हूँ; स्वधा (पितरों के निमित्त प्रदान किया जाने वाला अन्न) मैं हूँ; औषध (इन कर्मों के लिए प्रयोजनीय वनस्पतियाँ, अन्न और रोगनाशक जड़ी-बूटियाँ) मैं हूँ; (विनियुक्त) मन्त्र मैं हूँ; आज्य (घृतादि सामग्री) मैं हूँ; अग्नि (गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि आदि) मैं हूँ; और हवनक्रिया (हुत) भी मैं हूँ।[48] परमात्मप्राप्ति ही परम लाभ है।[49] अतः योगी पुरुष वेदों, यज्ञों, तपस्या तथा दान में प्रदिष्ट पुण्यफल (तत्फलस्वरूप विविध भोगों की प्राप्ति) का अतिक्रमण कर सनातन परम पद को प्राप्त करता है।[50] ब्रह्म को प्राप्त ज्ञानी पुरुष का संसार से कोई भी प्रयोजन नहीं रह जाता; वह आत्मतृप्त, आत्मा ही में सन्तुष्ट रहता है; उसके लिए कुछ भी करणीय शेष नहीं रह जाता है।[51] वेदों के द्वारा वेद्य तत्त्व ब्रह्म अथवा परमेश्वर है, वही उनके तात्पर्य का सम्यक् ज्ञाता भी है;[52] अतः ब्रह्मवेत्ता पुरुष का वेद्य-तत्त्व की प्राप्ति हो जाने के कारण वेदों से भी कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। जिस प्रकार उस मनुष्य का जिसे कि अमृत के समान स्वादु तथा अथाह जल से भरा हुआ जलाशय मिल जाता है

---

46. कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।।
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।। सैव, 7.20-23

47. भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। सैव, 5.29
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च। सैव, 9.24 क

48. अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।। सैव, 9.16

49. यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। सैव, 6.22 क

50. वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परमं स्थानमुपैति चाद्यम्।। सैव, 8.28

51. यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।। सैव, 3.17-18 क
तुलनीय उत्तरगीता, 1.22 : ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्।।

52. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्। श्रीमदभगवदगीता, 15.15 ख

जल के लिए वापी, कूप, तडाग आदि छोटे-छोटे जलाशयों से कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है, उसकी समस्त जलसम्बन्धी आवश्यकतायें और कामनायें पूर्ण हो जाती हैं उसी प्रकार परमानन्दमहोदधि ब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर ब्रह्मवेत्ता को आनन्दोपलब्धि के लिए वेदोक्त कर्मों के फलरूप भोगों से कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता है, क्योंकि वह पूर्णकाम और नित्यतृप्त हो जाता है।[53] वस्तुतः ब्रह्मरूप रस ही आनन्द है, उसे ही प्राप्त कर जीव आनन्दी होता है;[54] रस से तृप्त ज्ञानी सर्वतोन्यूनताविहीन हो जाता है।[55] परब्रह्म के दिव्य रूप का प्रत्यक्ष साधक को उनके अनुग्रह से प्राप्त दिव्य आध्यात्मिक दृष्टि के माध्यम से[56] और अनन्य भक्ति द्वारा ही सम्भव है;[57] वेद तथा समस्त यज्ञसम्बन्धी क्रियाओं के अध्ययन, दानों, क्रियाओं (श्रौत-स्मार्त यज्ञादि तथा वर्णाश्रमधर्मादि शास्त्रविहित कर्मों), उग्र तपों (कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत तथा अन्यान्य कठोर तपस्याओं) से नहीं है।[58] 'श्रीमदभगवदगीता' के इस प्रकार के सन्दर्भों के मूल में वेद के प्रति अवहेलना के भाव की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इनका अभिप्राय तो वस्तुतः वेदों से वेद्य ब्रह्मतत्त्व के प्रति साधनभूत वेदों की गौणता और फलासक्तिपूर्वक अनुष्ठित यज्ञादि कर्मों की अवरकर्मता प्रदर्शित करना है।

'श्रमद्भगवद्गीता' में भगवान् श्रीकृष्ण वेदों के प्रति अत्यन्त आदरभाव व्यक्त करते हुए स्वयं को मन्त्रत्रयी-ऋक्, साम तथा यजुः[59]; वेदों में सामवेद[60] और सामों में बृहत्साम[61]; सब वेदों में प्रणव अथवा ओङ्कार[62]; और छन्दों में गायत्री[63] (वैदिक छन्दोविशेष) घोषित करते हैं। वे स्पष्टतः

53. यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। सैव, 2.46

54. यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। तैत्तिरीयोपनिषद्, 2.7

55. रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। अथर्ववेद, 10.8.44

56. दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।। श्रीमद्भगवद्गीता, 11.8 ख

57. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधो ऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।। सैव, 11.54

58. न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।। सैव, 11.48
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।। 11.53

59. वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।। सैव, 9.10 ख

60. वेदानां सामवेदोऽस्मि। सैव, 10.22 क

61. बृहत्साम तथा साम्नाम्। सैव, 10.35 क
बृहत्साम में परमेश्वर की इन्द्ररूप में स्तुति की गयी है।

62. प्रणवः सर्ववेदेषु। सैव, 7.8 ख
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च।। 9.17 ख

63. गायत्री छन्दसामहम्। सैव, 10.35 क
गायत्री की महिमा निम्न सन्दर्भों से सुतराम् स्पष्ट है :
गायत्री छन्दसां मातेति। नारायणोपनिषद्, 34
अभीष्टं लोकमाप्नोति प्राप्नुयात् काममीप्सितम्।
गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी।।
गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।
हस्तत्राणप्रदा देवी पततां नरकार्णवे।। शङ्खस्मृति, 12.24-25

अपने-आपको वेदों द्वारा वेद्य तत्त्वं तथा वेदवित् कहते हैं।[64] उनके अनुसार वेदवित् ब्रह्म का अक्षर (ओम्) के रूप में वर्णन करते हैं;[65] और वैदिक ग्रन्थों में सचमुच ही ब्रह्म का इस रूप में वर्णन प्राप्त होता है।[66] उनका कथन है कि क्षर (नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्र) से अतीत और अक्षर (अविनाशी जीवात्मा) से भी उत्तम होने से लोक तथा वेद में मैं 'पुरुषोत्तम' नाम से प्रसिद्ध हूँ।[67] वैदिक ग्रन्थों में ब्रह्म अथवा परमेश्वर अनेकत्र 'पुरुष' नाम से अभिहित है।[68] 'श्रीमदभगवद्गीता' के अनुसार ऋषियों द्वारा विविध मन्त्रों के माध्यम से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-तत्त्व का बहुधा प्रतिपादन किया गया है।[69] 'श्रीमदभगवदगीता' में ब्रह्म का सर्वतःपाणिपाद, सर्वतोऽक्षिशिरोमुख, सर्वतःश्रुतिमत् तथा लोक में सब कुछ को आवृत कर स्थित रूप में वर्णन[70] 'ऋग्वेद' के पुरुष-वर्णन की छाया ही है।[71]

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पाकर्मणाम्।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च संजपेत्।। संवर्तस्मृति, 218
नास्ति गङ्गासमं तीर्थं न देवः केशवात्परः।
गायत्र्यास्तु परं जप्यं न भूतं न भविष्यति।। बृहद्योगियाज्ञवल्क्य, 10.10
सर्ववेदसारभूता गायत्र्यास्तु समर्चना।
ब्रह्मादयोऽपि सन्ध्यायां तां ध्यायन्ति जपन्ति च।। देवीभागवत, 11.16.15
गायत्र्युपासना नित्या सर्ववेदैः समीरिता।
यया विना त्वधःपातो ब्राह्मणस्यास्ति सर्वथा।। 12.8.89
अवलोकनीय जयदयाल गोयन्दका, श्रीमदभगवदगीता – तत्त्वविवेचनी टीका, पृ. 436, पादटिप्पणी।

64. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। श्रीमद्भगवद्गीता, 15.15 ख

65. यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।। सैव, 8.11
तुलनीय सैव, 8.21 क : अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्। 11.18 क
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्। 11.37 ख

66. ओ३म् खं ब्रह्म। शुक्ल–यजुर्वेद (माध्यन्दिन–संहिता), 40.17
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते।। ऋग्वेद, 1.164.39; अथर्ववेद, 9.10.18; तैत्तिरीय–ब्राह्मण, 3.10.9.14; तैत्तिरीयारण्यम, 2.11.1
सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमत्येतत्।। कठोपनिषद्, 1.2.15 :
ओमिति ब्रह्म। ओमितीदं सर्वम्। तैत्तिरीयोपनिषद्, 1.8

67. यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतो ऽस्मिल्लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।। श्रीमद्भगवद्गीता, 15.18

68. यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकं तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।। ऋग्वेद, 10.901,2,3,4,5,9,7,11,15 (पुरुषसूक्त); तैत्तिरीयारण्यक, 10.20.10

69. ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।। श्रीमद्भगवद्गीता, 13.4

70. सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतो ऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।। सैव, 13.13
तुलनीय 'श्वेताश्वतोपपनिषद्, 3.16 (समान पाठ)।

71. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।। ऋग्वेद, 10.90.1

उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि 'श्रीमदभगवदगीता' में कहीं भी वेदों की निन्दा नहीं की गयी है; हाँ, उनमें प्रतिपादित यज्ञादिक कर्मों के सकामभाव और फलासक्तिपूर्वक अनुष्ठान की अवश्य निन्दा की गयी है, क्योंकि उनका अनुष्ठान केवल निष्कामभाव अथवा कर्त्तव्यभावना से करणीय है। कुछ अविवेकी जन मानते हैं कि वेदों में केवल ऐहिक तथा आमुष्मिक भोगैश्वर्यादि की प्राप्ति के साधनभूत कर्म ही वर्णित है; किन्तु 'श्रीमद्भगवद्गीता' इस भ्रान्ति को दूरकर स्पष्ट घोषणा करती है कि वेदों का वास्तविक प्रतिपाद्य ब्रह्म अथवा परमेश्वर ही है।[72]

'श्रीमद्भगवद्गीता' महाभारतगत भीष्मपर्व का भाग है।[73] 'स्कन्दपुराण' के अनुसार गीताशास्त्र वेद के गूढ अर्थ को दर्पण की भाँति प्रकाशित करने वाला है।[74] मुनिवर व्यास जी ने अठारह पुराण, नव व्याकरण और चार वेदों का मन्थन करके 'महाभारत' की रचना की थी और 'महाभारत' का भी मन्थन कर 'गीता' की स्पष्टता भी थी।[75] अत एव 'गीता' सर्ववेदमयी है।[76] 'श्रीमद्भगवद्गीता' उपनिषदों का सारभूत अमृत है[77] और उपनिषद् 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध हैं; अर्थात् ऐसे ग्रन्थ जो वेद के प्रतिपाद्य का निश्चित तथा पर्यवसित रूप प्रस्तुत करते हैं; स्वयं श्रीकृष्ण 'छान्दोग्योपनिषद्' में देवकीपुत्र कृष्ण के रूप में उल्लिखित हैं।[78] अतः 'श्रीमद्भगवद्गीता' का वेद से सम्बन्ध सुतराम् सिद्ध है।

---

72. वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। श्रीमद्भगवद्गीता, 15.15 ख
ऋग्वेद (10.71.5) में आगत "अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्" की विवृति में आचार्य यास्क वाणी के पुष्प तथा फल अर्थ को, अथवा यज्ञज्ञान तथा देवताज्ञान को, अथवा देवता तथा अध्यात्म को मानकर अध्यात्म को अन्त में परिगणित करते हुए यह संकेत करते हैं कि मन्त्ररूपिणी वाणी का अन्तिम तात्पर्य अध्यात्म में निहित है : अर्थं वाचः पुष्पफलमाह। याज्ञदैवते पुष्पफले। देवताध्यात्मे वा। निरुक्त, 1.20। श्रीकृष्ण अपने–आपको विद्याओं में अध्यात्मविद्या मानते हुए उसे सर्वोपरि विद्या घोषित करते हैं : अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। (श्रीमदभगवदगीता, 10.32 ख)।

73. सं. भाण्डारकर प्राच्यविद्या-संशोधन-संस्थान, पुणे। भीष्मपर्व, अध्याय 23-40

74. इदं शास्त्रं मया प्रोक्तं गुह्यवेदार्थदर्पणम्। स्कन्दपुराण, गीतासार, श्रीमदभगवदगीतामाहात्म्य, श्लोक 3 क

75. अष्टादशपुराणानि नवव्याकरणानि च।
निर्मथ्य चतुरो वेदान् मुनिना भारतं कृतम्।।
भारतोदधिनिर्मथ्यगीतानिमर्थितस्य च।
सारमुद्धृत्य कृष्णेन अर्जुनस्य मुखे धृतम्।। तदेव, श्लोक 5-6

76. सर्ववेदमयी गीता। तदेव, श्लोक 9 क

77. सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

78. छान्दोगयोपनिषद्, 3.17.6

समस्यायें और सम्भावनायें

प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी

मेरे वरिष्ठ समकालीनों में से कुछ संस्कृत में प्रायः पारम्परिक शैली में उत्तम कवितायें लिख रहे हैं। मेरे कनिष्ट समकालीनों में कम से कम दो ऐसे हैं, जो संस्कृत में एकदम ही अलग तरह की कवितायें लिख रहे हैं, लीक से बहुत हटकर। इनके अतिरिक्त अनेक महानुभाव ऐसे हैं, जो इस ज़िद से ही प्रेरित होकर संस्कृत में लिख रहे हैं कि वे संस्कृत को किसी भी अन्य आधुनिक भाषा के समतुल्य आज के समय की अभिव्यक्ति का माध्यम साबित कर देंगे। कुछ इस भोलीभाली आशा से प्रेरित होकर भी संस्कृत में लिखते जा रहे हैं कि संस्कृत तो अमरवाणी ठहरी, अन्य भाषाओं में लिखा साहित्य जब नष्ट हो जायेगा, तब भी उनका लिखा बचा रहेगा, और वे अमर रहेंगे। अनेक विद्वान् संस्कृत में इसलिए भी लिख रहे हैं कि अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्य आधुनिकता के द्रुत प्रवाह में जितना आगे निकल गया है, वह उनकी पहुँच के बाहर है, संस्कृत में खप सकते हैं।

हो सकता है कि मेरे संस्कृत में लिखने के पीछे अत्यन्त अवान्तर या प्रच्छन्न रूप से अलग-अलग समयों में उपर्युक्त कारण भी उत्प्रेरक रहे हों। पर निश्चय ही वे मेरे लिए आदर्श नहीं हैं।

संस्कृत में लिखना मेरे लिए उस परम्परा से जुड़ने का माध्यम भी है, जो मेरे साथ है, पर आधुनिकता की तेज गति ने उनके और मेरे बीच में फाँक डाल दी है। संस्कृत साहित्य के अध्ययन और संस्कृत में रचना के द्वारा वह मुझमें नयी होकर उतरती है।

उपरिलिखित उद्धरण प्रस्तुत लेखक द्वारा दिये गये एक वक्तव्य से है। यह वक्तव्य उसने संस्कृत काव्यसंग्रह 'सन्धानम्' पर साहित्य अकादेमी पुररस्कार प्रदान किये जाने के अवसर पर दिल्ली में साहित्य अकादेमी द्वारा आयोजित परिचर्चा में दिया था। इस वक्तव्य के पीछे इस लेखक की यह चिन्ता सक्रिय थी कि अन्य भाषाओं के श्रेष्ठ रचनाकारों और दिल्ली के साहित्य-प्रेमियों के बीच संस्कृत के समकालीन लेखन को उसे बिना अतिरञ्जना के स्थापित करना है, और विशेष रूप से तो अपनी साहित्य यात्रा के सन्दर्भ में इस प्रश्न का उत्तर देना है कि आज संस्कृत में लेखन किसके लिए और क्यों ?

अपने सन्दर्भ में इस लेखक की ओर से इस प्रश्न का उत्तर यही दिया गया कि संस्कृत

को साहित्य कर्म का माध्यम चुनना उसके लिए अपने रचनात्मक परितोष और सही अभिव्यक्ति की खोज के लिए है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि संस्कृत में पिछली दो शताब्दियों में जितना साहित्य लिखा गया है, वह मात्रा की दृष्टि से किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा के इस काल के साहित्य से घटकर नहीं है, बल्कि महाकाव्य और नाटक जैसी कुछ विधाओं में तो सम्भवतः इस शती का संस्कृत-लेखन किसी भी इतर भारतीय भाषा की इन विधाओं के साहित्य से मात्रा में कुछ अधिक ही बैठेगा। संस्कृत का आज का यह साहित्य एकदम उपेक्षित भी नहीं रहा है, उसके ब्यौरे इकट्ठे करने का काम डॉ. वी. राघवन्, डॉ. रामजी उपाध्याय आदि विद्वानों ने किया है और विश्वविद्यालयों में उस पर शोध भी होता रहा है। पर आधुनिक संस्कृत-साहित्य पर विवरण इकट्ठा करने का उत्साह ही ऐसे प्रयासों में अधिक रहा है। इस साहित्य के वस्तुपरक तटस्थ मूल्याङ्कन तथा उसकी प्रासङ्गिकता की जाँच करने का कार्य, दायित्वपूर्ण समीक्षा-दृष्टि के साथ अब किया जाना चाहिए।

आज जो संवेदनशील और दृष्टि-सम्पन्न रचनाकार संस्कृत में लिख रहे हैं, उनकी रचना-प्रक्रिया में अटकाव अथवा चुनौतियाँ इन स्तरों पर आ सकती हैं– (1) संस्कृत भाषा की पदावली और अभिव्यक्तियों से जुड़ा हुआ मिथकीय परिवेश, (2) इस परिवेश का आधुनिक युगबोध, नये वातावरण से असंश्लेष तथा (3) इस असंश्लेष के कारण रचना में आधुनिकता और समकालीनता का क्षरण।

कदाचित् किसी भी भाषा में लिखने वाले साहित्यकार की रचना-प्रक्रिया में अभिव्यक्ति का सङ्कट किसी न किसी रूप में इन स्तरों पर घटित होता ही है।

संस्कृत के रचनाकार के लिए यह सङ्कट उसके अपने विशिष्ट सन्दर्भों में सामने आता है। उसके सामने इतर आधुनिक भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत की समृद्धतर और प्राचीनतर साहित्यिक परम्परा है। यह परम्परा अपने आपमें उसके आगे एक बड़ी सम्भावना और चुनौती बनकर खड़ी होती है। इसके विजड़, रूढ़ या आज के सन्दर्भ में विच्युत रूप को छाँटकर संस्कृत-साहित्य के रचना-कर्म को वह एक ऐसी पहचान दे, जो इतर भाषाओं के अद्यतन साहित्य के समक्ष गरिमापूर्ण रूप में उसके इस रचनाकर्म को उपस्थित कर सके। यह उसके समक्ष एक चुनौती है। समकालीन संस्कृत कवियों में से अधिकांश ने इस चुनौती का वरण नहीं किया है।

संस्कृत व्याकरण का अत्यन्त परिनिष्ठित तथा वैज्ञानिक रूप भी अपने आप में रचनाकार के लिए एक चुनौती है। संसार की किसी अन्य भाषा में लेखक को कोश और व्याकरण का मुखापेक्षी इस तरह नहीं होना पड़ता, जिस तरह संस्कृत के लेखक को। किसी अन्य भाषा में च्युतसंस्कृति जैसे दोषों की ऐसी चर्चा नहीं होती है, जैसी संस्कृत में। संस्कृत के रचनाकार के आगे एक दुरन्त समस्या रचना के पाठक या भावक की है। समूचे साहित्य जगत् में क्या कोई ऐसा सहृदय है, जो केवल संस्कृत रचना का पाठक हो ?

संस्कृत के सहृदय पाठक बहुतेरे हैं, पर वे ही सहृदय इतर भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे साहित्य के भी पाठक हैं। तब अन्य भाषा में जो अधिक सहज रूप में सुलभ है, उसी को

संस्कृत में लाने का द्राविड़ प्राणायाम क्यों किया जाय ? क्या संस्कृत में कहीं कुछ ऐसा लिखा जा रहा है, जिसका रचा जाना केवल संस्कृत में ही सम्भाव्य हो और जिसका रस या मर्म भी केवल संस्कृत का ही पाठक इदम्प्रथमतया ग्रहण करता हो और परखता हो ? समकालीन संस्कृत लेखन की यह चुनौती भी है और सम्भावना भी। सम्भावना की बात दुराशा या मिथ्या नहीं है, न ही वह भविष्य में गर्भित है। उस पर यहाँ आगे चर्चा की जायेगी। पहले चुनौतियों पर विचार कर लिया जाये।

संस्कृत में हो रहे नये लेखन की संस्कृतज्ञों द्वारा ही उपेक्षा की जाती है। इस उपेक्षा की पृष्ठभूमि में औपनिवेशिक मानसिकता है। उन्नीसवीं सदी में हमारे देश में अंग्रेजीदाँ प्राच्यविद्याविदों (Orientalists), भारतविदों (Indologists) की जमात उत्पन्न हुई। इनमें अनेक संस्कृत के हमारे समय के मूर्धन्य विद्वान् भी थे। पर इनकी दृष्टि और उनके संस्कार पारम्परिक संस्कृत पाण्डित्य से भिन्न थे। संस्कृत और उससे जुड़ी परम्परायें इनके लिए मात्र अतीत की वस्तुयें थीं और उन पर शोध के नाम पर वे उनकी शवपरीक्षा करते थे। पारम्परिक पण्डित जब संस्कृत में नये विज्ञान पर ग्रन्थ लिख रहे थे, संस्कृत में शास्त्रार्थ कर रहे थे और संस्कृत में बराबर नई कविता रची जा रही थी, तब ये प्राच्यविद्याविद् या भारतविद् संस्कृतज्ञ संस्कृत को मरी हुई भाषा मानकर उसके पुरातन साहित्य का अनुशीलन कर रहे थे। इस प्रकार के अनुशीलन की प्रविधि तथा पद्धति उन्हें पश्चिमी विद्वानों से मिली थी। मैक्समूलर तथा अन्य पश्चिमी विद्वानों ने हमारे प्राचीन साहित्य का उद्धार किया इसमें कोई सन्देह नहीं। पर इन विद्वानों की दृष्टि पर उपनिवेशवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद हावी था, वे भारतीय परम्पराओं की गत्यात्मकता और गन्तव्य को समझने या स्वीकार करने में असमर्थ थे।

क्या आज का संस्कृत-लेखन इन चुनौतियों से उबरकर अपनी गतिशीलता और भास्वरता पूर्णतः स्थापित कर पाया है ? इस दृष्टि से आज संस्कृत में लिखा जा रहा बहुत-सा साहित्य अग्राह्य प्रतीत होता है, उसे हमारी साहित्य-परम्परा की रूढ़ियों और लक्षणों ने सँकरी सीमा में बाँधा है। इसके साथ ही यह भी लगने लगता है कि संस्कृत का आज का रचनाकार आधुनिक जीवन की मुख्यधारा से कटा हुआ तो नहीं है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में परिवर्तन की तीव्र गति और तदनुसार बदलती संवेदना ओर जटिल होती स्थितियों का अवबोध क्या उसके संवेदन का हिस्सा बना है ?

इस काल की संस्कृत रचनाओं में इतिहास-पुराण से सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त आधुनिक जीवन से भी सन्दर्भ दृश्यालेख या विषय उठाये गये हैं, पर मिथक का प्रस्तुतीकरण आज की संवेदना को छू सके, ऐसी दृष्टि रचनाकार में नहीं दिखाई पड़ती है और उसका आधुनिक सन्दर्भों का प्रस्तुतीकरण इसलिए सतही लगने लगता है, क्योंकि आधुनिक सभ्यता और आज के आदमी की जटिल मनःस्थितियों के अन्तरङ्ग को पहचाने बिना वह अतिसरलीकरण करके उन्हें सामने रखता है। केवल दृश्यालेख समकालीन होने मात्र से किसी कृति की आधुनिकता प्रमाणित नहीं हो सकती है। आधुनिक जीवन और परिवेश के अन्तरतम तक उसकी पहुँच, पकड़ और उनके ऐतिहासिक बोध के साथ पुनरीक्षण की कृति की आधुनिकता को प्रतिष्ठित कर सकता है। इस काल

की बहुत-सी कृतियाँ यह दिखाने के उत्साह में आकर लिखी गयी प्रतीत होती हैं कि संस्कृत में रचना-कर्म अभी तक जारी है। संस्कृत अभिव्यक्ति का अभी भी प्रचलित माध्यम है, यह सिद्ध करने के लिए प्रक्रान्त उद्यम स्वागत योग्य है। परन्तु भाषा के प्रति उत्साह के साथ लेखन में रचना के प्रति संलग्नता और गम्भीरता भी होनी चाहिए। यह बात इस काल की संस्कृत रचनाओं में कम देखने में आयी है। जहाँ इस बात की सराहना की जानी चाहिए कि आज का संस्कृत-लेखक कालिदास, माघ या श्रीहर्ष की भाषा को उतनी ही निपुणता और उतने ही कौशल से लेखन का माध्यम बना सका है, वहीं केवल भाषा का प्रदर्शन ही यदि लेखन का एकमात्र उद्देश्य हो जाय, तो इसे रचनाकर्म की दृष्टि से एक विडम्बना ही कहा जाना चाहिए। इस विडम्बना का एक उदाहरण पं० रामस्वरूप पाठक का **"चित्रकाव्यकौतुकम्"** है, जिस पर साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी दिया जा चुका है। क्या भाषा की बाजीगरी, दरबारी संस्कृति से प्रेरित शैली आज अपेक्षित है ?

किसी भी भाषा को नवीन चेतना का संवाहक बनाने के लिए अपेक्षित लेखकीय आत्म-सङ्घर्ष की गहरी छाप संस्कृत के समकालीन लेखन में कम देखने को मिलती है। प्रायः क्लासिक्स का ऊपरी ढाँचा, बँधी-बँधाई अभिव्यक्तियाँ और मुहावरे, रचना पर हावी हो जाते हैं, कवि-प्रतिभा उनका रचनात्मक उपयोग नहीं कर पाती है। गाँधी, सुभाष, तिलक, नेहरू, विवेकानन्द, शिवाजी, प्रताप आदि पर ढेरों महाकाव्य संस्कृत में बीसवीं शती में लिखे गये हैं, किन्तु सभी पौराणिक आस्था, प्रशस्तिपरकता, महामानव की परिकल्पना या अवतारवाद और उपदेशपरायणता की प्रवृत्तियों से बोझिल है। साधुशरण मिश्र का **"गाँधीचरितम्"** प्राञ्जलभाषा में लिखा गया सरस काव्य है, परन्तु मङ्खक, कालिदास या माघ की तर्ज पर, "कामदेव के समान सुन्दर" युवा गाँधी को इंग्लैण्ड की ललनाओं का विस्मय-विमुग्ध होकर देखते रह जाने का वर्णन पूरी गम्भीरता के साथ जब करता है, तब वह महाकाव्य के रूढ़ ढाँचे में जकड़कर प्रामाणिकता और अपने परिवेश की पकड़ को खो देता है। जिस सरणि पर महाकाव्य की रचना संस् कृत में होती आयी है, उसका समय बीत गया है। नयी विधाओं ने महाकाव्य की जगह ले ली है। उपन्यास को मध्यमवर्ग का महाकाव्य माना गया है। साहित्य की संवेदना सामन्तवर्ग या धीरोदात्त नायक से हटकर मध्यमवर्ग या निम्नमध्यमवर्ग पर केन्द्रित हुई है। उपन्यास आधुनिक चेतना का एक वृहत् संवाहक है। गत दशकों में संस्कृत में उपन्यास लिखे तो गये हैं, किन्तु संख्या और गुणवत्ता दोनों ही दृष्टियों से न्यून है। संस्कृत के आधुनिक उपन्यास का गरिमामय समारम्भ पं० अम्बिकादत्त व्यास के **"शिवराजविजय"** से होता है। इस उपन्यास से आधुनिक संस्कृत-लेखन की सीमायें भी सामने आ जाती हैं। बाण और दण्डी की भाषा और शैली को लेखक ने अपनाया है, किन्तु वह उनके मुहावरे को अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का वाहक नहीं बना सका है। **"शिवराजविजय"** में भाषा कई बार कथ्य पर छायी हुई लगती है और क्लासिक्स की गहन संवेदना और प्रामाणिकता भी इस कृति में पूरी तरह नहीं आ पायी है। सन् 1951 में प्रकाशित आनन्दवर्धन का "कुसुमलक्ष्मीः" उपन्यास स्वतन्त्रता पूर्व भारत की तस्वीर प्रस्तुत करता है। लेखक में आधुनिक परिवेश की अच्छी समझ है तथा संस्कृत की नयी भाषायी सम्भावनाओं की खोज, कथा के उपस्थापन की सुगठित तकनीक और शैली की नवीनता की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है, परन्तु प्रेम की अपार्थिव वायवी-धारणा के कारण उपन्यास की कथा रूमानी धरातल पर ही आगे बढ़ती है और नायक-नायिका के अगणित सुख-स्वप्नों के

धूलिसात् हो चुकने और भग्न-हृदय से एक-दूसरे से विदा लेने के साथ उपन्यास समाप्त होता है। यह दो हृदयों की उत्कट चाह और गहन यन्त्रणा की भावुकता-भरी गाथा है, जिसमें तत्कालीन सांस्कृतिक विघटन और सामाजिक परिवर्तन-मात्र पृष्ठभूमि में आते हैं। हाल ही में दो उपन्यास प्रकाशित हुए हैं– **"व्यामोहः"** (श्याम विमल, दिल्ली) तथा **"गुहावासी"** (सत्यप्रकाश सिंह)। पहले में वायवी प्रेम की भावोच्छ्वसित कारुणिक गाथा है, दूसरे में हिमालय पर आत्मतत्त्व की खोज का प्रतीकात्मक आख्यान।

इस युग में संस्कृत में गीतिकाव्य-छोटी कविता की विधा– कदाचित् सबसे सम्पन्न रही है, अभिव्यक्ति का अधिक सुविधाजनक प्रकार होने तथा पत्रिकाओं में छपने की सहूलियत के कारण। कविता में नितान्त वैयक्तिक भावनाओं का उच्छ्वास और बेलाग प्रतिक्रिया– यह संस्कृत में नयी चीज है, जो इन कविताओं के द्वारा लायी गयी हैं। पिछले खेमे के कवियों में अप्पा शास्त्री, हरिदत्त पालीवाल आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। नये कवियों में श्रीनिवास रथ ने गीत और राजेन्द्र मिश्र ने ग़ज़ल, कजली और लोकगीतों की शैली में प्रयोग किये हैं।

साहित्यिक प्रखरता और सक्रियता आलोचना के लिए उत्प्रेरक बनती है। आधुनिक-काल में संस्कृत में लिखी रचनाओं पर ऐसी कोई सर्वाङ्गपूर्ण समीक्षाकृति नहीं दिखाई पड़ती, जो समग्रता में इस साहित्य का आकलन करती हो। साहित्यिक उत्कृष्टता ही प्रकृष्ट समीक्षा को जन्म देती है तो अच्छी समीक्षा का अभाव संस्कृत से आधुनिक साहित्य के लिए ऐसी चिन्तनीय स्थिति है।

समकालीन संस्कृत-लेखन पर उपर्युक्त टिप्पणी कटु इसलिए हो गयी है कि वह उस कुकविता या निरर्थक साहित्य के विषय में है, जो अधिकांशतः संस्कृत में आज लिखा जा रहा है। प्रत्येक देश-काल में, प्रत्येक भाषा के साहित्य में बहुत-सा ऐसा साहित्य लिखा जाता है, जो अपने रचनाकाल के समय ही अप्रासङ्गिक होकर मर जाता है। अमरवाणी में लिखी गयी प्रत्येक रचना न तो पहले भी किसी काल में अमर हो चुकी है, न अब हो सकती है। बुरी रचना के विरुद्ध आवाज **"अकवितैव वरं कुकवितातः"** के द्वारा पहले भी उठायी जाती रही है और अब भी उठायी जानी चाहिए। साहित्य की सप्राण परम्परा की स्रोतस्विनी को अपदार्थ कृतियों के कर्दम् के बीच से प्रवहमाण होकर आगे बढ़ना होता है। जिस प्रकार की कृतियों पर ऊपर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की गयी, उन्हें लक्षित कर महाकवि नीलकण्ठ दीक्षित ने भी पहले यही कहा था–

आमये यमके जाग्रत्यपमृत्यौ च दुष्कवौ।
वाणि प्राणिषि तन्मध्ये वज्रेणैवासि निर्मिता।।

संस्कृत की आज की साहित्य-परम्परा में भी जीवित रहने की यह वज्रसारता कहीं न कहीं निहित है। ऊपर हमने संस्कृत में नवलेखन की जिन चुनौतियों और समस्याओं का उल्लेख किया है, उनमें इस नवलेखन की सम्भावनायें भी देखी जा सकती हैं। संस्कृत-भाषा की समृद्धि और प्रौढ़ अभिव्यक्तियों, क्लासिक्स के सन्दर्भों तथा शब्दों से जुड़े मिथकीय या पौराणिक सन्दर्भों का रचनात्मक उपयोग करके कहीं-कहीं आज का संस्कृत-लेखन अपनी एक अलग भास्वरता में भी सामने आया है। पदावली तथा वाच्यार्थ की रूढ़ि ले लेकर संवेदना और भावबोध का अछूतापन रचना को अलग

तेवर दे सकता है। मधुमास में वृक्ष में फूटती कोपलें हर बार नयी लगती हैं। नयेपन का रचाव या रसपरिग्रह आज की संवेदना को अपने में पचा करके ही लाया जा सकता है। इसका एक उदाहरण हम कवि नागार्जुन की **"हैमीपार्वती"** शीर्षक शब्दचित्र का दे सकते हैं–

तारुण्यात् पूर्वमेव प्रथितविजयिनामग्रणीः कार्तिकेयः
तीक्ष्णप्रज्ञश्च विश्वे वितरति प्रतिभां बालको वारणास्यः।
तातस्याधित्यकासु प्रमुदितवदना कान्तसान्निध्यतुष्टा
निद्रात्येषा मृडानी तुहिनविततिभिः प्रावृत्तेवासमन्तात्।

यहाँ रूपबन्ध संस्कृत के पारम्परिक नान्दी पद्यों या मङ्गलाचरणों का है। उसमें "रसपरिग्रह" देवताओं में मानवीय और विशेषतः सुमधुर-पारिवारिक सम्बन्धों की कल्पना से हुआ है। शिव-पार्वती के दाम्पत्य और परिवार की रसमय छवियाँ नाना रूपों में पहले के कवियों ने भी रची हैं। इस पद्य में उनकी तुलना में नयापन और आकर्षण का स्थल कहाँ है ? निश्चय ही शिव के सुखी और भरे-पूरे परिवार की यह छवि हमें आकृष्ट करती है, तो इसलिए हमारे समय के पारिवारिक सम्बन्ध और संवेदना से वह कहीं न कहीं जुड़ती है। इस अर्थ में कवि अपने दोनों बेटों के व्यवस्थित हो जाने के साथ पति के सानिध्य में तुष्ट रहने वाली गृहस्थिन के रूप में पार्वती को नये सिरे से रचता है। यही आज के संस्कृत कवि की नवसर्जना है, मिथकीय परिवेश का रचनात्मक या प्रातिभोन्मेष के साथ उपयोग है। सारे पारम्परिक अभिप्रायों, स्थापित मुहावरों और भाषा को अपनाकर भी कवि अपनी "अर्थदृष्टि" या "समाधि" के द्वारा उनमें नयी चमक पैदा कर सकता है। यह चमक उसे अपने स्वयं के परिवेश, अपने समय और समाज की गहरी समझ से मिलती है।

नागार्जुन का संस्कृत पर अधिकार सन्दिग्ध है। इस पद्य में "वितरति प्रतिभाम्" में पारम्परिक दृष्टि से छन्द टूटा है। इससे अधिक परिष्कृत भाषा तथा निर्दुष्ट छन्दोविधान के साथ पद्य बाँधने वाले रचनाकार संस्कृत में अनेक हैं। फिर भी यहाँ कथ्य वैशिष्ट्य के कारण नागार्जुन का पद्य उद्धृत है। एक और पद्य में नागार्जुन ने गणेश और कार्तिकेय के बीच की क्रीड़ा का वर्णन किया है। यहाँ भी सारा परिवेश ऊपरी तौर पर मिथकीय है। इस तरह की क्रीड़ाओं का वर्णन भी संस्कृत-कवि करते आये हैं, किन्तु हिमकन्दुकों से क्रीड़ा की कल्पना– वह तो बर्फ के गोले उछालते आज के बच्चों की छवि को अन्तर्गर्भित करके ही साकार होती है–

नमामि हरपार्वतीप्रणयपद्मकिञ्जल्कजं
शिशुं शरवणोद्भवं गजमुखं च सिद्धिप्रभुम्।
यदीयहिमकन्दुकैः शिखरकोटिसंस्पर्शिभिः
शतद्रुरपि धावनेषु शिथिलादरा दृश्यते।।

कवि शिव और पार्वती के प्रणयपद्म के किञ्जल्क से जन्मे कार्तिकेय और गणेश को नमन करता है। यहाँ तक बन्ध पारम्परिक है, किन्तु उत्तरार्ध आधुनिक है। यदि मिथक को अपने समय में और अपने समय को मिथक में रखकर आँकने की बात न होती, तो कालिदास भी न **"कुमारसम्भव"** लिखते, न **"रघुवंश"**। यही कवि के रचनाविश्व का उसकी रुच्यनुकूल परिवर्तन

है या नियतिशक्ति से नियत रूप सुखदुःखमोहैकस्वभाव विधाता की अहृद्य सृष्टि के समानान्तर नया संसार रचने का उपक्रम है, जिसमें हम पुराण और अपने समय दोनों को उसके मति–दर्पण में नये रूप से आलोकित कर नये अर्थ में समझते हैं।

उक्त उदाहरणों में मिथकीय परिवेश आधुनिकता के वृत्त को समेटकर उपस्थित है। क्या हमारी भाषा आधुनिक परिवेश को सीधे-सीधे परिभाषित नहीं कर सकती है ? इसके उत्तर में "भारतभवन" पर लिखी नागार्जुन की ही कविता उद्धृत की जा सकती है।

जहाँ कविता की हजारों वर्षों की सम्पन्न परम्परा हो, वहाँ नवलेखन "अन्यच्छायायोनि" है। पर "अन्यच्छायायोनि" के द्वारा भी कवि मौलिक रूप में अपने समय की व्याख्या कर सकता है। नागार्जुन की **"लेनिनस्मृति"** शीर्षक कविता में पुरानी सूक्तियों, पदावलियों या मुहावरों का उपयोग आज के सन्दर्भों की अनुभूति अधिक मर्मस्पर्शी रूप में कराने के लिए किया गया है–

अपि कौशेयनिचिताः स्वर्णवर्णाङ्किता अपि।
सूक्तयस्तव सीदन्ति दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिताः।।

रेशमी बैनरों पर सुनहरे अक्षरों में लिखी होने पर तुम्हारी ये सूक्तियाँ आज "दुर्व्याख्यामूर्च्छित" होकर कसमसा रही हैं। "दुर्व्याख्याविषमूर्च्छित" यह पद मल्लिनाथ से लिया गया है। महाकवि की कविता के साथ भी कुव्याख्याओं ने अर्थ का अनर्थ किया है और हमारे समय के विचारक क्रान्तिदर्शी के शब्दों के साथ भी। यहाँ मल्लिनाथीय शब्दावली का उपयोग अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य या अर्थशक्त्युत्थध्वनि में उपमादि को व्यञ्जित कराकर अर्थ की संहति निर्मित करता है। यही प्रभाव **"रामायण"** की उक्ति के इस प्रयोग में भी है–

गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः।
जार्जलेनिनयोर्युद्धं जार्जलेनिनयोरिव।।

लेनिन की आकाश आकाश की तरह है और सागर सागर की तरह। जार्ज और लड़ाई भी जार्ज और लेनिन की लड़ाई की तरह है। एक सीमा के बाद इस तरह की पैरोडी या अन्यच्छायायोनिता का उपयोग शैली की रूढ़ियों में उलझा सकता है। **'लेनिन-स्मृति'** में ऐसे स्थल भी हैं। संस्कृत में नवलेखन की समस्या इस उलझाव से बचने की है।

संस्कृत एक भाषा भी है और एक धरोहर भी। भाषा और धरोहर दोनों की ऐसी गहरी सम्पृक्ति विश्व में और कहीं देखने को नहीं मिलती है। यह धरोहर भी ऐसी है, जो जड़ और रूढ नहीं रही है– उसमें वृद्धि भी होती आयी है। और पुराण नये का वरण करके अपने को सार्थक बनाता रहा है। इसलिए संस्कृत नये रचनाकर्म के लिए आकर्षित करती है।

संस्कृत भाषा की अभिव्यक्ति अपना एक विशिष्ट पर्यावरण निर्मित कर सकती है, जो इतर भाषा की अभिव्यक्ति में सदैव तथा सर्वथा सम्भाव्य नहीं हो सकता है। इसलिए अन्य भाषाओं के रचनाकार संस्कृत में भी रचना करते रहे हैं। यह रचनाकर्म अन्य भारतीय भाषा में रचना से पूरा परितोष न होने के कारण हो सकता है, या इसलिए भी लेखक को संस्कृत में रचना की नयी

सम्भावना के लिए अवकाश नजर आता हो। श्री अरविन्द (अंग्रेजी), कुमारन् आसान् (मलयालम), विश्वनाथ सत्यनारायण (तेलगु), नागार्जुन तथा जानकीवल्लभ शास्त्री (हिन्दी), उमाशंकर जोशी (गुजराती) आदि कतिपय उल्लेखनीय साहित्यकार हैं, जिन्होंने अपनी रचना के लिए संस्कृत को भी माध्यम बनाया है।

संस्कृत में **गोदान** जैसा उपन्यास लिखा जायेगा– इसकी सम्भावना क्षीण लगती है। स्थानीय रंजन, आंचलिकता या देशज छवियों का निदर्शन उसका साहित्य रेणु के **"मैला आँचल"** की तरह सहजता से नहीं बन सकता है। यद्यपि कविता में आंचलिकता का पुट या स्थानीय रन्जन की रंगत कुछ रचनाकार सफलतापूर्वक दे सके हैं। रेवाप्रसाद द्विवेदी के **'रेवाभद्रपीठम्'** (1968) में नर्मदा के तट पर बसे गाँवों का जीवन है।

ताटङ्कं श्रवसोः सुवर्णरचितं ग्रीवासु कण्ठावृता
स्वर्णालङ्कृतिरङ्गनासु भजते बाजट्टिका च श्रियम्।
बाजूबन्दयुगाविन्ते भुजयुगे चूडावतानान्विता
पादे वृश्चिकपायजेबटिका गर्वाय सञ्जाग्रति।।

बाजट्टिका (बजट्टी), बाजूबन्द, चूडा, पायजेब जैसे शब्द यहाँ खपाये गये हैं, बिछिया के लिए वृश्चिक लाया गया है।

संस्कृत कवि जनजीवन का चित्रण करता है, तो अनुभूति प्रवणता के स्थान पर विवरण बहुलता हावी हो जाती है। परम्परा रचनाकार की शक्ति भी है, सीमा भी। जिस छन्दःसंस्कार और लयबोध को आधुनिक भाषाओं के साहित्य ने खो दिया है, वह यहाँ है। इसके साथ ही जो संस्कार और संवेदनायें छीज रही हैं, वे यहाँ अनायास स्वतः बचे हुए हैं। तात्कालिकता के दबाव से अस्पृष्ट कुछ कवि संस्कृत में काल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म और विराट् दोनों रूपों का अनुभव समेटते हैं। जगन्नाथ पाठक कहते हैं–

अवलोक्य नताननाऽभवत् पुनरुन्नीय मुखं ददर्श माम्।
इयति क्षण एव जीवितं मरणं नन्वनुभूतवानहम्।।

प्रेमिका को देखकर मुख झुकाना और मुख उठाकर फिर देखना– इस एक क्षण में जीवन और मरण दोनों का अनुभव जो कर लेता है, वही काल के विराट् प्रवाह का भी यह अनुभव व्यक्त कर पायेगा–

कालो यास्यति वयमपि यास्यामो हन्त काल एतस्मिन्।
सकलं यातायातं पश्यति भगवान् महाकालः।।
याते क्षण एतस्मिन् जनिता बहवो मृताश्च बहवः।
जन्ममरणयोस्तटयोर्वहति सदा जीवनाख्यसरित्।।[1]

---

1. विच्छित्तिवातायनी, 525, 526

कालजयी साहित्य की परम्परा जीवन्त रूप में संस्कृत कवि के साथ है। उसका सातत्य रचना का सातत्य है। यह सातत्य पुराण का नवोन्मेष भी बनता है, पर कहीं नवीनता के लिए बाधक और घातक भी। राधावल्लभ की "धरित्रीदर्शनलहरी" में कई पद्यों में मेघदूत की छाया ही नहीं, पंक्तियों की आवृत्ति भी है। ऐसी आवृत्तियाँ प्रतिभा के दारिद्र्य, सुपरिचित काव्य पंक्तियों के प्रति व्यामोह और समस्या पूर्ति के चमत्कार के प्रति आकर्षण के कारण प्रायः की जाती हैं, यद्यपि कवित्व का प्रभाव ऐसे प्रयोगों में बनता है। विमान से कवि धरती को देखता है– बर्फ से ढकी धरती सफेद चादर ओढ़कर सोई लगती है। शीत से जड़, ग्लपित, दीन धरा शिशिर से मथ दी गयी कमलिनी की तरह बदली-बदली लगती है–

एषा शेते ह्यलसलुलिता क्लिन्नगात्रीव शीते
प्रच्छाद्य स्वां शिथिलिततनुं तूललेशैर्धरित्री।
जाड्याधिक्याददतिहिमजडा ग्लप्यमानातिदीना
जाता मन्ये शिशिरमथिता पद्मिनीवान्यरूपा।।[2]

चौथी पंक्ति कालिदास से ली गयी है। कवि परम्परा का ऋणी है। कवि का अपना अनुभव इसमें नहीं है। कालिदास का बिम्ब नये प्रकरण में लाकर समायोजित कर दिया गया है– इसका चमत्कार यहाँ है।

समकालीन संस्कृत लेखन में पारम्परिक विधान तथा जीवन दृष्टि और आधुनिकता का कहीं-कहीं साभिप्राय समागम हुआ है। मिथक, पुराकथायें या पौराणिक आख्यान हमारे जीवन का अविभाज्य अङ्ग हैं। रचना के लिए वे हमें आकर्षित करते हैं। आज के साहित्य के लिए उनमें सम्भावनायें बनी हुई हैं। पर पुराकथा और समकालिकता के बीच यदि असामञ्जस्य है, तो रचना में दरार भासने लगती है। संस्कृत कवियों ने पौराणिक कथाओं या पौराणिक पात्रों को लेकर बड़ी संख्या में महाकाव्य लिखे हैं। इनमें परोक्ष रूप से समकालीन सन्दर्भ गूँथे गये हैं। प्रभुदत्त ब्रह्मचारी का **"गणपतिसम्भवम्"** (1968) महाकाव्य गणेश के चरित्र के ब्याज से गणतन्त्र को लक्षित करता है। रेवाप्रसाद द्विवेदी (**"सीताचरितम्"** या **"उत्तरसीताचरितम्"**) तथा राजेन्द्र मिश्र (**"जानकीजीवनम्"**) ने अपने सीता विषयक महाकाव्यों में सीता के चरित्र के माध्यम से आज की स्त्री के आदर्श को व्यक्त किया है। पर ऐसी रचनाओं में या तो प्राचीन कथा पर आधुनिक विचार आरोपित लगने लगता है, या आधुनिक विचार के लिए पुराकथा आक्षिप्त की गयी प्रतीत होती है।

संस्कृत में लिखने वाला सनातनता के अनन्त प्रवाह में गोते खाने लगता है, तो समसामयिक वास्तविकता की धरती उसके पाँव के नीचे से खिसक जाती है। यदि वह समकालीन परिदृश्य को उठाता है, तो वह परिदृश्य उसके अनुभव में गहरे नहीं उतर पाता है, वह एक सतही विवरण भर बनकर आता है। फिर भी पिछले कुछ वर्षों में अनेक कवितायें ऐसी प्रकाशित हुई हैं, जिनके द्वारा संस्कृत कवि ने समसामयिक घटना और गहरी संवेदनशीलता के साथ अनुभव की प्रामाणिकता और यथार्थ की अनुभूति देते हुए अङ्कित किया है। रामकरण शर्मा की **"तैलावलिः**

2. सन्धानम्, 1988, पृ.

प्लवमाना'' खाड़ी युद्ध के समय समुद्र में फैले तेल के माध्यम से आज की बीभत्स राजनीति और सङ्कटग्रस्त मानवता का मार्मिक बोध कराती है। इसी प्रकार हर्षमाधव की ''आतङ्कवाद'' शीर्षक कविता भी निर्मम और जघन्य दानवीय प्रवृत्ति के विरूद्ध कवि का ओजस्वी प्रतिरोध-स्वर मुखरित करती है।

संस्कृत की अनेक समकालिक कविताओं में मिथकीय या पौराणिक चरित्रों के माध्यम से आधुनिक व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व, संशय और जटिल मनोविज्ञान बारीकी से चित्रित व्यञ्जित किया गया है। कमलेश दत्त त्रिपाठी की ''सुतनुके'' शीर्षक मुक्त छन्द और आधुनिक शैली की कविता में रामगढ़ के तीसरी शती ई० पू० के शिलालेख में उल्लिखित सुतनुका तथा देवदत्त– इन दो प्रेमियों की विस्मृत कथा के सन्दर्भ से आधुनिक व्यक्ति की द्विधाग्रस्त मनःस्थिति और छटपटाहट का चित्रण किया गया है[3]। डॉ. दयानन्द भार्गव की कविता 'द्विधा विभक्तं पुरुराजचित्तम्' इस दृष्टि से अभिनव प्रयोग है, जिसमें पौराणिक दुष्यन्त की भावनाओं के चित्रण में छन्दोबद्ध काव्य तथा आधुनिक दुष्यन्त के मनोभाव के चित्रण के लिए भिन्न भाषा शैली और मुक्त छन्द का अलग-अलग प्रयोग है। अफ्रीका के स्वाधीनता सेनानी नेल्सन मंडेला के कारागार से मुक्ति के प्रङ्सग को लेकर रेवाप्रसाद द्विवेदी ने ''शकटारकाव्यम्''[4] नन्दों के कुचक्र और मन्त्री शकटार की कारागार से मुक्ति के सन्दर्भ में आधुनिक विश्व में अभी घटित घटनाचक्र की व्याख्या की है, तथा शकटार और मंडेला दोनों को मनुष्य की चिरन्तन जिजीविषा और युत्सा का प्रतीक निरूपित किया है।

समकालीन संस्कृत लेखन की एक समस्या यह भी है कि तात्कालिक महत्त्व की रचनायें बड़ी संख्या में सामने आ रही हैं, पर वे अन्य भाषाओं में जो लिखा जा रहा है, उसका चर्वितचर्वण प्रतीत होती हैं। नयी विधाओं में जो लेखन संस्कृत में आज सामने आ रहा है, उसे पढ़ते हुए लगता है जैसे लेखक ने सोचा और समझा हिन्दी या किसी अन्य आधुनिक भारतीय भाषा में है, और उसका उलथा वह संस्कृत में करता गया है। संस्कृत की अपनी आत्मा ऐसे साहित्य में झंकृत होती नहीं लगती है। हाल में ऐसी ढेरों रचनायें प्रस्तुत लेखक के देखने में आयी हैं। नये वातावरण तथा नई विषयवस्तु को लेकर कहानियाँ या एकाङ्की संस्कृत में प्रचुर मात्रा में छप रहे हैं, पर उन्हें पढ़ते समय लगता है कि यही का यही तो हिन्दी या अन्य भाषा में हम पढ़ चुके हैं। इन रचनाओं की संस्कृत भी अनूदित संस्कृत मालूम पड़ती है। उदाहरण के लिए प्रशस्य मित्र शास्त्री की व्यंग्य रचनायें या कथासङ्ग्रह लें, इनमें आज के वातावरण का चित्रण है। संस्कृत परम्परा में नई विषयवस्तु का भी अवतरण कराया गया है, आज वे समाज की समस्याओं को भी छुआ गया है। पर यहाँ भाषा शैली संस्कृत के औदात्य का हनन करती है।

जब कालिदास, माघ, भारवि या श्री हर्ष रचना कर रहे थे, तब तक इतर भारतीय भाषायें इतनी बड़ी संख्या में विकसित नहीं हुई थीं, न ही इतनी अधिक भाषाओं में साहित्य निरन्तर उर्वर और प्रचुर मात्रा में रचा ही जा रहा था। प्राचीन संस्कृत महाकवियों पर भी क्षेत्रीय भाषाओं की वाक्यरचना, पदावली या मुहावरों का प्रभाव परिलक्षित होता है। पर संस्कृत की अपनी सम्पन्नता

3. दूर्वा, प्रवेशाङ्क, पृ. 23
4. वही, अङ्क 19, पृ. 45-46

और साहित्यिक समृद्धि के सामने यह प्रभाव अतिशय न्यून है। वर्तमान में आधुनिक भारतीय भाषायें अपेक्षाकृत अधिक विकसित हुई हैं तथा अनेक विधाओं में इन भाषाओं का साहित्य संस्कृत की इन्हीं विधाओं के साहित्य से उत्कृष्ट है। इस दृष्टि से कतिपय नवीन विधाओं में संस्कृत का साहित्य विपन्न तथा इतर भारतीय भाषाओं में से कुछ का उसकी तुलना में सम्पन्न प्रतीत होता है। कहानी, उपन्यास या ललित निबन्ध कुछ ऐसी ही विधायें हैं। इन विधाओं में लिखने वाले रचनाकारों की भाषा, वाक्य-रचना, विषयवस्तु तथा वस्तु-निर्वाह पर हिन्दी या अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं की शैली का प्रभाव छाया हुआ है। एक सीमा तक यह प्रभाव अनिवार्य है। समर्थ रचनाकार भी यदि इसे स्थगित नहीं करते, तो अतिक्रान्त अवश्य करते हैं। राजेन्द्र मिश्र की कहानियों में हिन्दी वाक्यरचना और हिन्दी क्षेत्र के मुहावरों के संस्कृतीकरण बड़ी मात्रा में हुआ है, पर संस्कृत का अपनापन लुप्त नहीं हुआ है, वरन् क्षेत्रीय बोलियों से नयी पदावली पाकर वह और सम्पन्न बनी है।

दूसरी ओर कम प्रतिभाशाली लेखकों में भाषा दूसरे दर्जे के हिन्दी या आधुनिक भाषाओं के लेखकों की बैसाखी लगाकर भी लंगड़ाती हुई चलती है।

"शुभे, एनं सम्मिलतु, एष एव डॉक्टर हिमांशुः वर्तते"[5] इस प्रकार के वाक्य हिन्दी में इनसे मिलिये – जैसे वाक्यों के अनुवाद होते हैं। एक सीमा तक ये समकालीन वातावरण की सृष्टि के लिए अपेक्षित भी हैं। पर–

"सर्वप्रथमं इदं बान्द्रास्थितं भ्रवनं मया सुशीलमहोदयद्वारा प्रदत्तोपहाररूपेणाधिगतम्"[6]

इस प्रकार के वाक्य आज के संस्कृत कथाकार की रचना में पदे-पदे मिलने लगें, तो निश्चित ही वे संस्कृत की रचनाशक्ति को पंगु बनाते हैं, हमारे साहित्य की गरिमा का हनन करते हुए उसे परमुखापेक्षी और असहाय साबित करते हैं। प्रश्न भाषा, वाक्यरचना और व्याकरण का ही नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या संस्कृत का रचनाकार चिन्तन, प्रतिभा और दृष्टि में इतना दरिद्र हो गया है कि उसे हिन्दी आदि भाषाओं में भी पुराने पड़ गये विषयों और वाक्यावलियों का उल्था संस्कृत में करना पड़े ?

भाषा को रचनात्मक बनाकर इस परम्परा में आस्वाद का अनोखापन संस्कृत का रचनाकार दे सकता है। इच्छाराम द्विवेदी की **"निरीक्षण"** कहानी में बाणभट्ट की परिसंख्या अलंकार वाली शैली का आज के विसंगति बोध, विडम्बन की अभिव्यक्ति के लिए अच्छा समावेश है।[7]

क्या यह विडम्बना मानी जाये कि संस्कृत की नयी रचनाओं की यदि समीक्षा भी होती है, तो सबसे पहले चर्चा उसमें व्याकरण की शुद्धता पर होती है। अन्य भाषाओं के साहित्य की

---

5. अनाघ्रतं पुष्पम्, 1994 पृ. 23
6. वही, पृ. 78
7. एकादशी, 1995 पृ. 24-34

समीक्षा में व्याकरण का ऐसा दुर्निवार आग्रह नहीं है। न चाहते हुए भी इन व्याख्यानों में भी संस्कृत रचनाओं की समीक्षा में व्याकरण की त्रुटियों या असंस्कृत वाक्यरचना की चर्चा आ ही गयी है। यदि यह बात केवल संस्कृत रचना के क्षेत्र में ही अब बची रह गयी है कि वहाँ असंस्कार, च्युतसंस्कृति और अपप्रयोग सह्य नहीं है, तो इसे इस रचना क्षेत्र की शक्तिमत्ता कहा जाये या संकीर्णता अथवा प्रतिगामिता ?

अन्त में जहाँ से आरम्भ किया था, अर्थात् प्रस्तुत लेखक द्वारा साहित्य अकादेमी पुरस्कार के अवसर पर दिये गये वक्तव्य का पुनः यह अंश उद्धरणीय है–

'संस्कृत में लिखना मेरे लिये उस परम्परा से जुड़ने का जरिया भी है, जो लगातार मेरे साथ है, पर आधुनिकता की तेज गति ने उसके और मेरे बीच में फांक डाल दी है। संस्कृत साहित्य के अध्ययन और संस्कृत में रचना के द्वारा वह मुझमें नई होकर उतरती है।

अन्य भाषा में लिखने से बात वैसी बनती नहीं– खास तौर से संस्कृत में लिखने की वजह यही है। रचना के स्तर पर संस्कृत लेखन में मेरे लिए वे सम्भावनायें हैं, जिन्हें अन्य भाषा के जरिये नहीं तलाशा जा सकता। हर भाषा अपनी एक विशिष्ट संस्कृति की वाहिका होती है, और उसका अपना सांस्कृतिक पर्यावरण उसके चैतन्य रचनाकर्म में ही उजागर होता है। हम लोग जो आज संस्कृत में लिख रहे हैं, उनके लेखन से ऐसा कोई समग्र और विशिष्ट सांस्कृतिक पर्यावरण बन सका हो– ऐसी बात तो नहीं है। पर ऐसा भी नहीं है कि ऐसा हो नहीं सकेगा। मेरे संस्कृत में लिखने की तबीयत और अपने रचनाकर्म की तृप्ति उसमें पाने के पीछे यह भी एक प्रेरक है।'

विश्लेषण प्रवृत्तियाँ और अभिनिवेश

राजनीतिक पार्श्वभूमि और राष्ट्रवादी काव्यधारा

उन्नीसवीं शती को संस्कृत साहित्य के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात कह सकते है। योरोप से सम्पर्क और नवीन राजनीतिक चेतना ने संस्कृत क़विता के क्षेत्र में नये वातायन खोल दिये हैं। पारम्परिक विधा में दीक्षित पण्डितों ने नये युग और नयी विधाओं का चुनौती के भाव से साक्षात्कार किया है और रचना की नयी धरती भी खोजी है। संस्कृत ही नहीं, देश की अन्य भाषाओं के साहित्य में भी उन्नीसवीं शती का काल नवजागरण और नयी चेतना के साहित्य का काल है।

धीरे-धीरे परिस्थितियाँ बदलीं। मैकाले की शिक्षा नीति लागू होने के पूर्व तथा अंग्रेज़ी शासन की नीतियों का विकृत रूप जब तक स्पष्ट नहीं हुआ था तब तक संस्कृत के रचनाकारों में अपनी भाषा के गौरव और अपनी रचनाशीलता के प्रति अदम्य विश्वास था। अंग्रेजी को सारे देश में माध्यम की भाषा के रूप में थोपे जाने और शिक्षानीति में परिवर्तन से उनका उत्साह भंग हुआ। शनैः-शनैः एक हताशा की भावना उनमें घर करने लगी। जिस संरम्भ से उन्नीसवीं शती में संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं ने नये से नये काव्य, योरोपीय साहित्य के अनुवाद, नये विषयों पर चिन्तन और नयी विधाओं में लेखन का समारम्भ हुआ था, वह छीजता चला गया। पत्रिकाओं की संख्या भी घटने लगी। **संस्कृतचन्द्रिका, सूनृतवादिनी, ज्योतिष्मती** जैसी पत्रिकायें, जो स्वातन्त्र्य सङ्ग्राम के यज्ञ में आहुति दे रही थीं, अंग्रेज़ों के द्वारा बन्द करायी गयीं। संस्कृत के कवि और पण्डित स्वतन्त्रता के आन्दोलन में सक्रिय थे। कांग्रेस की तो स्थापना ही बम्बई के संस्कृत महाविद्यालय में हुई थी। पर स्वतन्त्रता के पश्चात् अंग्रेज़ों के द्वारा छोड़ी गयी मूलबद्ध औपनिवेशिक मानसिकता, मूल्यबोध का क्षरण और परम्पराओं की उपेक्षा ने ऐसे कवियों और पण्डितों को समाज की मुख्यधारा से काट सा दिया। समाज में बड़े समुदाय ने संस्कृत को अतीत की वस्तु और उसके साहित्य को भी प्राचीन धरोहर मात्र मान लिया। संस्कृत की जीवनी शक्ति और उसमें रचना के सातत्य को अनदेखा किया जाने लगा। सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि स्वयं संस्कृत के ही पण्डितों या आधुनिक पद्धति से अधीत विद्वज्जनों में संस्कृत में नयी काव्यरचना के प्रति एक तिरस्कारपूर्ण दुराग्रह का भाव पनपने लगा।

मात्रा की दृष्टि से इस शती में जितना संस्कृत काव्य रचा गया है, उतना विपुल काव्य इस भाषा में कदाचित् अन्य किसी युग में न रचा गया हो। प्रतिवर्ष सहस्रों लघुकाव्य पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाशित हो रहे हैं, तथा पुस्तकाकार भी निरन्तर सामने आ रहे हैं। बीसवीं शती में संस्कृत

के समसामयिक रचनाकर्म में नये वातायन भी खुले हैं। एक ओर संस्कृत कवियों का प्राचीन काव्य का संस्कार, रसात्मक बोध और भाषा के परिनिष्ठित रूप तथा शब्द की साधुता का अवधान जागृत है, तो दूसरी ओर प्रजातन्त्र की नयी व्यवस्था, बदलते राजनीतिक, सामाजिक पर्यावरण और विश्व की घटनाओं ने उन्हें प्रभावित और विचलित भी किया है। विश्व साहित्य के अद्यतन रचनाकर्म और उसकी नयी प्रवृत्तियों से भी युवा संस्कृत कवि परिचित और प्रभावित हुए हैं।

इस शती के आरम्भिक दशकों में राष्ट्रीय भावना का एक प्रबल ज्वार संस्कृत काव्य में आया। उन्नीसवीं शती के अन्त तक अंग्रेजी शासन के प्रति पण्डितों में जो विश्वास भाव बना हुआ था, अब वह भी चुक गया। संस्कृत कवि ने भारत की स्वतन्त्रता का स्वर गुञ्जित किया, तिलक, गाँधी, जवाहर, बोस आदि राष्ट्रीय विभूतियों के गौरव का गान किया।

यह एक विस्मयकर तथ्य है कि संस्कृत भाषा ने नये से नये वातावरण, जीवनानुभव या परिस्थितियों को व्यक्त करने के लिए कवियों को उत्प्रेरित किया। कुछ ऐसे कवियों ने संस्कृत में इस काल में अत्यन्त प्राणवती काव्यरचना की, जो सीधे-सीधे आजादी की लड़ाई में सम्मिलित थे।

डॉ. व्ही. राघवन् आदि विद्वानों ने उन्नीसवी शताब्दी में योरोप की संस्कृति तथा ज्ञान-विज्ञान के साथ सम्पर्क से संस्कृत की सर्जनाधारा में नयी प्रवृत्तियों का सूत्रपात माना है। पश्चिम से सम्पर्क का एक प्रभाव संस्कृत जगत् पर यह हुआ कि पण्डित जब नये ज्ञान-विज्ञान पर लेखनी चलाने में प्रवृत्त हुए। अंग्रेजी के व्याकरण लिखे जाने लगे। मधुसूदन तर्कालंकार का ***"इंग्लैण्डीय व्याकरणसार"*** : 1835 में प्रकाशित हुआ। संस्कृत में योरोप का इतिहास पण्डितों ने लिखा। ***"अंग्रेजचन्द्रिका"*** (मद्रास, 1801) तथा ***"इतिहासतमोमणिः"*** (मद्रास, 1813) में विनायक भट्ट ने आधुनिक अर्थ में इतिहास रचना का उपक्रम किया। इसके बाद वाराणसी के संस्कृत कालेज के एक पण्डित ने ***"इंग्लैण्डीयभाषाव्याकरणम्"*** का प्रकाशन मिर्जापुर से कराया (1847)। 1852 में पण्डित विट्ठल ने बेकन के ***"नोउम आर्गेनुम"*** का संस्कृत में अनुवाद ***"बेकनीयसूत्रव्याख्यानम्"*** नाम से वाराणसी से प्रकाशित कराया। बर्कले के *Principles of Human Knowledge* ***"ज्ञानसिद्धान्तचन्द्रिका"*** के नाम से, लॉक के *Essay Concerning Human Understanding* का अनुवाद ***"मानवीयज्ञानविषयकशास्त्र"*** के नाम से सामने आया।

इस प्रकार के अनेक ग्रन्थों के प्रणयन के पीछे अंग्रेज़ पादरियों की धर्मप्रचार भावना भी कारण थी। स्वयं अंग्रेज़ पादरियों ने इस उद्देश्य से संस्कृत में भी कलम चलायी। रोज़ारियों की ***"ब्राह्मण-रोमन-कैथोलिक-संवाद :"*** इस प्रकार की रचनाओं में उल्लेखनीय है। रामराय बसु की ***"ईसाईविवरणामृत"*** तथा ***"ज्ञानोदय"*** नामक ग्रन्थों में तो हिन्दुत्व की बखिआ उधेड़ दी गयी। बाइबिल के लगभग दो दर्जन अनुवाद इस काल में संस्कृत में प्रकाशित हुए।[1] अंग्रेज़ी के साथ राजकाज की भाषा संस्कृत बराबर बनी रही।

राजनीतिक चेतना का अवतरण उन्नीसवीं सदी से ही संस्कृत साहित्य में स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है। सन् सत्तावन की क्रान्ति के बाद अंग्रेज़ी शासन ने तुष्टीकरण और सुधारवाद की नीति अपनायी, जिसका स्वागत भारतीयों के द्वारा भी किया गया। शासन के सूत्र महारानी विक्टोरिया

---

1. संस्कृत का समाजशास्त्र, पृ. 68

ने सीधे अपने हाथों में ले लिये। अप्पा शास्त्री राशिवडेकर ने *'सूनृतवादिनी'* के एक अङ्क[2] में *"चक्रवर्तिन्याः घोषणापत्रम्"* शीर्षक से लेख लिखा। पर प्रशस्तिपरकता तथा राजभक्ति के समकालीन भावों को शीघ्र ही राष्ट्र के प्रति निष्ठा के भाव ने विस्थापित कर दिया। इस निष्ठा की परोक्ष प्रतिच्छवि कहीं-कहीं अंग्रेज शासकों के लिए लिखी गयी प्रशस्तिपरक रचनाओं में भी मिल जाती है। उदाहरण के लिए भारतेन्दु के द्वारा महारानी विक्टोरिया के पुत्र ड्यूक आफ एडिनबरा के भारत आगमन पर प्रशस्तियों का सङ्ग्रह तैयार किया गया। इनके पीछे *"अतिथिदेवो भव"* की भारतीय भाव-भूमि थी, पर इनमें कुछ प्रशस्तियों में अंग्रेजी राज में देश की दुर्दशा तथा दरिद्रता का मार्मिक उल्लेख हुआ है।

दीनानां खलु दीनकर्पटभृतां क्षुत्पीडितानानां गृहे।
गत्वा सान्त्वनकारिणा द्विगुणितं दुःखं त्वदालोकनात्।।

भारतेन्दु के *"मानसोपायनम्"* में 66 पण्डितों की संस्कृत रचनायें हैं। अनेक रचनाओं में वैदेशिक शासकों के छद्म तथा दुरंगी नीति का परोक्ष कथन के द्वारा चित्रण हुआ है। भारतेन्दु ने 1870 में महारानी विक्टोरिया के पुत्र ड्यूक आफ एडिनबरा के भारत आगमन पर *"सुमनोञ्जलिः"* का सम्पादन करके 10 मार्च 1870 को उसे प्रकाशित करके समर्पित किया। इसमें 15 पण्डितों की रची संस्कृत प्रशस्तियाँ शामिल थी। पर इन प्रशस्तियों में भी पण्डित शीतलाप्रसाद देश में दुर्भिक्षजन्य दुरवस्था का चित्रण करते हैं।[3] 1911 में जार्ज पञ्चम के भारत आगमन पर भी संस्कृत में पञ्चम-प्रशस्तियाँ पञ्चम स्वर में देश के विभिन्न भागों से गूञ्जित हुई। पर इसी अवधि में देश के दुर्भिक्ष का चित्रण करने वाली रचनायें भी बड़ी संख्या में लिखी गयीं। *"विज्ञानचिन्तामणि"* ने बंगभङ्ग पर क्षोभ व्यक्त किया।[4] शिवकुमार शास्त्री जैसे पारम्परिक पण्डित अंग्रेज़ों के विरोध में खुलकर सामने आ गये।[5]

यह सत्य है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अंग्रेज़ शासकों की प्रशस्ति में भी रचनायें लिखने की प्रवृत्ति बनी रही। इस क्रम में *"जुबिलि-गानम्"* (1870 ई.) *"चक्रवर्तिविक्टोरिया-विजयपत्रम्"* (1889 ई.) *"आङ्ग्लाधिराजस्वागतम्"*, *"एडवर्डमहोदयस्याभिनन्दनम्"*, *"विक्टोरियाप्रशस्तिः"*, *"विक्टोरियाचरितसङ्ग्रहः"* (1887 ई.) *"विक्टोरियाप्रशस्तिः"* (1892 ई.) *"राजपुत्रगमनम्"* (1890 ई.) आदि रचनायें सामने आयीं। सुरेन्द्र मोहन टैगोर ने *"प्रिंसपञ्चाशत्"* तथा *"विक्टोरियामाहात्म्यम्"* (1898 ई.) की रचना की और कृष्णचन्द्र की *"प्रीतिकुसुमाञ्जलिः"* (1897 ई.) तथा सम्पत्कुमारनरसिंहाचार्य की *"विक्टोरियावैभवम्"* (1899 ई.) आदि कवितायें भी इस काल में प्रकाशित हुईं।

इनमें से अन्तिम रचना को कवि ने *"संस्कृतचन्द्रिका"* में प्रकाशनार्थ भेजा था, सम्पादक अप्पा शास्त्री पक्के राष्ट्रवादी थे। उन्हें कवि की यह प्रशस्तिपरकता अच्छी न लगी और उन्होंने इस

---

2. (1.15)
3. शुक्ल, 1989, पृ. 84
4. विचि., 6.10.1910
5. संस्कृत का समाजशास्त्र, पृ. 124

कविता को बहुत दिनों तक रोक रखा। अन्त में कवि के बार-बार आग्रह करने पर उन्होंने पत्रिका[6] में उसे प्रकाशित तो किया, पर उसके साथ विदेशी शासकों की चाटुकारिता में काव्यरचना करने वाले कवियों का अधिक्षेप भी इसी कविता के अन्त में सम्पादकीय टिप्पणी के रूप में प्रकाशित किया। विक्टोरिया के घोषणापत्र का अप्पा शास्त्री ने *"संस्कृतचन्द्रिका"* के सम्पादकीय में स्वागत किया था, यह समय तथा तत्कालीन राजनीति की माँग थी। परन्तु शीघ्र ही वे ब्रिटिश शासन की दुरंगी नीति को समझ गये। सच. पर वे लिखते हैं–

खिस्तीयानां 1857 तमे वत्सरे श्रीमत्या महाराज्ञया घोषणपत्रद्वारा प्रकाशिताः प्रतिज्ञाः न पूरिताः।[7]

यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि अंग्रेज़ शासकों के लिए प्रशस्ति के रूप में लिखी गयी रचनाओं में भी परोक्ष रूप से राष्ट्र के गौरव तथा उसके भौगोलिक स्वरूप को लेकर संस्कृत कवि सचेत था। **"विक्टोरियाष्टकम्"** नामक रचना में भारतीय वसुन्धरा की सुषमा तथा भारतजननी का भी गुणगान कवि ने साथ में किया है–

उत्तुङ्गो हिमधरो भवति यत् सीमा ह्युदीच्यां दिशि,
नीलाम्बुः परिशोभते च सततं सव्येऽपसव्येऽथवा।
सेयं भारतभूः सुशीतसलिला शस्यैः फलैः श्यामला,
मातस्तेऽभयदे पदे प्रकुरुते सानन्दसेवाञ्जलिम्।।

धीरे-धीरे संस्कृत कवि की समाज चेतना प्रखर होती है, और वह अंग्रेज़ों के शोषण तन्त्र को पहचान कर उसे अपनी कविताओं में उसके विरूद्ध प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का संस्कृत गीतिकाव्य वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना और जनजागृति का काव्य है। *"संस्कृतचन्द्रिका"*, *"सुनृतवादिनी"*, *"पण्डित"* तथा *"विज्ञानचिन्तामणि"* जैसी पत्रिकाओं की संस्कृत काव्य की इस नवीन प्रवृत्ति के संवर्धन में महती भूमिका रही है। अन्नादाचरण, अप्पाशास्त्री आदि कवियों के संस्कृत काव्य में इस काल में स्वतन्त्रता की भावना का सुस्पष्ट प्रतिफलन हुआ है।

"संस्कृतचन्द्रिका" के इस काल के सम्पादकीयों का अध्ययन किया जाय, तो उनमें आग भरी हुई लगती है। 2 मई, 1907 के **"सूनृतवादिनी"** के सम्पादकीय में क्लाइब को लुटेरा बताते हुए अप्पा शास्त्री कहते हैं–

'एतत् खलु स्मारयन्नानाविधानि कपटजालानि यस्यैव दौरात्म्याद्विप्रलब्धः श्रीमानमीचन्द्रो नाम। स एवायं यस्य खलु व्यापारः समपातयत् पारतन्त्र्यबन्धने यवनानामपि राज्यानि।'

इस सदी के पहले दशक में रचा गया (महायोगी) अरविन्द का संस्कृत काव्य **"भवानीभारती"** राष्ट्रीय मनीषा की स्फूर्त अभिव्यक्ति है। बड़ौदा जेल में कवि भारत माता का एक स्वप्नाविष्ट स्थिति में साक्षात्कार करता है। उसके बिखरे बाल पर्वत शिखरों को समेटे हैं। उसकी दृष्टि में सागर प्रसृत हैं, उसके श्वास से नभ विदीर्ण हो जाता है, और चरण धरने से धरती डोलती है–

---

6. खण्ड 14, संख्या 4-9, पृ. 34
7. खण्ड 14, संख्या 4–9, पृ. 34

आलोलकेशैः शिरान्निगृह्य करालदंष्ट्रैश्च विसार्य सिन्धून्।
श्वासेन दुद्राव नभो विदीर्णं न्यासेन पादस्य च भूश्चकम्पे।।[8]

यह कराल देवी भारत माता के रूप में कवि का आह्वान करती है–

मातास्मि भो पुत्रक भारतानां सनातनानां त्रिदशप्रियाणाम्।
शक्तो न यान् पुत्र विधिर्विपक्षः कालोऽपि नो नाशयितुं यमो वा।।

यह भारत माता उन भारतीयों को फटकारती है, जो अपने आपको ब्राह्मण कहते हैं, पर म्लेच्छ अंग्रेज़ों के चरण चूमते हैं–

म्लेच्छस्य पूतश्चरणामृतेन गर्वं द्विजो ऽस्मीति करोति कोऽयम्।

वह भारत पुत्रों को अग्नि के समान बन जाने के लिए पुकारती है–

उतिष्ठ भो जागृहि सर्जयाग्नीन् साक्षादधि तेजोसि परस्य शौरेः।
वक्षःस्थितेनैव सनातनेन शत्रून् हुताशेन दहन्नटस्व।।[9]

99 छन्दों में उपलब्ध यह काव्य स्वतन्त्रता सङ्ग्राम के यज्ञ में एक सार्थक आहुति है। स्वप्नदर्शी कवि भारतीय स्वातन्त्र्य सङ्घर्ष के द्वारा समग्र विश्व में होने वाली उथल-पुथल और उसकी परिणति में आने वाले परिवर्तनों को साक्षात् देखता है।

"भवानी-भारती" राष्ट्रीय जागरण की गीता है, एक क्रान्तिकारी का शङ्खनाद है, ओजस्विता और शक्ति का सन्धान है, तथा भारत राष्ट्र के भवितव्य का स्वप्न और देश की अखण्डता का आह्वान भी है। प्रत्येक देशवासी को जागृत और स्फूर्त करना कवि का लक्ष्य है, चाहे वह किसी प्रान्त का हो, किसी भी सम्प्रदाय या धर्म का अनुयायी हो–

भो भो अवन्त्या मगधाश्च बङ्गा अङ्गा कलिङ्गा कुरवश्च सिन्धोः
भो दाक्षिणात्या शृणुतान्ध्रचौला वसन्ति ये पञ्चनदेषु धीराः।
ये के त्रिमूर्तिं भजतैकमीशं ये चैकमूर्तिं यवना मदीयाः
माताह्वये वस्तनयान् हि सर्वान् निद्रां विमुञ्चध्वमहे शृणुध्वम्।।[10]

यह काव्य संस्कृत भाषा की अपूर्व जीवनी शक्ति का परिचायक भी है। जिस काल में रवीन्द्रनाथ राष्ट्रीय गीत लिख रहे थे, या बंकिम चन्द्र के "वन्देमातरम्" से भारत गूँज रहा था, उसी काल में संस्कृत में एक आर्ष प्रतिभा के धनी कवि ने इस काव्य की रचना आरम्भ की थी, जिसके स्तर का काव्य उस काल में अन्य किसी भाषा में, एकाध अपवाद को छोड़कर, कठिनाई से मिलेगा। यद्यपि 'भवानीभारती' में कहीं-कहीं व्याकरण की अशुद्धियाँ हैं, क्योंकि मई 1908 ई. में कलकत्ता पुलिस के द्वारा इसकी एकमात्र पाण्डुलिपि ज़प्त कर लेने के बाद कवि को इसमें न संस्कार का अवसर मिला, न संशोधित करने का। पर अभिव्यक्ति की अबाध गति तथा परिस्फुट पदावली आर्ष काव्य का प्रत्यय देती है।

---

8. भवानीभारती, 8
9. वही, 18
10. 23, 24

कवि निर्भय का जन्म कायमगंज (जिला—फर्रुखाबाद) के निवासी महामहोपाध्याय व्याकरणाचार्य पं० मथुरा प्रसाद शर्मा के घर में हुआ था। बाल्यकाल से ही काव्य रचना के साथ सामाजिक क्रान्ति और आन्दोलन में इनकी प्रवृत्ति थी। किशोरावस्था में ही ये सुभाषचन्द्र बोस की सेना में भर्ती हो गये थे। सशस्त्र क्रान्ति से जुड़ी अनेक गतिविधियों में इनकी अग्रणी भूमिका थी। फर्रुखाबाद बैंक षड़यन्त्र, अलीगढ़ बम विस्फोट आदि कई योजनाओं का इन्होंने नेतृत्व किया था। इसके साथ ही अंग्रेज़ों के अत्याचार और भारतीय जनता की दीनदशा का अनुभव करते हुए उस काल में अग्नि-गर्भ गीतों की रचना भी ये करते रहे। अकाल पीड़ित देश की भयावह दशा का चित्र खींचते हुए इन दिनों इन्होंने लिखा—

> एकं तन्मृतनग्नाङ्गं निष्प्रच्छदमातपशीतम्
> योरपगृध्राणामेककवलमहहा रक्तच्युतिदिग्धम्
> एकं प्रेतवनं तद्, यत्र न कश्चिच्छोकालापी
> एको भ्राम्यन्नात्मा, यस्य न गेहः, कोऽपि क्वापि।[11]

क्रान्ति के सैनिकों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—

> अटलक्रान्तेर्गायत गीतं प्रलयताण्डवं मण्डयत।
> शान्तं गगनं विक्षोभयत द्विषतां ह्रदयं कम्पयत।
> स्वतन्त्रतासम्मदमत्ता बलिवेदीवर्त्माध्वन्या रे।
> कथं न विभियाद् वोऽरिजनः शिरसा धृतमृतिशीर्षण्या रे।
> अद्य निराशायामाशायाः पुनरपि कुरुत सञ्चारम्।
> बन्दिनो, भङ्क्त कारागारम्।।[12]

इस प्रकार की कविताओं में उस समय के नारे, राष्ट्र चेतना से जुड़ी पदावली तथा मुहावरे स्वतः संस्कृतीकृत होते हुए सङ्गृहीत हो गये हैं। ऊपर के उद्धरण में कफन के लिए ***"मृतिशीर्षण्य"*** शब्द बनाया गया है, जो खप जाता है। क्रान्तिकारी आन्दोलन में कार्यरत रहते हुए इन्हें वर्षों तक जेल यात्रायें करना पड़ीं। फर्रुखाबाद के केन्द्रीय कारागार में इनको मैथिली शरण गुप्त, आचार्य नरेन्द्र देव, सम्पूर्णानन्द, स्वामी सत्यदेव आदि विभूतियों का सान्निध्य मिला। गाँधी जी की अहिंसक नीति से ये सहमत न थे, और स्वातन्त्र्य प्राप्ति तक निरन्तर क्रान्तिकारियों का साथ देते रहे। क्रान्ति की भावना की अभिव्यक्ति तथा ***"करो या मरो"*** के भाव का शङ्ख-घोष इनकी कविता में तेजस्वी रूप में गुञ्जित है—

> **यद्यस्ति जीवितव्यं, क्राम्याम देहलीं तत् यद्यस्ति वर्तितव्यं क्राम्याम देहलीं तत्।**
> **यद्यस्ति कर्म कार्यं, क्राम्याम देहलीं तत् यद्यस्ति लभ्यमन्नं क्राम्याम देहलीं तत्।।[13]**

स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् निर्भय जी का रचनाकार अपनी इसी आग और ऊर्जा के साथ सक्रिय रहा। उन्होंने सन् 47 की स्वतन्त्रता को वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं माना। इस काल में हुए साम्प्रदायिक दंगों और देश में व्याप्त अव्यवस्था के मार्मिक चित्र अपनी गीतियों में अंकित किये—

---

11. शङ्खनादः, पृ., 180
12. वही,
13. 1940 में प्रकाशित 'देवभाषा' संकलन से

स्वमातृमूर्धखण्डनं स्वतन्त्रतात्मकः शिशु–
र्विधाय हाऽवतीर्णवान् समुत्सवं वितीर्णवान्।
अनाप्य हा तटं तरौ तु कर्णधार ईयिवान्
अनेकधा प्रवातघातवाधनं समेयिवान्।

पपात पातकायुतैर्युतोऽमरेन्द्रसद्मनि
सपुण्यवांश्च रौरवे किमेयमस्ति लक्ष्यता
स्वराज्यमागतं सुराजता परन्तु नागता।।[14]

निर्भय जी स्वतन्त्रता आन्दोलन में कार्यरत रहने के कारण 1940 ई. में छः मास, 1942 ई. से साढ़े तीन वर्ष तथा 1946 ई. से पुनः फारवर्ड ब्लाक के आन्दोलन में सहभागिता के कारण इन्हें जेल में रखा गया था। जेल तथा जेल के बाहर भी उन्हें शारीरिक यातनायें इतनी अधिक झेलनी पड़ी कि जेल से बाहर आकर ये वर्षों तक रुग्ण और शैय्याधीन ही रहे। पर इस स्थिति में भी संस्कृत में इनका लेखन कार्य अनवरत चलता रहा। हिन्दी में भी इनका विपुल लेखन है, तथा संस्कृत में क्रान्तिकारियों के संस्मरण या उनके जीवन पर खण्डकाव्य लिखकर इन्होंने आधुनिक संस्कृत काव्य में अप्रतिम योगदान दिया है।

संस्कृत में इनकी मुख्य काव्य रचनायें हैं– *परिवर्तनम्, क्रान्तिः, अनवोषः, शङ्खनादः, राष्ट्रध्वनिः, वन्दी, अग्रगामिनं प्रति, हृदयाग्निः, कृषकाः, श्रमिकाः, सुभाषबोसचरितम्, भगतसिंहचरितम्, रामप्रसादविस्मलस्मृतिः, रावणायनम्, अर्चना, प्रियतमा* आदि। रूसी और जर्मनी कविताओं के संस्कृत अनुवाद भी उन्होंने किये हैं, तथा संस्कृत और हिन्दी में क्रान्ति और क्रान्तिवादी साहित्य के विषय में गद्य में भी प्रचुर लेखन किया है। इनका बहुत सा काव्य कारागार में निवास के समय लिखा गया था। इनके परवर्ती काव्य में स्वाभिमान और मनस्विता यथावत् है, पर आजीवन भोगे कष्टों के कारण कहीं–कहीं पीड़ा का स्वर भी मुखरित है–

निजधर्मं चेद् व्यक्रेष्यमहं, हर्म्याणि तदाध्यकरिष्यमहम्।
त्वं स्वार्थसिद्धये जनतायां कुरु कपटपाटवैर्दलबन्धम्।।[15]

स्वतन्त्र कवितार्किकचक्रवर्ती श्रीमन्महादेवशास्त्री के पिता पं० अम्बिका प्रसाद पाण्डेय थे। इनका जन्म स्थान बिहार के आरा जिले में येला ग्राम है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में काशी के श्रेष्ठ पण्डितों से विद्या प्राप्त कर ये वहीं अध्यापन करते रहे, तथा अनन्तर शङ्कराचार्य के पीठ पर भी अधिष्ठित हुए।

रसगङ्गाधरटीका, ख्यातिवादः आदि दार्शनिक प्रबन्धों के अतिरिक्त इनका *"भारतशतकम्" "पूर्णास्तवः" "गङ्गाष्टकम्"* आदि संस्कृत काव्यों के द्वारा सरसकाव्यरचनाभिनिवेश प्रकट है। महादेवशास्त्री के *"भारतशतकम्"* में मातृभूमि के गौरव, राष्ट्रप्रेम, देश की वर्तमान दुर्दशा तथा उसके पुनरुत्थान के लिए कवि ने अपने भावों को पूरी हार्दिकता के साथ व्यक्त किया है। भाषा की प्राञ्जलता, शब्दसाधना, पदशय्या और कल्पनाओं की रमणीयता का यह काव्य उत्कृष्ट उदाहरण

14. 1949 ई. में प्रकाशित कविः संकलन से
15. तरङ्गिणी, पृ.

है। यह एक सुन्दर राष्ट्रगीत भी कहा जा सकता है, जो देशप्रेम का भाव पाठकों के मन में सञ्चारित करता है–

बङ्गैः सङ्गीतकीर्तिः कलितकलकलञ्चोत्कलैरान्ध्रबन्धु–
मद्रैस्तन्निद्रमुद्रो ऽवजनितजयोद्गुर्जरः सिन्धुबिन्दुः।
पञ्चापैरञ्चितश्रीर्मधुमधुरधुरो मध्ययुक्तैर्विहारे–
रायविर्ताभिधानो जयति जनपदो मानिनां जन्मभूमिः।।

बीसवीं शती के पूर्वार्ध में राष्ट्रियता की भावना का अभूतपूर्व उन्मेष हुआ, विशेषतः महात्मा गाँधी के सत्याग्रह आन्दोलन तथा उनके जीवन दर्शन ने सारे देश को प्रेरणा के सूत्र में बाँध दिया था। इस काल का संस्कृत साहित्य इस युग निर्माता महापुरुष के चरित्र और सन्देश से अत्यधिक प्रभावित हुआ तथा उसे केन्द्र में रखकर स्वाधीनता सङ्ग्राम पर अनेक काव्य संस्कृत में लिखे गये थे। स्वयं गाँधी जी के जीवन को लेकर लिखे गये खण्ड काव्यों या मुक्तक काव्यों की सङ्ख्या सैकड़ों में है। इनमें उल्लेखनीय काव्य श्रृङ्खला सुकवयित्री क्षमा देवी ने प्रस्तुत की, जिसकी कड़ियाँ हैं– ***सत्याग्रहगीता, उत्तरसत्याग्रहगीता*** तथा ***उत्तरजयसत्याग्रहगीता***। यह महत्त्वपूर्ण है कि गाँधी के चरित्र को आधार बनाकर लिखे गये काव्यों को गीता की संज्ञा दी गयी। यद्यपि क्षमा देवी के इन काव्यों में महाकाव्यों के तत्त्व भी मिलते हैं, तथापि उन्होंने स्वयं इनकी रचना गीता के कलेवर को दृष्टि में रखकर की है। क्षमा देवी द्वारा इस प्रकार आधुनिक संस्कृत साहित्य में स्वाधीनता-सङ्ग्राम तथा गाँधी जी के जीवन या आदर्शों को विषय बनाकर गीता-काव्यों की रचना का सूत्रपात किया गया और उनके पश्चात् अनेक गीताकाव्य इस दिशा में रचे जाते रहे।

क्षमा देवी के काव्यों में तथ्यों की प्रामाणिकता, गाँधी जी के प्रति आस्था तथा भाषा और शैली की सहजता तथा प्राञ्जलता प्रभावकारी है। क्षमा देवी का अनुसरण करते हुए प्रो. इन्द्र ने ***गाँधीगीता*** अथवा ***अहिंसायोग*** नामक काव्य की रचना की थी।[16] इस काव्य में सम्पूर्ण गाँधी दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार ***श्रीमद्भगवद्गीता*** में कुरुक्षेत्र में अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रश्न करता है, उसी प्रकार चम्पारण के सत्याग्रह के प्रसङ्ग में यहाँ राजेन्द्र प्रसाद गाँधी जी से उनकी नीति और जीवन दृष्टि के विषय में प्रश्न करते हैं, जिनके समाधान में इस काव्य के अठारह अध्याय रचे गये हैं। कवि ने अहिंसा के स्वरूप और जीवन में उसकी व्याप्ति की स्थापना संरम्भपूर्वक की है। भाषा में सहजता और काव्यात्मकता है। अहिंसा के स्वरूप विवेचन में परिकर अलङ्कार का प्रयोग सुन्दर रूप में किया गया है। यथा–

अंहिसा शोणताकाङ्क्षा शुभयित्री रिपोरपि।
अहिंसा निष्क्रिया नैव प्रक्रिया शक्तिशालिनी।
नेयं निवृतिरूपास्ति प्रवृतिः परमा मता।।[17]

स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् देशभक्तिपरक रचनाओं का प्रकाशन बराबर जारी रहा। राष्ट्र के रूप में भारत के राजनीतिक स्वरूप का इसके पहले की संस्कृत काव्य परम्परा में यह बोध न

16. 1959, राजहंस प्रकाशन
17. 3/41

था। श्रीपाद शास्त्री हसूरकर (1888-1974) ने *"भारतरत्नमाला"* पुस्तक श्रृङ्खला प्रस्तुत की। के. एल. वी. शास्त्री के *"महात्माविजयः"* नामक काव्य में 106 श्लोकों में गाँधी जी के आन्दोलन तथा सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। ब्रजानन्द का "गाँधीचरित" शतककाव्य है, जिसके 100 पद्यों में गाँधी जी का जन्म, शिक्षा, अफ्रीका यात्रा तथा स्वाधीनता सङ्ग्राम में उनका कर्तव्य चित्रित है। कहीं–कहीं असंस्कृत शब्दों का प्रयोग भी कवि ने इस काव्य में किया है। यथा–

हा सर्वतो दास्यममी भजन्ते
कुलीति कौलीन्यमतो लभन्ते।
विगर्हिता जीवनयापनाय
कारातिभारेण भवन्ति खिन्नाः।।[18]

"गाँधीनिर्वाणकाव्यम्" में 50 पद्य हैं। इनके रचयिता शम्भु शर्मा हैं![19] साम्प्रदायिक दंगों, रक्तपात और हिंसा का दुःखद चित्रण करते हुए कवि राष्ट्र में सौहार्द और एकता की स्थापना चाहता है।

गाँधी जी के चरित्र पर लिखे गये अन्य काव्य हैं– *"महात्मा"* (व्हीं राघवन्), *"गाँधीगीता"* (अनन्त विष्णु काणे), *"गाँधीशतश्लोकी"* (गणपति शंकर शुक्ल), *"गाँधीमाहात्म्य"* (विजयाराघवाचार्य), *"गाँधीचरितम्"* (चारुदेवशास्त्री 1939 ई.), *"मोहनपञ्चाध्यायी"* (1931 ई.), *"मोहनगीता"* (सुरेन्द्रसेवी, 1945 ई.), *"गाँधीप्रवहणम्"* (महाभिक्षु), *"वर्णव्यवस्था"* (दीपचन्द्राचार्य, 1933 ई.) आदि।

इन मौलिक काव्यों के अतिरिक्त चिन्तामणि द्वारकानाथ देशमुख ने **"गाँधीसूक्तिमुक्तावली"** में गाँधी जी के द्वारा समय-समय पर प्रकट की गयी सदुक्तियों को सुन्दर भाषा में पद्यबद्ध किया है।[20] अनुवाद के साथ अंग्रेज़ी में मूल उक्ति भी दी गयी है। अनुवाद में अलग-अलग उक्तियों के साथ अलग-अलग छन्दों का चयन किया गया है। एक उदाहरण शिखरिणी में प्रस्तुत उक्ति को देखिये–

हृदि प्रत्येकस्य प्रतिवसति सत्यं तनुभव–
स्ततस्तत्रैवास्यास्त्युचितमनुसन्धानमपि तत्।
यदादिष्टं सत्यं भवति पथिदर्शि स्वकलितं
परं सत्यं नान्यः प्रसभमनुसार्थो ऽविकृतितः।।

सत्यदेव वासिष्ठ ने *"सत्याग्रहनीतिकाव्यम्"* में 1939 ई. के हैदराबाद सत्याग्रह का चित्रण किया है। इन काव्यों की परम्परा में श्री श्रीधरभास्कर वर्णेकर ने *"ग्रामगीता"* (अनूदित, 1984) तथा *"श्रमगीता"* लिखी। गणपतिचन्द्र ने *"गाँधीशतश्लोकी"* की रचना की।

पं० ब्रह्मानन्द शुक्ल बीसवीं शताब्दी के श्रेष्ठ संस्कृत पण्डितों तथा महाकवियों में गणनीय हैं। इन्होंने 111 पद्यों में *"गान्धिचरितम्"* काव्य लिखा है (खुरजा, 1964)। इसी श्रृंखला में

---

18. गाँधीचरितम्, 56
19. गुरुकुलपत्रिका में दिसम्बर 1961 में प्रकाशित।
20. गाँधी स्मारक निधि, नयी दिल्ली, 1957

डॉ. रमेश चन्द्र शुक्ल ने 125 पद्यों में *"गान्धिगौरवम्"* (1969 ई.) रचना की है। आचार्य रमेश चन्द्र शुक्ल ने *"लालबहादुरशास्त्रिचरितम्"* तथा *"बङ्गलादेशः"* शीर्षक खण्डकाव्यों की भी रचना की है। इनके *"ब्रह्मानन्दशतकम्"* (1975) तथा *"इन्दिरायशस्तिलकम्"* (1976) काव्य संस्कृत कवियों में रूढ़ प्रशस्तिपरकता के भाव से रचे काव्य हैं।

श्री लक्ष्मीनारायण का *"राष्ट्रसभापतिगौरवम्"* काव्य कांग्रेस के इतिहास को प्रस्तुत करता है। कवि ने इसकी रचना कांग्रेस महासभा की 50वीं वर्ष ग्रन्थि के अवसर पर की थी। इसमें विशेष रूप से कांग्रेस के जितने सभापति निर्वाचित हुये थे, उनका गौरवास्पद चित्रण किया गया है। महात्मा गाँधी के अवदान तथा आदर्श के लिए कवि के मन में स्पृहा है। मुखपृष्ठ पर ही उसने काव्य के प्रेरणा सूत्र के रूप में यह पद्य प्रस्तुत किया है–

सत्याहिंसित्त्वबोधेस्त्रिवेणे–
रित्थं धृत्वा भारते या पताका।
स्वातन्त्र्यं या स्वाश्रितेभ्यो ददाना
सर्वोत्कृष्टा राजते भूतलेऽस्मिन्।।

काव्य के परिशिष्ट में कवि ने गाँधी जी के तीन सिद्धान्तों– खादी, संस्कृत भाषा का महत्त्व तथा विश्व शान्ति की उपस्थापना की है।

केशिराजु वेंकट नृसिंह अप्पाराव ने *"पञ्चवटी"* नामक काव्य में गाँधी जी के जीवन-दर्शन को अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है। गाँधी जी की सत्य, अहिंसा आदि के विषय में अवधारणायें यहाँ रमणीय दृष्टान्तों के द्वारा काव्यात्मक बनाकर हृदयङ्गम करायी गयी हैं। रामराज्य का स्वरूप कवि ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है–

स्वार्थायान्यानपकृतिपरान् यः करोत्यासुरोऽसौ
त्यागेनान्यानुपकृतिपरान् यः करोत्येष दैवः।
सर्वैषामभ्युपकृतिपराः कस्यचिन्नापकारं
विश्वप्रीतिं विदधति जना यत्र तद् रामराज्यम्।।

राष्ट्रिय विभूतियों पर रचे गये अन्य खण्डकाव्यों में विष्णुकान्त झा का *"राष्ट्रपतिराजेन्द्रप्रशस्तिः"* जयराम शास्त्री का *"श्रीजवाहरसन्तसाम्राज्यम्"*, श्रीधरभास्करवर्णेकर का *"जवाहरतङ्गिणी"* तथा श्रीराम वेलणकर का *"जवाहरचिन्तनम्"* महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं।

इस काल में संस्कृत में अनेक काव्यात्मक रचनायें ऐसी भी की गयीं, जिनका गाँधी जी के जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध भले ही न हो, पर उन पर गाँधीवाद का गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। पण्डिता क्षमादेवी की ही दो कथात्मक काव्यकृतियों – *"ग्रामज्योतिः"* तथा *"कथापञ्चकम्"* में सङ्कलित पद्यबद्ध कथाओं की विषयवस्तु गाँधी जी के जीवन मूल्यों को मार्मिक घटना-संविधान के द्वारा उपस्थित करती है। गणपति शंकर शुक्ल के द्वारा रचित *"भूदानयज्ञगाथा"* भी इसी प्रकार का खण्डकाव्य है। इसमें विनोबा के भूदान यज्ञ का विवरण भी दिया गया है तथा अहिंसा का स्वरूप और हमारे समय की अन्य विचारधाराओं– साम्यवाद, समाजवाद आदि के परिप्रेक्ष्य में उसकी विशेषता का निरूपण भी किया गया है। अत्यन्त सरल भाषा में कवि ने अपने वैचारिक दर्शन को प्राचीन पौराणिक आख्यानों से उदाहरण लेते हुए सुन्दर ढङ्ग से प्रकट किया है। यथा–

भगवान् वामनः किन्तु करुणाप्रेमशक्तितः।
रक्तपातं विना लेभे विजयं सहजेन हि।।

धर्मदेव विद्यामार्तण्डकृत *"महापुरुषसङ्कीर्तननम्"* सात खण्डों का काव्य है। इसमें गाँधी जी का व्यक्तित्व तथा चरित्र है, उसके साथ-साथ महामना मालवीय, राजेन्द्र प्रसाद, जवाहर लाल नेहरू, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन आदि के जीवन और कृतित्व का भी निरूपण किया गया है।

स्वाधीनता सङ्ग्राम के इतिहास-निरूपण की दृष्टि से कवि श्री प्रीतम लाल कच्छी का *"मातृभूमिकथा"* नामक काव्य भी उल्लेखनार्ह है। इसमें अशोक के काल से लेकर 1930 तक की ऐतिहासिक घटनाओं का अङ्कन है। रॉलेट ऐक्ट के विरूद्ध जलियावाला बाग में हुई सभा पर बर्बर गोली काण्ड की घटना का मार्मिक चित्रण कवि ने किया है। गाँधी-इरविन सन्धि तथा असहयोग आन्दोलन का भी विवरण इस काव्य में दिया गया है।

नारायण प्रसाद त्रिपाठी की *"श्रीभारतमाला"*[21] में स्वतन्त्र भारत के स्वप्न और राष्ट्र के नवनिर्माण की आकाङ्क्षा को अभिव्यक्ति दी गयी है। भारतीय कृषकों की दयनीय दशा का करुण चित्रण इस काव्य में कवि ने किया है–

कङ्कालशेषा नृपिशाचरूपा विशीर्णवस्त्रा करभारभग्नाः।
प्रातश्च सायं विलपन्ति दैवं समाजदोषापहतस्वभाषाः।।

भारतीय इतिहास का स्वाधीनता युग तक चित्रण करने वाली काव्य कृतियों में उमाशंकरकृत *"काव्यकलिका"* की चर्चा भी की जा सकती है। इस खण्डकाव्य में तीन सर्ग हैं। पहले सर्ग में भारत का प्राचीन काल से लेकर संक्षिप्त इतिहास, दूसरे वर्ग में सन् '47 के पश्चात् घटी स्थितियों का चित्रण है तथा तृतीय सर्ग में विश्व शान्ति की निमित्त से की गयी पं० नेहरू की रूस यात्रा का चित्रण किया गया है। समूचे विश्व में नये उभरते हुए परिदृश्य को नेहरू जी के विशद वक्तव्य के द्वारा कवि ने उपस्थापित किया है–

देशैरत एव शान्त्यै ग्रहणीया सहयोगभावना।
जनहानिनिरोधहेतवे वनसिद्धान्तमिमं चरिष्यथ।।

डॉ. मंगलदेव शास्त्री का ***अमृतमन्थन*** काव्य यद्यपि दार्शनिक चिन्तन तथा वैचारिक दिशाओं को उन्मीलित करता है, तथापि स्वतन्त्र भारत के नवनिर्माण और राष्ट्र नेताओं की युगदृष्टि का भाव इस पर भी है। सम्पूर्ण ग्रन्थ का कलेवर भी गीता के समान सहज स्वच्छ भाषा में विचारों को प्रस्तुत करता है। प्रथम भाग का शीर्षक लक्ष्यानुसन्धान है। इसमें कवि ने ब्रह्मचर्य तथा आत्मसंयम को मानव जीवन की आधारशिला माना है। दूसरे भाग जीवनपाथेय – में उन नैतिक आदर्शों का निरूपण है, जिनसे मनुष्य अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है। तृतीय भाग– प्रज्ञा-प्रसाद में जीवन की उदात्त स्थिति का वर्णन है। यहीं पर कवि ने वर्तमान भारत के भविष्य के निर्माण में तीन महापुरुषों– दयानन्द, महात्मा गाँधी तथा रामकृष्ण परमहंस– के महान् योगदान पर भी विचार

---

21. ज्ञानमण्डल, काशी, 1936 ई.

किया है। कवि ने स्वयं अपने आपको गाँधी दर्शन से प्रभावित माना है। सत्य का तत्त्व निरूपित करते हुए वह गाँधीवाद की उपस्थापना को अङ्गीकार भी करता है–

तस्मात् सत्यपरो भूत्वा निर्द्वन्द्वं विचरेन्नरः।[22]

तथा–

सत्याश्रयेण लोकस्य व्यवहारः प्रसिद्ध्यति।
सत्ये सत्येव विश्वासो व्यवहारस्तदुद्भवः।।[23]

शिवप्रसाद भारद्वाज का *"भारतसन्देशः"* स्वतन्त्र भारत की नव चेतना का काव्य है। इसके प्रथम भाग में सारे देश के प्रमुख नगरों का वर्णन करते हुए कवि ने राष्ट्र में हो रही सर्वतोमुख प्रगति का दिग्दर्शन प्रस्तुत किया है। दूसरे खण्ड में देश के नागरिकों के नाम राष्ट्रपति के संदेश का रूपान्तर प्रस्तुत किया गया है। कवि ने दूतकाव्य की विधा का स्वरूप अंशतः स्वीकार करके उसे राष्ट्रवादी धारा से सफलतापूर्वक जोड़ा है। मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग प्रभावशाली है। राष्ट्र-गौरव का जागरण कवि का ध्येय है–

देशः सोऽयं विदितमहिमा योनिराश्चर्यभूम्नां
क्षोणीचूडाभरणशिखरस्फारहीरायमाणः।
यस्मिन्नन्धं तम उपचितं च्छिन्नविज्ञानरेखं
छिन्दन् मित्रो पर इव परं ज्योतिराविर्बभूव।।

राष्ट्रवादी धारा की रचनाओं में श्री बालकृष्ण भट्ट का *"स्वतन्त्रभारतम्"* काव्य उल्लेखनीय है। कवि श्री भट्ट टिहरी गढ़वाल के अन्तर्गत ग्राम जलोली के निवासी थे तथा राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, टिहरी गढ़वाल में प्राचार्य रहे।

"स्वातन्त्रभारतम्" पूर्वपीठिका तथा उत्तर पीठिका– दो भागों में विभाजित है। इसकी रचना स्वतन्त्रता-प्राप्ति के अवसर पर हुई, किन्तु उत्तर पीठिका में शनैः-शनैः परिवर्तन करते हुए कवि ने इसमें देश की 1966 ई. तक की प्रमुख घटनाओं तथा विभिन्न क्षेत्रों में हुई प्रगति का उल्लेख यथावसर प्रस्तुत कर दिया है। 'पूर्वपीठिका' में 582 तथा 'उत्तरपीठिका' में 466 पद्य हैं। भारत के स्वाधीनता सङ्ग्राम के रोमाञ्चक वर्णन के साथ हमारे अतीत की झलक भी इसमें दी गयी है। स्वाधीनता-प्राप्ति के अनन्तर हुए दंगों तथा देश में नैतिक अवमूल्यन पर कवि ने हार्दिक क्लेश व्यक्त किया है। यवनों तथा अंग्रेजों के द्वारा भारतीय जनता पर किये गये अत्याचारों का वर्णन यहाँ बड़ा हृदयद्रावक है।

इसी धारा की एक अन्य रचना *"वीरोत्साहवर्धनम्"* भी है, जिसके रचयिता श्री सुरेश चन्द्र त्रिपाठी हैं। ये सारस्वत खत्री पाठशाला इण्टर कालेज, प्रयाग में संस्कृत के अध्यापक रहे हैं। इस काव्य की रचना श्री त्रिपाठी ने 1962 ई. में चीन द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण के समय की

---

22. 2.149
23. होशियारपुर, 1962 ई.

थी। इसमें सङ्ग्रामरत सैनिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिए कवि ने ओजस्वी भावों को अभिव्यक्ति दी है, तथा भारतीय जनता द्वारा इस युद्ध के लिए दी गयी सहायता का भी चित्रण किया है।

चीनी आक्रमण के समय इस प्रकार के अनेक काव्य संस्कृत में लिखे गये। इनका सामयिक महत्त्व ही अधिक है। गढ़वाल निवासी तथा पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में पूर्व प्राध्यापक श्री शशिधर शर्मा का "वीरतरङ्गिणि" (1967 ई.) काव्य भी लिखा गया। इस काव्य में दो खण्डों में कुल 242 पद्य हैं। वीर रस के प्रवाह तथा भाषा और अभिव्यक्ति के चमत्कार की दृष्टि से यह परिपक्व रचना है। गोलियों से देह के छलनी हो जाने पर भी अन्तिम सांस तक युद्धरत रहने वाले एक भारतीय सैनिक का वर्णन करते हुए कवि कहता है–

गोलकगलिता–गोलः क्षितितलगालेरमित्रसङ्घातान्।
स जहार सप्तहोराः स्वरूपसिंहः स्वरूपतः सिंहः।। (उत्तरखण्ड-60)

समग्र काव्य राष्ट्रीय ऐकात्म्य के भाव से ओत-प्रोत है। विभिन्न प्रान्तों के सैनिकों के एकत्र सङ्ग्राम में सम्भूयसमुत्थान का चित्रण करते हुए कवि कहता है–

जातिप्रदेशदलमुखभिदाच्छिदस्ते प्रवीर्यगणाः।
उत्साहवारबाणा दास्यववारप्रचारणा रेजुः।। (पद्य-40)

राष्ट्रभक्ति से प्रेरित होकर रचे गये अन्य संस्कृत गीतिकाव्यों या खण्डकाव्यों में श्री यज्ञेश्वर शास्त्री का ***"राष्ट्ररत्नम्"*** देश के अनेक सपूतों का उज्ज्वल चरित्र प्रस्तुत करता है। इसमें रानी लक्ष्मीबाई, दयानन्द, तिलक, मालवीय जी, गाँधी जी, नेहरू जी, राधाकृष्णन् आदि महापुरुषों तथा भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद आदि क्रान्तिकारियों के गौरवमय जीवन की कथायें पद्यबद्ध की गयी हैं। ओजस्विता तथा प्रवाह की दृष्टि से रचना चमत्कृत करती है। युद्धरत झांसी की रानी की शौर्य गाथा का चित्रण करते हुए कवि कहता है–

सा पृष्ठदेशे स्वसुतं बबन्ध जग्राह वल्गाग्रमहो मुखेन।
दोर्भ्यां कृपाणद्वयशोभिताम्यां शत्रून् समुत्सारयितुं प्रवृत्ता।।

इसी परम्परा में श्री कृष्णदत्त शास्त्री (जन्म 1930 ई.) ने अनेक राष्ट्रप्रेमपूरित रचनायें प्रस्तुत की हैं, जैसे – ***"भारतदर्शनम्"***, ***"प्रतापप्रशस्ति"***, ***"कृपाणसैनिकः"*** तथा ***"सेनानीसुभाषः"***।

राष्ट्र चेतना की अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत से अधिक उचित और उत्कृष्ट माध्यम भला क्या हो सकता है ? किन्तु राष्ट्र चेतना की सच्ची अभिव्यक्ति हमारे सांस्कृतिक मूल्यबोध तथा विश्व दृष्टि के विराट परिप्रेक्ष्य को आत्मसात् करके ही हो सकती है, केवल मातृभूमि के प्रति ***"नमो नमः"*** के आम्रेडन से नहीं। श्रीमन्महादेव शास्त्री के ***"भारतशतकम्"*** में राष्ट्र भावना का यह उच्छ्वसित भावुकता वाला सतही स्तर भी है, पर उपरिचर्चित व्यापक फलक और मर्म दर्शन को भी कुछ पद्यों में कवि छू सका है।

स्वातन्त्र्योत्तर संस्कृत साहित्य में गुणगान निपुण पद्यनिर्माणदक्ष कविम्मन्यों ने राष्ट्रस्तुति-परक रचनाओं के अम्बार लगा दिये हैं। राष्ट्र-वन्दना पर लिखना साहित्य का सर्वाधिक सुरक्षित-निष्प्रत्यवाय पथ है, इसमें किसी चुनौती या अभिव्यक्ति के सङ्कट का सामना नहीं करना पड़ता

है। न साहस का वरण। संस्कृत में राष्ट्रवन्दनापरक रचनाओं का घटाटोप पिछले तीन चार दशकों में विशेष रूप से खड़ा किया गया है, जिनकी लम्बी सूची डॉ. हरिनारायण दीक्षित के *"संस्कृत साहित्य में राष्ट्रीय भावना"* के तीसरे खण्ड में देखी जा सकती है।

समाज चेतना

इस सारी पृष्ठभूमि में यह स्वाभाविक था कि संस्कृत जगत् में उन्नीसवीं शती में प्रगतिशील पण्डितों का सबल खेमा उभरता। बंगाल में राजाराम मोहन राय तथा ईश्वरचन्द्र विद्यासागर में इस खेमे की अगुआई की थी। 1854 में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह पर संस्कृत में एक पुस्तिका प्रकाशित कराई और उसका व्यापक प्रसार कराया। पुस्तिका का पहला संस्करण एक सप्ताह में बिक गया था। विद्यासागर जी के इस उपक्रम से एक लम्बी बहस का आरम्भ हुआ था। इस काल की संस्कृत पत्र-पत्रिकाओं में विधवा-विवाह तथा बाल-विवाह के पक्ष और विपक्ष में ढेरों लेख छपे। रचनात्मक साहित्य भी इस सबसे अछूता न रहा। रामनारायण तर्करत्न ने ***"कुलीनकुलसर्वस्व"*** (1854) नामक नाटक में कुलरमणियों की दुर्दशा का चित्रण किया। श्यामाचरण ने बाल विवाह पर ***"बालोद्वाह"*** (1860) नामक नाटक लिखा। विहारी लाल नन्दी ने ***"विधवापरिणयोत्सवः"*** (1857) की रचना कर विधवा विवाह का प्रबल समर्थन किया।

इस दृष्टि से म० म० लक्ष्मण शास्त्री तैलंग की कविता *"उपशल्यशंसनम्"* (1935) को आधुनिक संस्कृत साहित्य में एक प्रवर्तक कृति कहा जा सकता है। यह कविता अंग्रेज़ी के रोमाण्टिक काव्य का बन्ध लिये हुए है। संस्कृत कविता में पहली बार ग्राम्य जीवन के यथार्थ को बदले हुए स्वर में यहाँ अभिव्यक्ति मिली है। पसीने में लथपथ परिश्रमनिरत किसानों की कष्टगाथा कवि की वाणी में मुखरित हुई है।

दिनेषु तरुणातपाननुमयूखतापत्रय–
ज्ज्वलाविलकलेवरान् कृषिकरान् विलीनामिव।
विलोक्य निशि शैशरानिलहतीद्धकम्पाकुलान्
न कस्य खलु मानसं भुवि सचेतसो दूयते।।

इस सामाजिक चेतना के साथ आञ्चलिकता का पुट भी आकर कविता को प्रभावी बनाता है। धान रोपती स्त्रियों के कीचड़ में लथपथ पाँव, बीच-बीच में उनका बच्चों को दूध पिलाने के लिए काम छोड़ना, फिर काम में जुटना– तो दूसरी ओर भेड़-बकरियाँ चराते लाठीधारी कृषक बालक, गाँव का सिवान– इन सबके चित्र यहाँ हैं।

अमूः कृषकयोषितः कलमरोपणानारत–
प्रसङ्गसलिलान्तरस्थितिविकारिपादद्वयाः।
स्तनन्धयशिशून क्वचित् परनिपीतनेमस्तनान्
विधाय निजकर्मणि प्रसितविग्रहालोकय।।

इमे कृषकदारकाः परिगृहीतपाथेयकाः
करात्तलगुडा मुहुर्मधुरगीतगाने रताः।
अजाविपरिचारणे प्रतिदिनं समायोजिताः
कमप्यतिशयं मुदामनुभवनन्यचिन्तालवम्।।

पुनरुत्थानवादी स्वर भी इस काल की संस्कृत रचनाओं में मुखरित हुआ है।

विडम्बन शैली तथा व्यङ्ग्य

हास्य तथा व्यङ्ग्य की प्रवृत्ति सामाजिक तथा राजनीतिक चेतना के साथ इस काल में प्रतिफलित हुई थी। 1900 ई. में बबा दीक्षित वाटवे का ***"कल्पितकलिवृत्तादर्शपुराणम्"*** प्रकाशित हुआ। विडम्बन शैली का आधुनिक स्थितियों के निरूपण के लिए इसमें सार्थक उपयोग किया गया है। 1904 ई. में नृसिंहाचार्य पुणेकर की ***"मृत्तिकावृषभकथापूजा"*** प्रकाशित हुई, ***"कलिविला-समणिदर्पण"*** में भी पेरोडी शैली के दर्शन होते हैं। इस तरह के काव्यों में संस्कृत पण्डित की अपनी प्रतिक्रिया का वैशिष्ट्य देखा जा सकता है। आधुनिक जीवन से उसे सहानुभूति नहीं है। पारम्परिक मूल्यों में आस्था के साथ वह आज के समाज की खिल्ली उड़ाता है। श्रीनिवास शास्त्री का ***"कलिपरिदेवशतकम्"***[24] इसी भाव से लिखा गया है। रंगीलादास ने श्रीमदभगवदगीता की शैली पर पैरोडी काव्य ***"काङ्ग्रेसगीता"*** (1905) लिखा। इसमें सूरत में हुए कांग्रेस अधिवेशन पर व्यङ्ग्य है।

आधुनिक संस्कृत काव्य में, विशेषतः बीसवीं शती के पिछले कुछ दशकों की कविता में, शिष्ट हास्य तथा उत्प्रास या व्यंग्य (सटायर) की प्रवृत्ति अधिक प्रतिफलित हुई है।

बीसवीं शती के आरम्भ में ही कुछ संस्कृत कवियों ने पहली बार पैरोडी (विडम्बन शैली) की विधा को लेकर संस्कृत काव्य रचना का एक नया क्षितिज सामने रखा। मेघदूत के अनुकरण पर अनेक दूत काव्यों की रचना प्राचीन काल से आज तक संस्कृत में होती रही है, पर मेघदूत की पैरोडी करते हुए रचना की प्रवृत्ति इसी शताब्दी में उभरी। सी० आर० सहस्रबुद्धे ने ***"काकदूत"***[25] की रचना की। ***"काकदूत"*** के नाम से राजगोपाल आयंगार ने भी एक काव्य लिखा, जिसमें जेल से एक चोर काक के माध्यम से संदेश भेजता है। के० वी० कृष्ण मूर्ति शास्त्री ने ***"श्वानदूत"*** की रचना कर डाली। इसमें जेल में बन्द एक चोर कुत्ते के माध्यम से अपनी प्रिया के पास सन्देश भेजता है। मेघदूत की विडम्बना में रचे गये इन काव्यों में कालिदास की अवहेलना नहीं है, अपितु प्राचीन काव्य को आधुनिक सन्दर्भ दिया गया है। इस प्रवृत्ति का एक उत्कृष्ट परिपाक म० प० रामावतार शर्मा के ***"मुद्गरदूतम्"*** में हुआ।

अनेक संस्कृत कवियों ने खाद्य पदार्थों पर विनोदी वृत्ति से अपनी आस्वादप्रियता को व्यक्त किया है। प्याज, चाय, काफी आदि पर विनोदपूर्ण कविताओं की पिछले कुछ दशकों में संस्कृत में भरमार रही है।

समाज चेतना के साथ संस्कृत में प्रखर व्यङ्ग्य-काव्यों की सृष्टि के लिए दो साहित्यकार विशेष उल्लेखनीय है– भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी। दोनों ने अपने कृतित्व के द्वारा हिन्दी साहित्य में अमिट स्थान बनाया है। भारतेन्दु ने ***"सुमनोञ्जलिः"*** जैसी सङ्कलित रचनाओं के प्रकाशन में काशी के संस्कृत पण्डितों की अगुवाई की थी। स्वयं उन्होंने संस्कृत में कम लिखा है। स्तोत्र की विधा में उपहास या उत्प्रास की शैली मिलाकर भारतेन्दु ने संस्कृत रचना में भी प्रतिभा की प्रत्यग्रता का परिचय दिया था। ***"वेश्यास्वराज"*** की कवि ने ***"महा-संस्कृत"*** में

---

24. संस्कृतचन्द्रिका, 1990
25. धारवाड, 1917 ई.

लिखा हुआ बताया है, जिसको "महत्व" का अनुमान आरम्भ की इन पंक्तियों से ही हो जाता है।

"ओम् अस्य श्री वेश्यास्तवराजमहामालामन्त्रस्य भण्डाचार्य श्री हरिश्चन्द्रो ऋषिः द्रव्यो बीजं मुखं कीलकं वारवधू (?) महादेवता सर्वस्वादार्थ जपे विनियोग।[26] (प्रश्नवाचक चिह्न अवैयाकरणिक प्रयोगों पर इस लेखक द्वारा) इस प्रकार के स्तोत्रों के पाठ का फल भी विपरीत ही होगा–

इमानि श्रीमहामद्यनामानि वदने सदा।
तिष्ठन्तु सेविनां संख्याक्रमात् सार्धशतानि च।
यः पठेत् प्रातरुत्थाय नामसार्धशतं मुदा।
धनमानं परित्यज्य ज्ञातिपंक्त्या च्युतो भवेत्।।

भारतेन्दु के ***"मदिरास्तव"***, ***"अंग्रेजस्तव"*** तथा ***"वेश्यास्तवराज"*** से तीनों ही काव्य व्याजनिन्दा के अच्छे उदाहरण हैं, और इनमें भारतेन्दु की हास्यविनोदवृत्ति, समाज चेतना तथा व्यंग्यप्रवणता के दर्शन होते हैं। सभी में असंस्कृत शब्दों का भी प्रयोग है। यथा–

कलवारप्रिया काली कलपरियानिवासिनी।
होटलीलोटलीलोटनाशिनी चोट चला।।
धनमानादिसंहर्त्री ग्रण्डहोटलवारिणी।
पञ्चापञ्चपरित्यक्ता पञ्चात्मिका प्रपञ्चिता। (वही)

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी की युगप्रवर्तक पत्रिका ***"सरस्वती"*** के सम्पादन काल (1903-1992 ई.) के पूर्व अधिकांश संस्कृत रचनायें की थीं। इनमें से प्रमुख रचनायें हैं– ***"कथमहं नास्तिकः"***, ***"कान्यकुब्जलीलामृतम्"***, ***"समाचारपत्रसम्पादकस्तवः"*** तथा ***"सूर्यग्रहणम्"***।।

"कथमहं नास्तिकः", शीर्षक कविता में छद्म धार्मिकता का विरोध करते हुए युगानुरूप सच्ची आस्तिकता का स्वरूप उद्घाटित किया गया है–

नित्यं जपामि यदहं शुचि सत्यसूत्रं
लोके तदस्तु मम मन्त्रजपः पवित्रम्।
या सज्जनेषु, भगवन् मम भक्तिरेषा
सैव प्रभो भवतु देवगणस्य पूजा।।
सर्वेषु जीवनिचयेषु, दयाव्रतं मे
श्रेयो ददातु निखिलं नियतव्रतानाम्।
अच्छाच्छचन्दनरसादपि शीतलो मा–
मानन्दयत्वनिशमीश परोपकारः।।

"कान्यकुब्जलीत्रामृतम्" में **34** पद्य हैं। सामाजिक चेतना तथा व्यङ्ग्य की दृष्टि से यह एक अनूठी रचना है। कवि ने कान्यकुब्ज ब्राह्मणों की लोलुपता, पाखण्ड, अन्धविश्वास वृत्ति पर कड़ा प्रहार किया है। व्यङ्ग्य के साथ हास्य का भी अच्छा पुट रचना में दिया गया है। यथा–

---

26. भारतेन्दुसमग्र, वाराणसी, 1986, पृ. 87

सदैव शुक्लारुणपीतवर्णसपाटीरपङ्कावृतसर्वभाल।
आभूतलालम्बिदुकूलधारिन् हे कान्यकुब्जद्विज ते नमोऽस्तु।।

कान्यकुब्जों की यौतुक (दहेज) के लिए लिप्सा तथा घर में आयी बहू को सताने की दुष्प्रवृत्ति को भी इसी सोत्प्रास शैली में कवि ने उघाड़ा है–

अहो दयालुत्वमतः परं किं
यथेहितं तद् द्रविणं गृहीत्वा।
निन्द्यानपि त्वं विमलं करोषि
तदीयकन्यापरपीडनेन।।

यह रचना भी व्याजस्तुति अलङ्कार के प्रयोग का अच्छा उदाहरण है। *"समाचारपत्र-सम्पादकस्तवः"* में भी इसी प्रकार अखबार के सम्पादकों की कवि ने अपने पैने व्यङ्ग्य प्रहारों का विषय बनाया है। छद्म को उघाड़ने में आचार्य द्विवेदी ने गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया हैं। व्याजस्तुति अलङ्कार के सटीक प्रयोग, शैली के चुलबुलेपन और शिष्ट हास्य के व्यङ्ग्य की प्रखर धार के कारण यह रचना और भी आकर्षक हैं। कवि की दृष्टि यथार्थवादी है–

पत्रेऽस्वकीये जगदेकनेत्रे शिशुं त्रिपादं त्रिशिरस्करं च।
सृजत्यजस्रं कुतुकेन तेन सम्पादक त्वं चतुराननोऽसि।।
आकृष्टमुच्चैर्लघुपत्रमूल्यं नवोपहारादिविधेर्विधाने।
समस्तमायाविशिरोमणित्वात् त्वमेव सम्पादक माधवोऽसि।।

"सूर्यग्रहणम्" कविता में सूर्यग्रहण के अवसर पर भारतीय समाज में विभिन्न वर्गों के लोगों का व्यवहार और प्रतिक्रियायें उसी पैनी व्यङ्ग्यप्रवण शैली में व्यक्त की गयी है। इस अवसर पर ज्योतिषी, पुजारी आदि लोग भोले-भाले लोगों को किस प्रकार मूर्ख बनाकर उनसे द्रव्य ऐंठते हैं– यह कवि ने निदर्शित किया है।

युद्धं भविष्यति, नृपेषु, परस्परेषु
लोकं गमिष्यति यमस्य रुजा प्रजा च।
धान्यं धनं बहु हरिष्यति चौरवर्ग–
मित्यादि कैश्चिदिह सूरिभिरन्वभावि।।

द्विवेदी जी की अन्य व्यङ्ग्य रचनाओं में *"काककूजितम्"* *"प्लेगराजस्तवः"* आदि उल्लेख्य हैं।

मेघदूत के अनुकरण पर तो ढेरों पैरोडी काव्य लिखे गये, जिनके अग्रदूत म० म० रामावतार शर्मा के *"मुद्गरदूत"* की चर्चा अन्यत्र की गयी है।

इस परम्परा में वीरभद्र मिश्र ने रघुवंश की पैरोडी पर **"लघुवंश"** लिखा। क्लासिकी कविता की भव्यता तथा गरिमा के समानान्तर इस तरह की रचनायें आज के लघुमानव और उसके क्षुद्र जगत् से साक्षात्कार कराती हैं।

अनेक पारम्परिक शैली के महाकाव्यों में भी समकालिक बोध के साथ सामाजिक स्थितियों के प्रति संस्कृत के रचनाकार भी जागरूकता दिखाई देती है। रामसेवक मालवीय के *"भूमामिनी-विलासम्"* में साकेत के भिखारियों पर व्यंग्य करते हुए कहा गया है–

कूले हि सख्याः कलिकालशूले संस्तीर्णकाष्ठासनपादमूले।
एकां कृशाङ्गीं क्षुधया तदन्ते गां ब्रह्मबन्धुर्जरतीं बबन्ध। (7.42)

अवसरवादी पण्डों की चेष्टाओं का सजीव चित्रण करते हुए कवि कहता है–

पान्थं समासाद्य तु घाटवाराः पण्डाः क्वचिच्छद्मविरक्तवेषाः।
छलन्ति लुण्ठन्ति च तीर्थकारान् शवं यथैकं परिवार्य गृध्राः।

काशीनाथ का *"रुक्मिणीहरण"* महाकाव्य काव्यात्मक समृद्धि के लिए विशेष सराहा गया है। इसमें श्रीकृष्ण आधुनिक सुधारवादी तथा गाँधीवादी नेताओं की भाषा में बोलने लगते हैं। वे अस्पृश्यता तथा जातिवाद का विरोध करते हैं।[27] वे समाजवादी विचारधारा तक को अभिव्यक्ति देते हुए कहते हैं–

जनेषु कस्मान्न विभज्यते समं समानरूपेण समीहितं वसु।
न कस्यचिद् यत् सहजं समीक्ष्यते न कोऽपि तन्नाधिकृता विशेषभाक्।।[28]

एक पारम्परिक महाकाव्य में सनातन धर्म की रूढिग्रस्तता पर छीटाकशी संस्कृत के रचनाकार की परम्परा तथा आधुनिकता दोनों के बीच सामञ्जस्य बिठाने की प्रवृत्ति की परिचायिका कही जा सकती है। विधवा की वेदना तथा पुरुष के पुनर्विवाह पर भी इस काव्य में श्रीकृष्ण टिप्पणी करते हैं। धर्म की विडम्बना करने वालों पर उनके मुख से तीखी चोट करायी गयी है।

नमोऽस्तु पाखण्डविनिर्मिताय ते द्विजेन्द्र धर्माय विडम्बिनात्मने।
सहैव सा यत्र लतेव नूतना शवेन सन्ना तरुणी प्रदह्यते।।[29]

दूसरी ओर ठेठ पारम्परिक रचनायें भी संस्कृत में अविच्छिन्न रूप से आ रही है। म० म० गंगाधर शास्त्री का *'अतिविलासिसंलापः'* या पं० शिवकुमार शास्त्री का *'यतीन्द्रजीवनचरितम्'* शास्त्रीय विमर्श तथा प्रौढि की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

परमानन्द शास्त्री ने अपने जनविजय महाकाव्य में आपातकाल की विसङ्गतियों का बेबाक चित्रण किया है।

सर्वत्र भीतहृदया मनुजा मनाङ् नो उत्सेहिरे कथयितुं क्वचिदेकशब्दम्।
इष्टेषु मित्रसुजनेस्वपि संशयाना-श्चारा यतः प्रतिपदं व्यचरन् हि तस्याः।।
देशो निलम्बितसमस्तजनाधिकारः किं न प्रतीयत इव स्म विशालकारा।
कारा निलम्बितसमस्तजनाधिकारा देशस्य किं नहि मता विहितानुकारा।।[30]

---

27. रुक्मिणीहरण, 11.84-85
28. वही, 11.88
29. वही, 11.90
30. जनविजयम्, 8.66-67

विषयों की नवीनता

हमारी शताब्दी विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी की आश्चर्यजनक उपलब्धियों की शताब्दी है। इस शती में जीवन की पद्धतियों में द्रुत गति से परिवर्तन हुए। मनुष्य का सारा परिवेश विपरिवर्तित हुआ या नये रूप में सामने आया। ऐसी स्थिति में संस्कृत कवियों ने कविता में नये वातावरण के अनुरूप नये-नये विषय उठाये। इस प्रवृत्ति का सूत्रपात मथुरा नाथ शास्त्री ने विशेष रूप से किया। उनके *"साहित्यवैभवम्"* के अन्तर्गत विभिन्न वीथियों के बीच *"नवयुगवीथी"* भी है, जिसमें ट्राम, मोटरकार, रेल, जहाज, बिजली, क्ष-किरण, छायाचित्र, सिनेमा, विज्ञान की उपलब्धियों आदि पर पद्य हैं।

कुछ कवियों ने योरोप यात्राओं का काव्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है जिससे संस्कृत कविता में नया पर्यावरण चित्रित होने लगा है। विमान यात्रा का रोमाञ्चक वर्णन भी अनेक संस्कृत काव्यों में हुआ है। वेङ्कट राघवन् की कविता *"अभ्रमभ्रममभ्रविलायम्"* या प्रभाकर नारायण कवठेकर की "विमानवातायनात्" तथा डॉ. राजेन्द्र मिश्र का *"विमानयात्राशतकम्"*[31] आदि काव्य विमान-यात्रा का रोचक वर्णन प्रस्तुत करते हैं। राधावल्लभ की *"धरित्रीदर्शनलहरी"* में विमान से देखी जाती पृथ्वी का वर्णन वैदिक काव्य के विश्वबोध के साथ-साथ गहरी सौन्दर्यानुभूति भी देता है।

इसी कवि की *"वातानुकूलिते याने"* एक अनुभूतिपरक कविता है। इसमें रेल के वातानुकूलित यान में यात्रा का अनुभव सूक्ष्म पर्यवेक्षण और बिम्बों की विशदता में समेटा गया है।

विदेश भ्रमण कर चुके संस्कृत कवियों की कतिपय रचनाओं में *"यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्"* का अनुभव नये रूप में होता है। श्री कवठेकर ने पेरिस के सङ्ग्रहालय में विश्वविख्यात कलाकृति *"मोनालिसा"* को देखकर भावपूर्ण कविता लिखी है।[32] सत्यव्रत शास्त्री का *"थाईदेशविलासम्"* भी उल्लेखनीय काव्य है। इसी प्रकार राजेन्द्र मिश्र ने अपनी अनेक संस्कृत कविताओं में थाईलैण्ड के जीवन, सौन्दर्य तथा तद्विषयक स्मृतियों को अभिव्यक्त किया है।

समकालिता

बीसवीं शती में लिखी जा रही संस्कृत कविता देश और सारे विश्व में सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तरों पर हो रहे परिवर्तनों या परिस्थितियों का साक्ष्य देती है। संस्कृत कवि पारम्परिक रूढ विषयों पर तो लिखते आ रहे हैं, उन्होंने नयी स्थितियों और नये विषयों पर कविता में सीधे-सीधे भी प्रतिक्रिया दी है– यह आधुनिक संस्कृत काव्य के अध्ययन से स्पष्ट है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय वातावरण को चित्रित करते हुए बहुसङ्ख्य काव्य संस्कृत में 1947 ई० के पश्चात् लिखे गये हैं। चीनी आक्रमण के समय तो देशभक्ति और युद्धोत्साह के भाव से समन्वित कविताओं की संस्कृत पत्रिकाओं में बाढ़ सी आ गयी थी। बांग्लादेश के मुक्ति सङ्ग्राम को विषय बनाकर भी अनेक कवितायें संस्कृत कवियों ने लिखी थीं। अन्तरिक्ष यात्रा, अपोलोयान आदि नये युग की महत्वपूर्ण घटनाओं पर भी कवितायें संस्कृत में लिखी गयी हैं।

---

31. अर्वाचीन संस्कृतम् जुलाई 1887 में प्रकाशित।
32. दूर्वा, अंक–23, पृ. 26 (मोनालिसां तो मनसा स्मरामि)

पं. बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते ने *"सम्भ्रमी बम्भ्रमीति"* शीर्षक कविता में याहिया खान, नियाजी आदि की बांग्लादेश युद्ध में हुई पराजय का रोचक और प्रभावशाली चित्र उपस्थित किया है–

कोपाटोपस्फुरदुरुसटामण्डलं चण्डनादं
ज्वालामालाकवलित्चलन्मेघनाम्भः प्रवाहम्।
दृष्ट्वा सिंहं जगति जयिनं कान्दिशीको नियाजी
शुष्यद्वक्त्रः शिथिलवचनः सम्भ्रमी बम्भ्रमीति।।
यस्यालम्बादनयपदवीं पाक–नीतिः प्रपन्ना
पाणिः स्कन्धे जनयति बलं यस्य मिथ्या निनादे।
सञ्जातो न क्षणसहचरो निः क्षणो याहियेत्थं
ध्यायं ध्यायं घृतिविगलितः सम्भ्रमी बम्भ्रमीति।।

परां भूतिमिच्छन् मनुष्यौघयाजी
नियाजी प्रपेदे पराभूतिमेव।
निशम्येति हा हा वदन् याहियाखां
मुहुः सम्भ्रमी बम्भ्रमीति स्वगेहे।।[33]

इस स्तर की असंख्य कवितायें संस्कृत में विभिन्न राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की घटनाओं को विषय बनाकर लिखी गयी थीं। ऐसी रचनाओं का साहित्य के शाश्वत मूल्यों और स्थायी सौन्दर्यबोध की दृष्टि से प्रभाव नगण्य ही होता है। पर वे संस्कृत कवि की समकालिक विश्व के प्रति जागरूकता और अभिव्यक्ति की सामर्थ्य को अवश्य सूचित करती हैं। रसबोध की दृष्टि से अवश्य चीन तथा पाकिस्तान के सङ्ग्राम के अवसर पर रची गयी रचनाओं में वीर और रौद्र रसों का पुष्ट परिपाक हुआ है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि पारम्परिक रसबोध की कविता समकालिक सर्जना की धारा से जुड़कर राष्ट्र के प्रति चिन्ता और विश्वजनीन मानवता के प्रति जागरूकता की भावनाओं से यहाँ सञ्चालित हुई है। इस शती के सातवें दशक में पं० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते, राघवन्, कमलेश दत्त त्रिपाठी, रतिनाथ झा, रामकरण शर्मा आदि अनेक संस्कृत कवियों ने समकालिक घटनाओं को इस नयी कवि संवेदना के साथ प्रस्तुत किया है। उक्त युद्ध के प्रसङ्ग की ही कुछ अन्य कविताओं के इन उद्धरणों से यह बात सिद्ध होती है–

मार्गं प्रत्यूहशैलं जवजनितमहाघातपातैः क्षिपन्ती
प्रत्यर्थिक्षेत्रजातेप्यतिशयमलिनं जीवनं पङ्कयन्ती।
धारासारैरसारे पयसि विलुलितां क्षालयन्ती धरित्री–
मुद्वेलं प्लावयन्ती जयति विजयिनी वाहिनी भारतस्य।।[34]

रेवा प्रसाद द्विवेदी, कमलेश दत्त त्रिपाठी, शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी आदि कवियों की बांग्लादेश युद्ध के अवसर पर लिखी गयी रचनायें संस्कृत काव्य में वीरगाथाकाल की पुनरावृत्ति

---

33. कविभारतीकुसुमाञ्जलि, भाग–5, 11
34. सैव, भाग–5 प. 11–12 पर रतिनाथ झा की कविता से

करती सी लगती हैं। इन कविताओं में क्षणिक उन्माद का भाव भी है, और साथ में काव्यात्मकता और ओजस्वी भाषा की समृद्धि भी।

अनेक कविताओं में आधुनिक वातावरण, दृश्यमान पदार्थों और अनुभूति का अङ्ग नहीं बन पाता। बस, मोटर, राशन आदि असंस्कृत शब्दों का भी अत्यधिक प्रयोग ऐसी रचनाओं में हो रहा है।

समकालिक घटनाओं को विषय बनाकर लिखी गयी इन कविताओं में कवि की स्वतः स्फूर्ति और प्रातिभ आवेग कम है, अवसरोचित-काव्य-निर्माण की चातुरी अधिक है। ***"मुक्तिवाहिनी"*** शीर्षक से लिखी गयी पं० रतिनाथ झा, शिवदत्त शर्मा, केदारनाथ त्रिपाठी आदि की कविताओं में काव्यात्मक ऊर्जा है, पर प्रदत्त विषय पर स्वतः सिद्ध सामग्री को ही उपस्थापित किया गया है।

पिछले कुछ वर्षों में इन्दिरा गाँधी की हत्या, राजीव गाँधी की हत्या या इस प्रकार की अन्य घटनाओं पर सामयिक संस्कृत कवितायें बड़ी संख्या में प्रकाशित हुई हैं। इन कविताओं में तात्कालिक आवेग अधिक है, घटना का विश्लेषण और तार्किक उपस्थापन कम है।

नवीन विधाएँ

पारम्परिक भावबोध तथा पुरातन शैली की रचनाओं के साथ नये भावबोध और नयी शैली की रचनायें भी इस अवधि में संस्कृत में प्रचुर मात्रा में सामने आयी हैं। नवगीत विधा का विकास हुआ है, जिसमें कवि की वैयक्तिक भावनायें, रूमानियत और स्वच्छन्द मनः स्थितियों के चित्रण की प्रवृत्ति फलवती हुई है। राष्ट्रवादी धारा से जुड़कर गीति विधा में नया प्राण फूँकने वाले दो कवि उल्लेखनीय हैं– हरिदत्त पालीवाल निर्भय तथा रामनाथ पाठक प्रणयी। श्री निर्भय क्रान्तिकारियों के साथ रहे थे, तथा जेल यात्रायें भी की थीं। इनके उस काल के गीतों में अग्नि ज्वाला सा कवि व्यक्तित्व और ओजस्विता की दुर्निवार अभिव्यक्ति है। गीत विधा में बिम्ब विधान और शिल्प की नवीनता का समवाय महामाया प्रसाद त्रिपाठी ने किया है। वैयक्तिक राग और कवि के आत्म की अभिव्यक्ति की दृष्टि से प्रभात शास्त्री के गीत प्रभावपूर्ण हैं।

पश्चिम के प्रभाव से पिछले दशक की संस्कृत कविता अस्तित्ववादी चिन्तन और अति यथार्थवाद (सुर्रियलिज्म) की साहित्यिक धारा से भी जुड़ी हैं। इस दृष्टि से केशव चन्द्र दास तथा हर्षदेव माधव– इन दो युवा संस्कृत कवियों की रचनायें गम्भीरतापूर्वक पठनीय हैं। इन कवियों ने **'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'** की उक्ति को अपने सफल प्रयोगशील लेखन से चरितार्थ किया है।

छन्दोविधान के क्षेत्र में बीसवीं शताब्दी के संस्कृत साहित्य में सर्वाधिक नये प्रयोग किये गये हैं। भारतेन्दु ने तो संस्कृत में लावनी भी लिखी, यद्यपि उनकी लावनी की भाषा तुलसीदास के संस्कृत पद्यों की भाँति अशुद्ध है।[35] भट्ट मथुरा नाथ शास्त्री ने ब्रजभाषा के छन्दों में दोहा, सोरठा, कवित्त, सवैया, घनाक्षरी आदि के साथ उर्दू के काव्य से ग़ज़ल का छन्द लेकर सफल काव्य रचनायें प्रस्तुत करते हुए नये छन्दोविधान की आधुनिक संस्कृत कविता में अवतारणा की है। उनके पश्चात्

---

35. द्र, भारतेन्दुसमग्र, पृ. 205

ग़ज़ल का प्रयोग सफलता के साथ करते हुए जगन्नाथ पाठक, राजेन्द्र मिश्र, बच्चूलाल अवस्थी, इच्छाराम द्विवेदी आदि कवियों ने संस्कृत कविता को नया धरातल दिया है। अनेक कवियों ने लोकगीतों के संस्कारों से अनुप्राणित होकर संस्कृत काव्य रचना में अभिनव प्रयोग किये हैं। श्रीभाष्यम् विजयसारथि ने तेलगु भाषा के लोक प्रचलित छन्दों में संस्कृत कवितायें लिखी हैं। राजेन्द्र मिश्र की लोकगीतपरक संस्कृत रचनायें बहुत सराही गयी हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण आगे है।

उन्नीसवीं शती में शोकगीति की जो विधा संस्कृत कविता में चल पड़ी, उसका नाना दिशाओं में विकास इस शती में आकर हुआ। दीपक घोष ने तो बड़ी संख्या में विलाप काव्यों की रचना कर डाली। मधुकर गोविन्द माईणकर ने *'स्मृतितरङ्गम्'* में इस विधा को मेघदूत की भावना, विरहानुभव तथा करुण रस की धारा में स्नपित कर सर्वथा अछूता भावसौन्दर्य प्रदान किया है। श्री स्वामीनाथन् की ***"ध्वस्तं कुसुमम्"*** भी प्रणय कथा की दारुण परिणति का कारुणिक चित्रण करने वाला काव्य है। गाँधी, नेहरू, इन्दिरा गाँधी आदि राष्ट्रीय विभूतियों के अवसान के अवसरों पर संस्कृत कवियों के द्वारा अनुभूतिप्रवणता के साथ रचे गये शोक-काव्यों का उल्लेख भी किया जा सकता है।

संस्कृत में बहुसंख्य नूतन नाट्य कृतियों की रचना करने वाले श्री वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य (1917-1982 ई.) ने संस्कृत कविता को एक ओर नयी विधा दी– सानेट। इनके सानेटों का एक उत्तम संग्रह ***"कलापिका"***[36] प्रकाशित हो चुका है। सानेट अंग्रेजी कविता में प्रसिद्ध छन्द है, एक छन्द में एक कविता भी पूर्ण हो जाती है। एक सानेट में चौदह पंक्तियाँ होती हैं। श्री भट्टाचार्य ने ***"सानेट"*** को संस्कृत छन्दोविधान से सामञ्जस करने का प्रयास किया है।

जयदेव के गीतगोविन्द की परम्परा में उन्नीसवीं शती के ही समान इस शताब्दी में भी रागकाव्यों की रचना संस्कृत में होती रही। पर विषयवस्तु की दृष्टि से इन रागकाव्यों में नयापन है, तथा इनका स्वरूप भी परिवर्तित हुआ है। आगेट्टि परीक्षित शर्मा (जन्म 1930 ई.) ने ***"ललितगीतालहरी"*** का प्रणयन किया है। श्री शर्मा ने संस्कृत में मांझियों के गीत, डिस्को गीत तक लिख डाले हैं। विषय और स्वरूप की दृष्टि से इस प्रकार की रचनायें संस्कृत भाषा और उसकी साहित्यिक परम्परा के साथ बेमेल हैं। वे प्रयोग के नाम पर अश्लील प्रदर्शनमात्र हैं।

रागकाव्य से मिलती-जुलती एक विधा सङ्गीतिका की है, जिसमें अनेक रचनायें इस काल में संस्कृत में सामने आयी हैं। रागकाव्य की ही भाँति सङ्गीतिका भी वस्तुतः अभिनेय काव्य है, पर गेयता की प्रधानता के कारण श्रव्य काव्य के रूप में भी इसका व्यवहार होता है। पश्चिमी साहित्य में इसे ***"आपेरा"*** कहा जाता है। इसमें विभिन्न पात्रों के संवाद गीतों में ही आद्यन्त चलते हैं। शिवराज्योदय महाकाव्य के प्रणेता श्री श्रीधर भाष्कर वर्णेकर (जन्म 1916 ई.) दो सङ्गीतिकाओं की रचना की है जिनके नाम हैं ***"श्रीरामसङ्गीतिका", "श्रीकृष्णसङ्गीतिका"***। श्रीमती वनमाला भवालकर ने ***"पार्वतीपरमेश्वरीयम्"*** तथा ***"रामवनगमनम्"***– इन दो सङ्गीतिकाओं का प्रणयन किया है।

राग काव्य की ही भाँति लहरी काव्यों की रचना भी दोनों रूपों में संस्कृत में वर्तमान में हो रही है– परम्परा से जुड़कर लहरी के स्तोत्र रूप को बनाये रखते हुए भी तथा उसमें नये

---

36. कलकत्ता 1969 ई.

विषयों के समावेश के साथ उसके कलेवर में परिवर्तन करते हुए भी। वर्णेकर ने ही *"मातृभूलहरी"* (1972 ई.) का प्रणयन किया है। कवि राधावल्लभ ने कुछ लहरियाँ प्रकृति वर्णनपरक लिखी हैं, जिनमें प्रासंगिक रूप से सामाजिक यथार्थ के चित्र भी हैं जैसे *"निदाघलहरी"*, *"प्रावृड्लहरी"* आदि, तो कुछ लहरी काव्यों में सर्वथा नवीन विषयों को उठाया है, जैसे – *"जनतालहरी"* या *"रोटिकालहरी"*।

फारसी या उर्दू काव्य परम्परा के छन्दों का संस्कृत कविता में अवतरण बीसवीं शताब्दी के संस्कृत काव्य की एक विशेषता है। इस दृष्टि से प्रवर्तक कार्य भट्ट मथुरानाथ शास्त्री ने किया। इन्होंने 1929 ई. में प्रकाशित अपनी *"गीतिवाणी"* नामक पुस्तक में *"उर्दूभाषाचमत्कम्"* नामक खण्ड समाविष्ट किया था। इस खण्ड में शास्त्री जी की 58 ग़ज़ल – गीतियाँ संकलित थीं। शास्त्री जी के अनन्तर पं० जानकी वल्लभ शास्त्री ने भी संस्कृत में ग़ज़ल लिखी, जो अब प्राप्त नहीं होती। श्री श्रीधर भास्कर वर्णेकर ने अपने **'संस्कृत वाङ्मय कोश'** में इस काल में लिए राधाकृष्ण नामक कवि के *"ग़ज़लसंग्रह"* का उल्लेख किया है यह संग्रह भी प्राप्य नहीं है। अस्तु, संस्कृत में ग़ज़ल लेखन की परम्परा पिछले साठ-सत्तर वर्षों से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही हैं– इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इस समय लोकप्रिय ग़ज़ल लिखने वाले संस्कृत कवियों में श्री राजेन्द्र मिश्र तथा जगन्नाथ पाठक उल्लेखनीय हैं। जगन्नाथ पाठक की ग़ज़लों में मनोवेदना और सूक्ष्म भाषाभिव्यञ्जना है, राजेन्द्र मिश्र की ग़ज़ल-गीतियों में रदीफ और काफिये का संयोजन बड़ा आकर्षक होता है। पर ग़ज़ल के शिल्प की समझ और उसकी विधा में गहरी भाषाभिव्यक्ति की दृष्टि से पं० बच्चूलाल अवस्थी की गीतियाँ सर्वोत्कृष्ट कही जा सकती है। वस्तुतः अच्छी ग़ज़ल कहने के लिए फारसी कविता की जो समझ चाहिए, वह जगन्नाथ पाठक तथा बच्चूलाल अवस्थी इन दो कवियों में विशेष रूप से है। अवस्थी जी ने गजल में संस्कृत भाषा की प्रौढ़ि, उसके अपने संस्कार और अभिव्यञ्जना शैली को उतारते हुए नये सौन्दर्यबोध से साक्षात्कार कराया है। उनकी एक ग़ज़ल का नमूना देखिये–

पिका मौनं भजेरन् भासि वासन्ते कथङ्कारम्।
शरः शाकुन्तलः सिद्ध्येन्न दुष्यन्ते कथङ्कारम् ?
भ्रुवोर्भङ्भ्रमाद्भूम्ना निषेधाः सम्प्रतीयेरन्।
कपोलप्रान्तसङ्केता निगृह्यन्ते कथङ्कारम् ?।।

यहाँ "कथङ्कारम्" रदीफ है, तथा "वासन्ते", "दुष्यन्ते" आदि काफिये हैं।

मुक्त छन्द के प्रयोग तथा नवीन विषयों की उपस्थापना की दृष्टि से दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ. श्री कृष्णलाल के दो काव्यसङ्ग्रहों का भी उल्लेख किया जा सकता है। – *"शिञ्जारवः"* (दिल्ली, 1954 ई.) तथा *"उर्वीस्वनः"* (दिल्ली, 1957 ई.)। प्रथम में 61 तथा दूसरे में 46 कवितायें संकलित हैं। मुक्त छन्द का प्रवाह और लय आकर्षक है, पर अभिव्यक्ति में काव्यात्मकता न्यून है।

राजेन्द्र मिश्र, श्रीमती नलिनी शुक्ला, श्रीमती पुष्पा दीक्षित आदि कवियों ने हिन्दी कविता में प्रचलित नवगीतविधा का सफल प्रयोग संस्कृत काव्य रचना में किया है। भट्ट मथुरा नाथ शास्त्री

के दाय का उपबृंहण करते हुए अनेक कवियों ने ब्रज भाषा तथा उर्दू के छन्दों को अपनाकर उत्तम कवितायें संस्कृत में लिखी हैं। ग़ज़ल तथा रूबाई के प्रयोग की दृष्टि से कवि जगन्नाथ पाठक और ब्रजभाषा के छन्दों के प्रयोग की दृष्टि से नवोदित कवि विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र ने रचना की है, माधव ने कुछ बाउल गीत एकदम हाल ही में लिखे हैं, जो अत्यन्त लोकप्रिय भी हुए हैं। साथ ही इन्होंने लोकगीत की विधा को भी संस्कृत काव्य-रचना में प्रतिष्ठित कर दिया है। इन्होंने ***"स्वधहारीयम्"*** (कहरवा), ***"चैत्रकम्"*** (चैती, आदि की धुन तथा छन्द को लेकर संस्कृत में मधुर गीतियाँ लिखी हैं। भोजपुरी तथा अवधी की लोकगीतों की विषयवस्तु तथा छन्द संस्कार का गहरा प्रभाव कुछ नये संस्कृत कवियों पर देखा जा सकता है। डॉ. भास्कराचार्य त्रिपाठी की अनेक गीत-रचनायें ***"सौहर"*** गायन शैली को प्रभावित करके लिखी गयी हैं।

सानेट् के अतिरिक्त अन्य विदेशी छन्दों को भी कुछ नये कवियों ने अपनाया है। हर्षदेव माधव से तीन हजार के लगभग ***"हायकू"*** छन्द संस्कृत में लिखे हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हुए हैं। ***"हायकू"*** की ही भाँति ***"तांका"*** छन्द भी जापानी काव्य में प्रचलित हैं। माधव तथा अन्य कुछ कवि ***"तांका"*** छन्द में भी लिख रहे हैं। हर्षदेव माधव ने कोरियाई कविता स ***"शिजो"*** नामक छन्द भी लेकर उसमें भी संस्कृत कवितायें लिखी हैं।

समाहार–उपलब्धियाँ

समकालीन संस्कृत रचना का परिदृश्य वैविध्यमय तथा सम्भावनापूर्ण है। रचनाकारों की कई पीढ़ियाँ इसे सम्पन्न बनाने के लिए इस सदी में सक्रिय हैं। पुरानी पीढ़ी के रचनाकारों में भट्ट मथुरानाथ शास्त्री, म० म० रामावतार शर्मा, अप्पा शास्त्री राशिवडेकर, जानकी वल्लभ शास्त्री आदि, तो बाद की पीढ़ी में व्ही० राघवन्, बच्चूलाल अवस्थी, रामकरण शर्मा, जगन्नाथ पाठक, पुष्पा दीक्षित, राजेन्द्र मिश्र, राधावल्लभ आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है। नवोदित रचनाकारों में प्रयोगशीलता और अछूती भावाभिव्यक्तियों की दृष्टि से केशव चन्द्र दास तथा हर्ष देव माधव-ये दो कवि विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

बीसवीं सदी के संस्कृत रचनाकारों की नामावली या परिचय प्रस्तुत न करते हुए रचनागत वैशिष्ट्य और उपलब्धियों की दृष्टि से कुछ कवियों पर चर्चा यहाँ प्रस्तुत है।

अप्पाशास्त्री राशिवडेकर (1873–1913) ने *"संस्कृतचन्द्रिका"* पत्रिका और *"सूनृतवादिनी"* अखबार के सम्पादन तथा प्रकाशन के द्वारा संस्कृत में वही कार्य किया जो महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी में *"सरस्वती"* और तिलक ने मराठी में *"केसरी"* के सम्पादन के द्वारा किया था। समर्पित तपःपूर्ण पत्रकारिता के अतिरिक्त उन्होंने स्वयं विविध विधाओं में विपुल लेखन संस्कृत में किया था। समसामयिक भारतीय साहित्य की रचनाओं के संस्कृत अनुवाद किये थे। बहुसङ्ख्य मुक्तक काव्य या खण्डकाव्य तथा प्रतीकात्मक नाटक *"अधर्मविपाकम्"* के अतिरिक्त अप्पाशास्त्री ने संस्कृत गद्य को युगानुरूप सरल प्राञ्जल स्वरूप देते हुए अनेक कहानियों और निबन्धों की रचना की थी। अप्पा शास्त्री के गद्य में अद्भुत ऊर्जा और प्राणवत्ता है। राजनीतिक सङ्कट और स्वातन्त्र्य-सङ्घर्ष के काल में जिस दीप्त गद्य की आवश्यकता अमरवाणी को थी, वह अप्पाशास्त्री ने दिया। उनकी कविताओं में कल्पना और संवेदना की न तो नवीनता है, न गहराई। पर संस्कृत कविता उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध और बीसवीं शती के पूर्वार्ध में युगसत्य को व्यञ्जित कर रही हैं, जिसके ये नमूने है। इस दृष्टि से उनकी कविता *"पञ्जरबद्धः शुकः"* स्मरणीय है। इसमें *पञ्जरबद्ध* शुक की अन्योक्ति के माध्यम से पराधीन भारत की वेदना को कवि ने व्यक्त किया है। इस कविता से प्रभावित होकर हिन्दी कवि मैथिली शरण गुप्त ने इसका संस्कृत से हिन्दी में काव्यानुवाद किया था, जो उस समय *"सरस्वती"* जैसी श्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिका में (अगस्त, 1911) में प्रकाशित हुआ था। कवि पराधीनता को मृत्यु के समान दारुण बताता हुआ कहता है–

शुक सुवर्णमयस्तव पञ्जरो
न खलु पञ्जर एष विभाव्यताम्।
मुखमिदं ननु हेमशलाकिका–
रदनशालिमृतेरतिभीषणम्।।

इसी प्रकार *"तिलकमहाशयस्य कारागृहवासः"*, शीर्षक कविता भी लोकमान्य तिलक के प्रति कवि की श्रद्धा भावना के साथ-साथ उनकी राष्ट्र-सपर्या के प्रति आस्था को व्यक्त करती है। इस कविता में 37 पद्य हैं। कवि ने अंग्रेज़ सरकार द्वारा कारागार में तिलक को दिये जाने वाले कष्टों पर संवेदनमय शैली में अपना क्लेश प्रकट किया है।

अप्पाशास्त्री जी की अनेक कवितायें प्रकृति-चित्रण से सम्बद्ध है। *"ऋतुचित्रम्"* उनकी एक श्रेष्ठ कविता है, जिसमें ***ऋतुसंहार*** के समान छहो ऋतुओं का क्रमशः सुन्दर वर्णन है। इसमें कवि ने समकालिक सामाजिक विसङ्गतियों की ओर सङ्केत किया है। सहोक्ति अलङ्कार के मार्मिक निर्वाह के साथ आम जनता द्वारा ग्रीष्म ऋतु में अनुभूत कष्ट परम्परा को उद्घाटित करते हुए वह कहता है–

शस्यं शुष्यति सर्वमेव भुवने पुंसां सहैवाशया
प्रम्लायन्ति लता नितान्तमधुना साकं प्रजानां मुखैः।
उद्दामं समुदैति च प्रतिफलं चोष्मा समं मानसै–
स्तापैः क्वापि विलीयते बत शुचावप्यागते यद् घनः।।

शास्त्री जी की *"वल्लभविलापः"* कविता अपनी पत्नी के निधन पर लिखी गयी अत्यन्त कारुणिक अभिव्यक्ति है। उसी प्रकार उनकी *"मल्लिकाकुसुमम्"* में भी सुकुमार भावों को व्यक्त किया गया है। इस कविता में एक युवक मालती लता में केवल एक पुष्प देखकर उसे तोड़कर फेंक देता है। इस छोटी सी घटना के माध्यम से कवि ने व्यक्ति की बन्धुवान्धवरहित एकाकी स्थिति का करुण चित्र प्रस्तुत किया है।

भट्ट मथुरानाथ शास्त्री (1889) एक युगप्रवर्तक साहित्यकार हैं। संस्कृत रचना में नयी प्रवृत्तियों के आधान, नयी विधाओं के सूत्रपात तथा नयी शैलियों के प्रयोगों की दृष्टि से उनका कृतित्व बहुत सम्पन्न है। संस्कृत में रेडियो रूपक, आधुनिक वातावरण तथा नये सामाजिक सन्दर्भों का चित्रण करने वाली कहानियाँ, यात्रावृत्त, ललित निबन्ध जैसी विधाओं की अवतारणा शास्त्री जी ने की है। दोहा, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय, कबित्त जैसे ब्रजभाषा के छन्दों को पहली बार संस्कृत काव्य में इन्होंने उतारा है। संस्कृत ग़ज़ल के भी प्रवर्तक शास्त्री जी ही कहे जा सकते हैं। ग़ज़ल के विधान तथा लोकभाषा के छन्दों पर उनका असाधारण अधिकार है। उनके ललित निबन्धों में लेखनी का चुलबुलापन चमत्कारी है। कहानियों में व्यङ्ग्य, विडम्बना, सामाजिक वैषम्य की अभिव्यक्ति भी प्रभावशाली हैं। अप्रयुक्त छन्दों में लिखते हुए शास्त्री जी ने अपनी रचना में कहीं आयास का अनुभव नहीं होने दिया है। आयास के कवियों पर उन्होंने कितनी सहजता से चुटकी ली है–

शब्दा न स्फुरन्ति रचनासु नापि भाषा वशे।
न पुनरशेषवृत्तबन्धे प्रभविष्यामः।।

दासा इव नानुयान्ति वाचमनुप्रासा अपि।
भावमनायासादभिव्यक्तुं नोल्लसिष्यामः।।
"मञ्जुनाथ" मानसिकमोदोद्गारमेतं मञ्जु।
कवितानिकेतं कृच्छ्रभावैर्भररिष्यामः।।
प्रस्थयवयोग एव विकलं व्ययतु वचो।
निर्निरोधवाचो वयं कवयो भविष्यामः।।
जन्मजातमेतत्काव्यबीजमुपलब्धं न वै।
विश्रब्धं न सिद्धकविसेवामाचरिष्यामः।।

शास्त्री जी के काव्य में वैयक्तिक अनुभूतियों, करुणा और भक्तिभाव का भी इसी सहजता से उन्मीलन हुआ है। अभिव्यक्ति की अनाविलता उनमें सर्वत्र बनी रही है, चाहे वह आधुनिक नागरिक जीवन का चित्रण कर रहे हों, या ग़ज़ल जैसी नयी विधा में लिख रहे हों, या आत्मकथा को प्रकट कर रहे हो। लय और अन्त्यानुप्रास का निर्वाह उनमें आधुनिक भारतीय भाषाओं की कविता के समान मिलता है। अपने आपको सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं–

अयि चित्त चिरेण विचिन्तयतोऽपि चञ्चलता न गता, न गता
अपि नाम निरन्तरयत्नशतैस्तव निष्ठुरता न गता, न गता।

पण्डित क्षमाराव (1890–1954) की स्वातन्त्र्य आन्दोलन तथा गाँधी चरित्र पर महाकाव्यत्रयी यथार्थ बोध तथा भाषा की सहजता के कारण उल्लेखनीय है। उनकी पद्य में लिखी कहानियाँ जो ***"कथापञ्चकम्"*** में सङ्कलित हैं, संस्कृत की नयी कथा का प्राणवान् रूप प्रस्तुत करती है। गाँव के लोगों की व्यथा तथा विधवा-जीवन की विडम्बना का चित्रण इस प्रामाणिकता और नये सामाजिक सन्दर्भों के बीच पहली बार संस्कृत साहित्य में हुआ है। यह एक अन्तर्विरोध है कि पद्य में क्षमादेवी जितनी सहज, सरल और पारदर्शी हैं गद्य में वे भाषा का घटाटोप लाने का उतना ही प्रयास करती हैं और गद्य में लिखी उनकी कहानियों की अपेक्षा (जो ***"कथामुक्तावली"*** में सङ्कलित हैं) ***"कथापञ्चकम्'*** तथा ***'ग्रामज्योति'*** की पद्य में लिखी कहानियाँ आज की कहानी के ज्यादा निकट हैं। क्षमादेवी की दो लघु पद्यात्मक रचनायें नयेपन की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं– ***"शङ्करजीवनाख्यानम्"*** और ***"विचित्रपरिषद्यात्रा"***। पहली में अपने पिता की जीवनी उन्होंने प्रस्तुत की है, दूसरी में अनन्तशयन की यात्रा का संस्मरण।

नागार्जुन (वास्तविक नाम वैजनाथ, जन्म 1911 ई.) हिन्दी के समकालिक कवियों में मूर्धन्य हैं। इनकी शिक्षा काशी में हुई। वह बाल्यकाल से ही संस्कृत में कवितायें लिखते थे, कालान्तर में हिन्दी के उपन्यासकार, कलाकार तथा सुकवि के रूप में विश्रुत हुए। तथापि संस्कृत काव्य-रचना का इनका क्रम आज भी जारी है। इनकी संस्कृत कविताओं की समकालिक संस्कृत साहित्य में एक अलग बानगी है। बौद्ध भिक्षु के रूप में हिमालय के अञ्चल का भ्रमण करते हुए देश की जिस नैसर्गिक सुषमा का इन्होंने साक्षात्कार किया है, उसकी कुछ छवियाँ अत्यन्त मौलिक परिकल्पना के साथ इन्होंने अपने अनेक संस्कृत मुक्तकों में संजोयी हैं। कश्मीर और वितस्ता के इनके वर्णन निराले ही हैं। अपने रचनाकाल के आरम्भिक दौर में इन्होंने इसके क्रान्तिकारी महान् नेता लेनिन की मृत्यु पर ***"लेनिनशतकम्"*** काव्य लिखा था, जो कवि की समाज चेतना, वर्तमान विश्व की

व्यवस्था की समझ की दृष्टि से प्रभविष्णु रचना है। इनकी *"भारतभवनम्"* कविता भी भारतीय जनता के शोषण तथा शोषण तन्त्र का बेबाक चित्र प्रस्तुत करने वाली कविता है। इन्होंने अपनी देवस्तुतिपरक रचनाओं में भी प्रतीकात्मक या व्यञ्जनापूर्ण रीति में आज के जीवन की स्थितियों को साकार कर दिया है। *"हैमी पार्वती"* शीर्षक कविता में पार्वती का एक सुखी गृहिणी के रूप में चित्र अङ्कित किया गया है, उसका एक बेटा तो बड़ा होने के पहले ही देवसेनापति बन गया, दूसरा भी इतना बुद्धिमान् है कि दुनिया में उसकी प्रज्ञा का डंका बजता है। फिर पति का सुखद साथ और पिता हिमालय की विशाल अधित्यकायें। पार्वती को किस बात की चिन्ता ? वे तो बर्फानी चादर ओढ़े आराम से सो रही हैं–

तारुण्यात् पूर्वमेव प्रथिततिजयिनामग्रणीः कार्तिकेयः
तीक्ष्णप्रज्ञश्च विश्वे वितरति प्रतिभां बालको वारणास्यः।
तातस्याधित्यकासु प्रमुदितवदना कान्तसान्निध्यतुष्टा
निद्रात्येषा मृणानी तुहिनविततिभिः प्रावृतेवा समन्तात्।।

कवि ने पार्वती के प्रति भक्तिभाव भी बनाये रखा है, और पार्वती की छवि को आज की पारिवारिक संवेदना से जोड़ भी दिया है। इसी प्रकार गणेश और कार्तिकेय का चित्र बर्फ की गेंदों से खेलते बच्चों के रूप में बड़ा मनोहारी है–

नमामि हरपार्वतीप्रणयपद्मकिञ्जल्कजं
शिशुं शरवणोद्भवं गजमुखं च सिद्धिप्रदम्।
यदीयहिमकन्दुकैः शिखरकोटिसंस्पर्शिभिः
शतद्रुरपि धावनेषु, शिथिलादरा दृश्यते।।

लेनिनविषयक काव्य में अपने महान् नेता के अवसान पर उसके सन्देश को भूल जाने की प्रवृत्ति पर मार्मिक कटाक्ष करते हुए उसने कहा है–

अपि कौशेयनिचिताः स्वर्णवर्णाङ्किता अपि।
सूक्तयस्तव सीदन्ति दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिताः।।

कश्मीर विषयक कविताओं ने नागार्जुन ने प्रकृति में स्पन्दन तथा चैतन्य खोजा है। बर्फ से आवृत वन्यपरिसर में वितस्ता नदी का चित्र है–

जाड्यार्तानां सहस्रं दिशि दिशि प्रसृतं देवदारुद्रुमाणां
पाण्डुत्वग्वेष्टनान्तः शिथिलितवदना दैन्यमाप्ता वनाली।
क्षुत्क्षामे शुष्ककण्ठे विषमतलगृहे निर्झराणां कुलेऽस्मिन्
शैत्याधिक्यप्रभावाद् विजडगतिका स्विद्यतीयं वितस्ता।।

कवि जानकीवल्लभ शास्त्री ने उन्नीस वर्ष की अल्पायु में ही अपनी संस्कृत मुक्तक रचनाओं का सङ्कलन *"काकली"* (मैगरा, 1935 ई.) प्रकाशित किया था। अनन्तर ये हिन्दी के कवि के रूप में भी प्रतिष्ठित हुए और छायावादी युग के उल्लेखनीय कवियों में इनकी गणना होती है। पर किशोरावस्था से लगाकर अभी तक संस्कृत गीत रचनाओं का इनका क्रम बना हुआ है।

"काकली" के अतिरिक्त *"बन्दीजीवन"* में इनका स्वतन्त्रता सङ्ग्राम की पृष्ठभूमि पर आश्रित खण्डकाव्य है, जो अप्रकाशित है। वस्तुतः इनकी अनेक संस्कृत प्रगीत रचनायें अप्रकाशित हैं या लुप्त हो गयी हैं।

कवि जानकी वल्लभ ने आधुनिक संस्कृत काव्य में नये युग का सूत्रपात किया है। उन्होंने प्राचीन काव्यधारा को आज के साहित्य को नयी भाव चेतना से जोड़ा है। उनके गीतों में अनुप्रास का निर्वाह, पदावली की कोमलता तथा सप्राणता रागात्मकता और वैयक्तिक करुणा कूट-कूट कर भरी है। यह संस्कृत कविता में रोमाण्टिक प्रवृत्ति के पुरोधा कहे जा सकते हैं। आज की संस्कृत कविता को उन्होंने अपनी प्रयोगशीलता के द्वारा नये आयाम दिये हैं। ग़ज़ल जैसी नयी विधाओं में भी उन्होंने रचनायें की हैं। *"गीतगोविन्द"* जैसी मधुर कोमलकान्त पदावली में आज की संवेदनाओं को उन्होंने स्पन्दित किया है। *"भारतीवसन्तगीतिः"* में अपनी कविता का नवावतार घोषित करते हुए वे कहते हैं–

निनादय नवीनामये वाणि वीणाम्
मृदुं गाय गीतिं ललित–नीति–लीनाम्।

"भ्रमरगानम्" शीर्षक गीत उपालम्भ और प्रतीक विधान का अच्छा उदाहरण है–

सरसि निविश्य मुखं सुखं चुचुम्बिथ नवरसं चषन् सन्
सम्मुखसाम्प्रत, साम्प्रतमपि वृतानरविन्दम्।
विन्दन्नानन्दं परात् परं कमपि नवीनमन्दम्
इन्दिन्दिर, निन्दसि मकरन्दम् ?

जानकी वल्लभ शास्त्री के संस्कृत काव्य में पारम्परिक काव्य की विच्छित्ति, भावधारा तथा परिष्कृति भी है और हिन्दी के छायावादी काव्य की छटा भी। गीतों के साथ उन्होंने पारम्परिक शैली में वर्णन तथा स्तोत्र भी रचे हैं। इनमें राधापरक काव्य भावसान्द्रता तथा पदशैया की माधुरी के कारण सुपाठ्य है। उदाहरणार्थ–

ज्योत्स्नास्नाते निशीथे किसलयशयिते मर्मरे स्निग्धसान्द्रे
चान्द्रम्पीयूषमाचामति चटुलचलच्चारुचञ्चच्चकोरे
वेल्लत्कल्लोलमालाकलकलकलिते यामुने श्यामकूले
मन्दं मन्दं कदम्बं स्पृशति मधुमये माधवीये समीरे।।
किं किं किंकिणीनां कण–कणरणनं कङ्कणद्वन्द्वबन्धि
श्रावं श्रावं विरावं चलचरणमिलन्मञ्जुमञ्जीरजातम्
लीलाशीलालिलोलत्करतलकलितोत्तालतालं सहास्यं
लास्यं श्रीराधिकायास्तिरयतु दुरितं मानसं मानवानाम्।।

बच्चूलाल अवस्थी (जन्म 1918) का काव्य भावप्रवणता तथा संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार तथा पारम्परिक छन्दों के साथ ग़ज़ल के संविधान की अचूक पकड़ के कारण उल्लेखनीय है। पारम्परिक संस्कृत काव्यधारा ने इनकी लेखनी प्रणालिका से निस्सृत होकर नई पद्धति और समृद्धि पायी है। स्तोत्रकाव्य, वर्णनात्मक खण्डकाव्य, ग़ज़ल आदि विधाओं में विविध विषयों पर इन्होंने लिखा है। 'मातृस्तवकम्' से उदाहरण प्रस्तुत है–

पतिप्राणे मातः क इव महिमानं तव नुयात्
पतिं स्वान्तःसारै सह चिदणुनाशेन विभृषे।
नवीकर्तुं कार्तस्वरमिव शरीरं प्रकुरुषे
परिष्कर्तुं कर्तुं जगति कृतकृत्यं विनयसे।।
निकायो धातूनां मसृणमसृणः पुत्रपदवीं
दधानो दम्पत्योः प्रणयनिलये कूजनपिकः,
व्यलीकव्यावृत्तो ह्रदयविभवः सम्भृतरसः
कुटुम्बप्रस्तारो नलिननिकुरुम्बो द्युसरितः।।

अन्योक्तिपरक या प्रतीकात्मक खण्ड काव्यों के रूप में अवस्थी जी ने आधुनिक संस्कृत साहित्य को एक नयी विधा दी है। इस शैली में इन्होंने समकालीन समाज और राजनीति की विसङ्गति तथा विडम्बना पर कटाक्ष करते हुए *"एकदन्तवृत्तम्"*, *"शुकवृत्तम्"*, *"दस्युशुनकीयम्"*, *"का गतिः"* आदि कई काव्य प्रस्तुत किये हैं।

रामकरण शर्मा (ज० 20-3-27) – ने अभिव्यक्ति की सहजता, अनाविलता तथा प्राञ्जलता के साथ भारतीय जीवनमूल्य, परम्परा तथा आधुनिकता के अद्यतन समाज में प्रवर्तमान द्वन्द्व और आज के नैतिक संस्खलन को संस्कृत कविता में अभिव्यक्ति दी है। साहित्य अकादेमी के द्वारा पुरस्कृत इनका काव्यसङ्ग्रह *"सन्ध्या"* विशेष रूप में संक्रान्ति के आशय को अनेक विच्छित्तियों और अभिप्रायो में निरूपित करता है– अनुदात्त और उदात्त के बीच की सङ्क्रान्ति, नव्य युग में मूल्यों के क्षरण से होने वाली सङ्क्रान्ति, या नैराश्य के कुहासे से निकलकर प्रकाश देखते हुए कवि के मन की सङ्क्रान्ति– ये सब विभिन्न बिम्बो और अप्रस्तुत विधानों के द्वारा यहाँ प्रतिबिम्बित हैं। शर्मा जी के 'सन्ध्या' के अतिरिक्त तीन और काव्यसङ्ग्रह प्रकाशित हैं– *"शिशुकीयम्"*, *"पाथेयशतकम्"* तथा *"वीणा"*। इनके अतिरिक्त *"सीमा"* तथा *"रयीशः"* – ये दो उपन्यास भी संस्कृत में इनके आये हैं। कल्पनाशीलता की कमी और अनलङ्कृत भाषा के प्रयोग के कारण शर्मा जी का काव्य कई स्थलों पर सामान्य या अवर कोटि का लगने लगता है। पर आज के संस्कृत के कवियों के बीच वह कदाचित् अकेले हैं, जो निरन्तर विचार प्रधान कविता लिखते आ रहे हैं, तथा चिन्तन की गत्यात्मकता को उन्होंने रचना यात्रा में बनाये रखा है। शर्मा जी का कवि आज के युग में सत्य और असत्य के बीच, नैतिकता और अनैतिकता के बीच या आसुरी और दैवी शक्तियों के बीच चल रहे शाश्वतिक सङ्ग्राम को पारदृश्वा मनीषी की तरह देखता है। परम्परा से उनका कृतित्व निरन्तर आलोक पाता रहा है। उनका गद्य अपेक्षाकृत जटिल है, और उनके दोनों उपन्यास शैली तथा वस्तु की भिन्नता और अपूर्वता के कारण महत्त्वपूर्ण है। विशेष रूप से *"रयीशः"* में फैण्टेसी (कल्पना) और यथार्थ का, प्राचीन उपाख्यान शैली और आधुनिक औपन्यासिक कथा रस का अनूठा समागम हुआ है। शर्मा जी की सभी रचनाओं में प्रच्छन्न रूप से यह आशा परिव्याप्त है कि आधुनिक युग में प्रबल हो रही विनाशकारी बुद्धि को भारतीय और अध्यात्म के द्वारा पराहत होना है। *"रयीशः"* में यह अभिप्राय विशेष रूप में प्रकट हुआ है। सुमनःपुर, वैकुण्ठपुर तथा दुःशासनपुर– ये तीन नगर इसके कथानक में आज के विश्व की तीन स्थितियों या तीन सम्भावनाओं के द्योतक हैं। इनमें सुमनःपुर कवि का यूटोपिया या स्वप्नगम्य संसार है, जहाँ मन की शक्ति से हिंसक आक्रान्ता के नेत्र उपरुद्ध किये जा सकते हैं, बिना धुयें के वाहन जहाँ सञ्चार करते हैं,

और कहीं कोई द्वन्द्व या द्वेष नहीं है। दुःशासनपुर के कुचक्र की समाप्ति और वैकुण्ठपुर में इस दिव्य लोक के अवतरण की कथा यहाँ प्रस्तुत की गयी है।

जगन्नाथ पाठक का काव्य फारसी के उमरखय्याम की रचना से प्रेरित है, पर उन्होंने इसमें भारतीय अध्यात्म, रहस्यानुभूति या परम सत्ता के अनुभव को समेकित करते हुए अपनी एक अलग पहचान बनायी है। उमरखय्याम की प्रेरणा और भीतर के प्रणय दोनों को अपनी कविता– *"कापिशायनी"* का स्रोत बताते हुए वे कहते हैं–

प्रणयो हृदि मेऽभवद्यदा सहजस्तस्य, कृपाविशेषतः।
उमरस्य कवेः पथा तदा रचितेयं खलु कापिशायनी।।[1]

पाठक के काव्य में अन्तर्मन में निहित स्मृतियाँ, मार्दव और मसृणता की पराकाष्ठा पर पहुँच गयीं हैं। वे अव्याख्येय और अपरिभाषेय अनुभवों को चाक्षुष या श्रावण बिम्बो के द्वारा व्यक्त करते हैं–

स्मृतिसद्मनि मेऽतिजर्जरे क इहोपेत्य विनिर्गतः क्षणात्।
क्षणमेष तदीयनूपुरध्वनिमश्रौषमहो विनिद्रितः।।

स्मृतियों का मन्दिर जर्जर है। वहाँ कोई आकर चला गया हैं। विनिद्रा में कवि उसके नूपुर का रव क्षण भर सुन पाया है। भूमा या अनन्त की खोज के लिए जगत् के क्षणिक सुखों के त्याग की भावना पाठक की कविता में सर्वत्र व्याप्त है–

सरांसि सन्तु सकुशलानि ते तथा नद्यः।
मयोररीकृता जगति स्वयं पिपासेयम्।।[2]

(तुम्हारे सरोवर और नदियाँ बने रहे सकुशल। मैंने इस जग में स्वयं इस पिपासा का वरण किया है।) यहाँ *"ते"* (तुम्हारे) तथा *"इयम्"* इन दो सर्वनामों को सरोवर और नदियों तथा पिपासा के लिए लाया गया है। पहला सर्वनाम उदासीनता और दूरी को ध्वनित करता है, दूसरा नैकट्य को। इस पिपासा में भटकाव और व्यथा है, फिर भी सम्भावनायें हैं–

आगतो द्वारि कश्चिदेव स्यात्
यत्प्रतीक्षास्ति ते स एव स्यात्।

पाठक एक क्षण की सघन अनुभूति को व्यक्त करते हैं–

चषका इह जीवने मया परिपीता अपि चूर्णिता अपि।
मदमेष बिभर्मि केवलं क्षणपीतस्य मधुस्मितस्य ते।

(प्याले इस जीवन में मैंने
पीये भी और फोड़े भी,

---

1. कापिशायनी, 1980, पृ. 37
2. पिपासा, 1987, पृ. 1

पर मद मैं धारे हूँ केवल,
तेरे मधुमय स्मित का जो पिया किसी क्षण।)

तथा–

अवलोक्य नताननाऽभवत् पुनरुन्नीय मुखं ददर्श माम्।
इयति क्षण एव जीवितं मरणं नन्वनुभूतवानहम्

देखकर मुँह नीचा किया, फिर मुँह उठाकर मुझे उसने देखा। इतने क्षण में भी जीवन और मरण को मैने भोगा।

राजेन्द्र मिश्र ने महाकाव्य, कहानी, निबन्ध, एकाङ्की, पूर्णाकार नाटक, खण्डकाव्य, मुक्तक, लोकगीत, ग़ज़ल आदि विधाओं में विपुल साहित्य रचा है। पारम्परिक शैली का परिष्कार और प्रौढि तथा नयी विधाओं की नयी शैलियों का समान अधिकार से इन्होंने निर्वाह किया है। उनके काव्य जगत् की परिधि विस्तीर्ण है। घोर वैयक्तिक अनुभव तथा समकालीन समाज, पौराणिक आख्यान और उनकी नई व्याख्यायें, परम्परा और आधुनिकता – ये सभी उसमें उपस्थित हैं। फिर भी रूमानियत और सौन्दर्य-प्रवणता उसमें उदग्र है। नारी के समर्पण भाव, मातृत्व तथा उसकी मांसलता इनके प्रति दुर्निवार आकर्षण राजेन्द्र जी की रचनाओं में बना रहा है। एक ओर तो–

मणिकर्णिकाघट्टे दिष्ट्या स्थितोऽहम्।
सत्याद् ऋते सर्वैः स्निग्धैश्च्युतोऽहम्।।[3]

मणिकर्णिका के घाट पर अकेले छूट जाने की यह अपनी वेदना है, तो दूसरी ओर रूचिरपदा गौरी के शिवसदन में विहरने पर यह मुग्ध सराहना–

सजलजलदसमकुन्तलकेशे
सिन्दूराणि वहति गौरी शिवसदने।।

लोकगीतों से प्रभावित संस्कृत गीतों (कजरी, नकटा, सौहर) आदि में राजेन्द्र जी ने गाँव के वातावरण और भारतीय पारिवारिक सम्बन्धों के रस का अनुभव किया है।

राजेन्द्र जी की संस्कृत कहानियाँ मध्यमवर्गीय समाज का यथार्थ प्रस्तुत करती है। सौन्दर्य प्रेम और तारुण्य की उन्मादकता, दिवास्वप्न आशा, पारिवारिक सम्बन्धों की मधुरता इनमें तरलित है। ***"इक्षुगन्धा"*** (1986) में संकलित ***"शतपर्विका"*** कहानी सात बेटियों वाले पिता की दोहरी मानसिकता का अच्छा चित्रण है। वह अपने निकम्मे इकलौते पुत्र पर जान छिड़कता है, पर अपनी सेवापरायण स्नेहप्रवण सात बेटियों से चिढ़ता है। कहानी के पर्यवसान में बड़ी बेटी की सुश्रूषा पिता का हृदय बदल देती है। ***"भग्नपञ्जरः"*** में एक विधवा की वेदना है। ***"सुखशयनपृच्छिका"*** में अस्पताल में होने वाले किशोर प्रणय का चित्रण है। राजेन्द्र जी ने अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं, ***"इक्षुगान्धा"*** में संकलित ***"ताम्बूलकरङ्कवाहिनी"*** तथा ***"रांगडा"*** में संकलित ***"रांगडा"*** तथा ***"सिंहसारिः"*** आदि ऐतिहासिक कहानियों में नारी हृदय की अद्वितीयता तथा भावुक उच्छ्वास अधिक मिलता है।

---

3. श्रुतिम्भरा, 1989, पृ. 74

केशवचन्द्र दास ने संस्कृत के नये रचनाकारों में अनेक विधाओं में विपुल रचना करते हुए प्रतिभा की प्रत्यग्रता का परिचय दिया है। मुख्य रूप से वह कवि हैं, पर उपन्यास और कथा (कहानी) इन दो विधाओं में भी वह निरन्तर लिखते जा रहे हैं। 1995 तक इनके संस्कृत में 13 उपन्यास, 6 कविता संग्रह, 1 बाल उपन्यास, 3 कहानी सङ्ग्रह तथा 2 बाल कथा सङ्ग्रह प्रकाशित है। उड़िया तथा अंग्रेजी में भी इन्होंने लिखा है। न्याय दर्शन के प्राध्यापक होने के कारण इनकी सभी रचनाओं की पृष्ठभूमि में कोई न कोई तार्किक संगति तथा दार्शनिक दृष्टि अवश्य रहती है। पर गद्य रचनाओं में भी इनका कवि हृदय तरङ्गित है। केशव ने आधुनिक गद्य को लय के नैरन्तर्य और दुर्लभ मुहावरों से सम्पन्न किया है।

उपन्यासों और कहानियों में केशव ने पहली बार संस्कृत में चेतना प्रवाह शैली (stream of consciousness) का अच्छा प्रयोग किया है। इनके कथानक पात्रों के मनोलोक में अधिक केन्द्रित रहते हैं। आधुनिक युग के विघटन, मनुष्य के सन्त्रास और जीवन की विसङ्गतियों का चित्रण करते हुह कहीं-कहीं औपनिषदिक चिन्तन के द्वारा उस सबका समाधान भी करने लगते हैं।

केशव चन्द्र ने मुक्त छन्द में ही कवितायें लिखी हैं, तथा इनके काव्य का भावबोध सर्वथा नवीन है। इनकी कविता आधुनिक जीवन की विसङ्गति, परम्परा और आधुनिकता का द्वन्द्व, महानगर के जीवन का तनाव, पीछे छूट गये अकलुष पावन जीवन की स्मृतियाँ जटिल तथा बिम्बों के माध्यम से उपस्थित करती है।

कवि ने स्वयं अपनी काव्य यात्रा को असङ्गति में सङ्गति की खोज के रूप में लक्षित किया है। (*"ईशा"*, 1991, भूमिका)। जीवन की रिक्तता और व्यर्थता का गहरा अनुभव केशव चन्द्र की कविताओं में अनेकत्र है, फिर भी वे जीवन को वरेण्य समझते हैं–

निधिभवनस्य/अलिन्दे यथा/श्रूयते भौतिकतास्वरः/विक्षिप्तदीनतासु च/
चीत्करोति/शैलकल्पक्षता/कमहं श्रावयिष्यामि/प्रसूतिकाव्यथां मम ?[4]

फिर भी अपने अस्तित्व का अनुभव अपने को खोने में, समष्टि में लय में है, फेंकी गयी गेंद की तरह लौटने में नहीं, असीम में डूब जाने में है–

नाहं निक्षिप्तकन्दुकः/प्रत्यागमिष्यामि/भूतलं संस्पृश्य
परमेको मिमिलेषुः/आषाढस्य बिन्दुः।[5]

कवि ने अपने अन्तर्जगत् के जटिल भाव संवेगों को अङ्कित करने के लिए सर्वथा अछूते बिम्बों या उपमानों की सृष्टि की है। देह और चेतना के पार्थक्य को निरूपित करता हुआ वह कहता है–

अनभिज्ञशरीरतो मम
मनो विगलति
यथा कश्चिद् वयस्कप्रणवः, वृत्तिःयक्तब्राह्मणस्य मुखात्।।[6]

---

4. ईशा., पृ. 4
5. वही, पृ. 1
6. अलका, पृ. 8

इस अन्तर्जगत् में कवि स्वयं को स्वयं से अलग करके देखता है। तब *"सम्बोधन"* सम्भव होता है। *"सम्बोधन"* और उससे जुड़ी हुई विशिष्ट पदावली केशव चन्द्र के काव्य में प्रयुक्त हुई है। उनकी कविता को आत्मा का आत्मा से ही आत्मालाप और स्पृहाहीन होने की स्पृहा की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। इस अभिव्यक्ति के द्वारा कवि जिस धरातल पर पहुँचता है, वह असीम का अनुभव देता है। इस असीम को उसने *"अलका"* भी कहा है। इस *अलका* तक पहुँचने के लिए वह स्वयं ही सन्देशदाता है, स्वयं ही दूत भी है, स्वयं ही यात्री भी–

मेघकथां न पृच्छ माम्
अहं हि स्वयं दूतो मम नगरस्य
अहं च स्वयं प्रभुः न कस्य किङ्करः।[7]

एक अर्थ में यह नयी कविता में, नये उपमानों, भावमय बिम्बों के साथ औपनिषदिक दर्शन का पुनराविष्कार है। संसार के सारे संसरण को स्तब्ध कर देने वाले कवि के द्वारा नये संसार की सृष्टि है। कवि कहता है कि चुम्बन लेते अधर में निमज्जित होते हास्य की तरह संसार को उसे अपनी अवैखरी लीला-माला में निमज्जित करा लिया है, तो कदाचित् वह इस नयी सृष्टि की ओर इङ्गित कर रहा है, स्थिति में उसे "त्वम्" भासित होता है–

संसारो निमज्जति स्वयं
अवैखरीलीलामालिकासु
हास्यं यथा चुम्बिष्यदधरे
त्वमवभाससे यदा।[8]

केशव चन्द्र ने वर्तमान की विसङ्गतियों को अन्तर्मन की इसी उन्नत एकान्त नीरव भूमि पर खड़े होकर देखा है, और उन्हें अपनी इस तटस्थ दृष्टि के आलोक में चित्रित किया है। संस्कृत के आधुनिक कवियों में से सर्वथा भिन्न और अछूते अनुभव का साक्षात्कार भावक को देते है।

"निकषा" (1986) लघु उपन्यास में केन्द्रीय विचार जिजीविषा और जीवन के बीच की दूरी है। वृद्ध गोविन्द मन्दिर में पुजारी है। मन्दिर भग्न और जर्जर है। उसके साथ विधवा बहन यमुना रहती है। इनके जीवन में माया और परदेशीचरक आते हैं। यमुना अपनी बेटी माया का विवाह वैद्य चरक के साथ करना चाहती है। चरक उन्हें छोड़कर चल देता है।

"ऋतम्" (1988) केशव की प्रारम्भिक औपन्यासिक कृतियों में से है, पर चिन्तन की प्रौढता और दृष्टि की विलक्षणता का प्रकर्ष इसमें भी देखा जा सकता है। कुलभद्र एक सम्पन्न गृहस्थ है, जो अपनी पत्नी शन्नोदेवी की रोग-जर्जर स्थिति में उसी के आग्रह पर दूसरा विवाह कर लेता है। दूसरी पत्नी की शुश्रूषा से शन्नोदेवी स्वस्थ हो जाती है, तथा एक पुत्र को जन्म देती है। कुलभद्र पुत्र शुभाङ्के को एक संन्यासी अलेख को विद्याध्ययन के लिए सौंप देता है। उधर अवनी भी एक पुत्र अनन्त को जन्म देती है।

---

7. वही, पृ. 46
8. वही, पृ. 2

अलेख के आश्रम में रहता हुआ शुभाङ्क विरक्त हो जाता है। एक सम्पन्न श्रेष्ठी की पुत्री अभिधा से उसके विवाह की बात चलती है। पर शुभाङ्क का सहाध्यायी उपार्क अभिधा पर आसक्त है। यह सब देखकर शुभाङ्क तो संन्यासी हो जाता है, और उपार्क अभिधा से विवाह कर लेता है। पर उनका दाम्पत्य कलह के कारण नारकीय हो जाता है।

सांस्कृतिक मूल्य बोध और औपनिषदिक चेतना को अव्याहत बनाये रखकर केशव आधुनिक जीवन के अन्तर्विरोधों को पारदृश्वा की तरह देखते हैं। इनकी अभिव्यक्ति के लिए वे विशिष्ट भाषा गढ़ते हैं–

प्रकाशस्वरूपे दिवसो विषयवशः। अर्जनलोभने कर्म निर्मन्थः श्रमविरसः। उत्कोचरचनायां कार्यालयपुस्तिका मसीविकला। ईर्ष्यावर्षणे परस्पर–पथरोधिनी कर्मशाला। वञ्चनवाञ्छातले चतुराविपणी रजस्वला।[9]

जीवन और जगत् की गतिमयता और आनन्त्य की अनुभूति इस उपन्यास में अनाहत नाद की भाँति गूँजती है। उसकी प्रतिध्वनि के लिए कवि केशव ने बिम्बो की अनूठी लड़ियाँ स्थान-स्थान पर पिरोई हैं–

नदी झरीयति। झरी च नदी भवति। स्रोतस्तु यथा तथा। उपचये श्रीमती सहस्रधारा। अपचयेऽपि तथैव श्रीधारा। वहने क्षालनप्लावनयोः अद्वैतप्रतीतिः। परं नदीयं तु कदाचित् प्लावनयोः अद्वैतप्रतीतिः। परं नदीयं न कदाचित् प्लावयति। केवलं क्षालयति पावयति। इयं हि चेतना नदी।[10]

"मधुयानम्" बौद्ध युग की पृष्ठभूमि में हीनयान और महायान इन दोनों के अतिरिक्त **"तृतीयः पन्थाः"** खोलता है, यही ***"मधुयान"*** है। रूढ धर्म का त्याग तथा मनुष्यता का वरण उपन्यासकार को अभिप्रेत है। नीलाञ्जना और शीलभद्र परस्पर अनुरक्त हैं। धर्म के जड़ रूप का प्रतीक जैनाचार्य साम्प्रतिम उनके प्रेम में बाधक है। स्त्री और पुरुष की एक-दूसरे की खोज को मानव-अस्तित्व के प्रश्नों से जोड़ते हुए केशव ने यहाँ प्रस्तुत किया है। नीलाञ्जना तथा शीलप्रज्ञ श्रावक धर्म स्वीकार कर लेते हैं, उसी के कारण बिछुड़ते हैं, संन्यासिनी नीलाञ्जना को बहुत समय बाद सामने पाकर भी शीलभद्र उसे पुरुष समझकर पहचान नहीं पाता है, नीलाञ्जना संन्यास के कारण मिली कुरूपता से खिन्न अपने आपको और भी कठोर तपश्चर्या में खपाने लगती है, और शीलभद्र के फिर पहचानने और प्रणय याचना करने पर उसे ठुकराती है। शीलभद्र नया आश्रम रचाता है, जिसमें मनुष्य का अस्तित्व सबसे पहले बचाया जा सके। नये मुनि की ओर लोग खिंचे आते हैं, उन्हीं में नीलाञ्जना भी नये आश्रम की ओर चल रही है, पर मार्ग में रोग और थकान से टूटकर वह प्राण छोड़ देती है।

नीलाञ्जना का ऊहापोह और तीसरे पथ की खोज इस उपन्यास की अन्तर्वस्तु है। संसार और निर्वाण में कार्यकारण भाव सम्बन्ध है। उपन्यासकार इस सम्बन्ध की सत्कार्यवाद और सत्कारणवाद के द्वारा व्याख्या करना चाहता है, संसार में ही निर्वाण मिलेगा और निर्वाण में संसार भी रहेगा।

---

9. ऋतम्, पृ. 68
10. वही, पृ. 59-60

"अञ्जलिः" (1990) आधुनिक भारतीय मध्यवित्त परिवार की कथा है। परिवार के स्वप्न, टूटन, विघटन, आशा, आकाङ्क्षायें और अतृप्तियाँ सब यहाँ हैं। नायिका मिली का विवाह उसके पिता अपने शिष्य विमल से कर देते हैं। विवाह के समय विमल बेरोजगार है, मिली नौकरी में है। बाद में मिली के वेतन का टेका पाकर विमल नौकरी भी पा जाता है, पर स्थानान्तर, भ्रष्टाचार और अधिकारियों के द्वारा अपने शोषण से त्रस्त हो जाता है। मिली अपने बच्चों-लिटी और मिठु– को भी सँभालती है और नौकरी भी करती है। विमल को कदाचार के झूठे आरोप में फँसा दिया जाता है। अन्त में जिस कालिन्दी को लेकर मिली और विमल के दाम्पत्य में विष घुल गया था और लोग ताने कसते थे, देवी के रूप में आकर वही पाँच हज़ार रुपये देकर विमल को सङ्कट से उबारती है। पारिवारिक जीवन के विकट सङ्कट, मर्मान्तक पीड़ा, प्रवञ्चना और विडम्बना तथा अन्त में आनन्द के तार जुड़ने की महागाथा इस लघुकाय उपन्यास में विन्यस्त है। विमल अन्त में नौकरी को लात मारकर मिली के पास लौट आता है। पर नौकरी से त्यागपत्र क्या समस्या से पलायन नहीं है ?

अपने भावोच्छ्वास तथा आवेग में केशव चन्द्र की कथा-कृतियाँ शरच्चन्द्र के उपन्यासों का स्मरण कराती हैं, पर अपनी दुरूह प्रतीकात्मक संक्षिप्तता, भौतिक यथार्थ की प्रामाणिकता की कमी तथा दार्शनिक चिन्तन की गहनता के कारण उनसे सर्वथा अलग भी हो जाती है। असंस्कृत पदावली केशव की कहानियाँ उपन्यासों या कविताओं में बार-बार आती है। जैसे *"ध्यानस्य परिवेशः", 'स्वप्नालुवातावरणम्'*[11], *'ताम्रपर्णी वनानी'*[12], *'सम्मानास्पदानामर्चनाथं तत्पराः'*[13], *'इयमञ्जलिरेका अस्पष्टा भावोक्तिः'*[14] इत्यादि।

"शिखा" (1994) उपन्यास में परम्परा तथा आधुनिकता का द्वन्द्व अन्तर्वस्तु है। आधुनिकता के नाम पर बढ़ती हुई भोगलिप्सा और सङ्ग्रह-वृत्ति का उपन्यासकार ने विरोध किया है। उपन्यास में सात प्रमुख चरित्र हैं– प्राचीन परम्परा और नैतिक मूल्यों तथा मर्यादा का समर्थक कुलमणि, उसका विलासी पुत्र विलास, उसी की विधवा पुत्री रजनी तथा उसी का स्नेही सेवक मर्मु, इनके साथ है अर्थपिशाच निशान्त और उसकी मत्तयौवना पत्नी शम्पा और देह व्यापार करने वाली रोजा। संस्खलन के सन्दर्भ में संस्कार और मर्यादा के अङ्गीकार की अपेक्षा का यहाँ तीव्र बोध होता है। *"शशिरेखा"* (1994) उपन्यास की अन्तर्वस्तु अङ्हकार है। प्रत्येक पात्र अपने-अपने अहम् को पोस रहा है, जिसके कारण द्वन्द्व और वैषम्य बढ़ रहा है।

केशव के उपन्यास मानव हृदय के हाहाकार और मनुष्यता के करुणक्रन्दन की कोमल प्रतिध्वनियाँ हैं। अपनी मुग्धता और मसृणता में वे अद्वितीय हैं, पर हमारे जीवन और जगत् के ठोस बेलौस यथार्थ से कटे हुए हैं। केशव अपने पात्रों के भाव जगत् और उनके अस्तित्व के सङ्कट बोध में इस तरह आकुल-व्याकुल होकर रम जाते हैं कि वास्तविकता उनसे छूट जाती है। *"मधुयानम्"* में वे यह नहीं बताते कि शीलभद्र द्वारा स्थापित नया आश्रम है क्या, उसमें कौन सी

---

11. मधुयानम्, पृ. 18
12. वही, पृ. 82
13. वही, पृ. 87
14. अञ्जलिः, पृ. 65

ऐसी जीवनचर्या या पद्धति है, जिसके कारण बौद्ध और जैन दोनों धर्मों के अनुयायी अपने धर्म को छोड़कर वहाँ चले आते हैं। यदि यह वैदिक जीवन पद्धति का नवान्तरण है तो इसे भी विश्वसनीय रूप में कहीं चित्रित नहीं किया गया है। भौतिक जगत् के विवरण तो केशव के उपन्यासों में रेखाओं के उस खाके की तरह ही आये हैं, जिसे पात्रों की भीतर की रंग-बिरंगी दुनिया का चित्र बनाकर आच्छादित कर दिया जाय पर रेखाएँ धुँधली और रंग कुछ अधिक ही चटख होकर उनके बाहर बिखरने लगे तो यह चित्रकार का प्रमाद कहा जायेगा। केशव जैसा कथाकार ऐसे चित्रकार की तरह कहीं-कहीं चूकता है। *अञ्जलिः* में विमल गार्हस्थ्य के माधुर्य को पाने के लिए नौकरी त्याग कर मिली के पास आ जाता है, पर स्वयं बेरोजगार रहकर नौकरपेशा पत्नी के साथ उसका जीवन अब कैसा होगा इस प्रश्न से बचकर उपन्यास को यहीं समाप्त कर दिया गया है। अतः प्रश्न उठता है कि क्या केशवचन्द्र पलायनवादी हैं ?

भाषा की अद्भुत कारीगरी केशव के गद्य में है। वृत्तगन्धि और चूर्ण गद्य के उनके नमूने बाणभट्ट का क्षणिक स्मरण कराकर भी अपना वैभव अलग ही खोलते हैं। वे पात्रों की उधेड़बुन अपनी बनावट में समेट लेते हैं, या उनके चेतना प्रवाह में आवर्त-बुदबुद्-तरंग-संकुल हो जाते हैं। *"मधुयानम्"* का एक प्रघट्टक देखें।

"अर्धशेषमार्गेऽस्मिन् उभौ संचरतः। श्रेष्ठिपरिपाटीषु शोभते शीलप्रज्ञः। नीलाञ्जनां निकटे लब्ध्वा आत्मानं
बहुमन्यते। सर्वदा मधुवाता ऋतायते। मधु क्षरति दिवसः। मधु सिञ्चति रजनी। मधु सञ्चिनोति साान्ध्योऽयं समयः। नीलाञ्जना अस्ति। सः अस्ति। मार्गः अस्ति। संसारः वर्तते। मधु विन्दते। सः अधुना नास्ति। भविष्ये वर्तते। भविष्ये नास्ति अतीते वर्तते। सः अस्ति। सोऽपि नास्ति। नीलाञ्जना अस्ति। नीलाञ्जना अपि नास्ति। इत्थं तस्य मानसे भावनाः उत्तरङ्गाः। अयमेव मार्गः स्यात्।
तस्य गृहमत्र भूयात्। स च गृहस्थो भूयात्। नीलाञ्जना तस्य भार्या भूयात्। सर्व विद्येत"।[15]

औपन्यासिक विस्तार को भाषा की दक्षता में ही समेट लिया गया है। अतः केशव के उपन्यास में स्थूल विवरण प्रायः नहीं है। बिम्बों की सघन बुनाई में भावों का विश्व आलोडन-विलोडन करता प्रतीत होता है। जैसे–

'दहनं साधारणीकृत्य रात्रिः तया व्यतीता। विषयो विमृष्टः। विवादो विचारितः। समाधानम् अन्विष्टम्।
आत्मा अवबुद्धः। उपायः चिन्तितः। परं कालधारे सर्वमद्य शिथिलम्। सर्वं च विफलम्। बहु अवसानम्।
अनेकं च अवसन्नम्। अद्यत्वे तथापि तस्याः पादकदम्बे चपलता
आपेक्षिकी। वचनविन्यासे स्नेहलीला मौखिकी। उत्तीर्ण– वयसि अपि पूर्वरङ्गों न लघीयान्। विभवो न कनीयान्।

---

15. मधुयंानम्, पृ. 21

अनुभवो न ज्यायान् प्रेयसी पुनश्च प्रतीक्षा। परं निवेदनस्य समयः तिरोहितः। अभिमाने विषयो विषाक्तः।'[16]

उक्त सभी उपन्यास छोटे आकार के हैं, पर उन्हें पढ़ते हुए महाकाव्यात्मक विस्तार का अनुभव होता है। यह केशव का प्रभाव है। इसमें बहुत कुछ अनकहा भी छोड़ दिया जाता है। एक विशिष्ट भाषा और तज्जन्य दीप्ति के द्वारा केशव अपने उपन्यासों में अलग पर्यावरण रचते हैं। औदात्य और मूल्यबोध निरन्तर स्थायी स्वर की तरह उनके सारे उपन्यासों में झङ्कृत है। *"निकषा"* में वातावरण एक मन्दिर का है। (मन्दिर शब्द इस उपन्यास में देवालय के अर्थ में प्रयुक्त है– यह आधुनिक भाषाओं में संस्कृत शब्दों के अर्थान्तर का प्रभाव है।) जीर्ण और भग्न शब्दों का इस पूरे उपन्यास में बार-बार अलग-अलग अभिप्रायों के साथ प्रयोग है। *"मधुयानम्"* बौद्धयुगीन पर्यावरण की झलक देता है। *"विसर्गः"* तथा *"शिखा"* उपन्यासों में ग्राम का वातावरण है। प्रत्येक उपन्यास में एक केन्द्रीय भाव की आद्यन्त अन्विति है। ये सारे केन्द्रीय भाव कवि केशव के महाभाव में समन्वित हैं। अस्तित्ववादी अर्थ में प्रतीक्षा का भाव इन उपन्यासों में व्याप्त है, पर वे उसी में पर्यवसित होकर नहीं रह जाती है। वेदना और करुण का सनातन भाव उसे भारतीय भूमि पर स्थापित करता है।

उपन्यासों की अपेक्षा केशव की लघु कथायें अधिक मर्म छूने वाली हैं। अनेक कहानियों में गहरी प्रतीकात्मकता है। चाहे कविता हो या उपन्यास या कहानी या बाल साहित्य– सर्वत्र एक जैसी शैली केशव चन्द्र दास में मिलती है। इस शैली में अभिधा की स्थिति सर्वथा नगण्य है। वह कृच्छ्र शब्द साधना से अर्जित है। ऐसी शैली का निरन्तर तीस से अधिक पुस्तकों में निर्वाह आचार्य वामन द्वारा निरूपित समता नामक गुण का दुर्लभ उदाहरण कहा जा सकता है और यह दोष भी है। केशव के सारे कविता सङ्ग्रहों, उपन्यासों और कहानीसङ्ग्रहों को मिलाकर एक महावाक्य बनता है, जो अभी अपूर्ण है, जो कृतियाँ उनकी भविष्य में गर्भित हैं, वे भी इस महावाक्य में जुड़ेगीं।

लीक को छोड़कर अपने ढङ्ग से अलग ही राह पकड़ने वाले नये कवियों में हर्षदेव माधव सर्वाधिक अपारम्परिक कवि है। प्राचीन कवि परम्परा से इनका दूर–दूर तक कहीं कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। कालजयी संस्कृत काव्यों का इनका अध्ययन भी असमग्र है और भाषा अटपटी तथा प्रचलित मुहावरे से हटकर है। गहरी प्रतीकात्मकता, विक्षोभ या विरोध तथा अतियथार्थवाद माधव के काव्य की विशेषतायें हैं। अभी तक इनके निम्नलिखित सात काव्यसङ्कलन प्रकाशित हुए हैं– (1) ***रथ्यासु जम्बुवर्णानां शिराणाम्*** (2) ***अलकनन्दा*** (1990), (3) ***शब्दानां निर्मक्षिकेषुध्वंसावशेषेषु*** (1993), (4) ***मृगया*** (1994) (5) ***लावारसदिग्धाः स्वप्नमयाः पर्वताः*** (1996), (6) ***बृहन्नला*** (1995), (7) ***आसीच्च मे मनसि*** (1996)

अभारतीय प्रतीकों और सन्दर्भों की भरमार माधव की कविता में पारम्परिक संस्कृत पाठक के लिए पग-पग पर रोड़े अटकाती है। वह आधुनिक प्रौद्योगिकी वह विज्ञान से या योरोप के जीवन या समाज से सन्दर्भ लेकर संस्कृत कविता के लिए सर्वथा अछूता अप्रस्तुत विधान प्रस्तुत करते हैं, जो संस्कृत कविता के लिए विजातीय हो सकता है, पर आधुनिक भारतीय भाषाओं में इस कविता का अनुवाद किया जाय, तो वहाँ वह परिचित लग सकता है।

---

16. अञ्जलिः, पृ. 46

अलकनन्दे ! कुत्र त्वमसि ?
मम रेडियोतरङ्गदीर्घतायाः
प्रत्युत्तरो नास्ति
प्रेम्णो गणकयन्त्रे
किं ते मनोऽस्ति
एण्टीमैटर (अवस्तु) – निर्मितम् ?[17]

अलकनन्दा ! तुम कहाँ हो ?
मेरी रेडियोतरङ्गदीर्घता का
प्रत्युत्तर नहीं है
प्रेम के कम्प्यूटर में
क्या तुम्हारा मन
एटी मैटर से बना है ?

रूमानियादेशे
चर्चप्रार्थनाकक्षे
लेटिनरूमानियनमन्त्रोच्चारणेन
पापानां स्वीकारं कुर्याम् ?
बुखारेष्टे वा
कांस्टण्टिन ब्रार्कुसीशिल्पिनः शिल्पे
पश्येयं तव रूपम् ?[18]

इस तरह के ढेरों स्थल माधव के काव्य में हैं, जहाँ यह शङ्का होती है कि योरोप की यह दुनिया क्या सचमुच कवि के संवेदन का हिस्सा है, या वह इतिहास–भूगोल की किताबों से निकालकर संस्कृत कविता पर बलात् आरोपित की गयी है। पर इस आरोपित विश्व को भी माधव इस एक संलग्नता के साथ अपने काव्य जगत् का हिस्सा बनाते गये हैं, जिससे उनकी कविता संस्कृत में अपना एक अलग यथार्थ खड़ा करती है। यह सही है कि इस कविता के लिए संस्कृत पाठक को अपने को तैयार करना पड़ेगा। माधव–काव्य की भावाभिव्यक्ति को आयातित संवेदना कहकर खारिज नहीं किया जा सकता है। वह सौन्दर्यबोध और भाषिक रचना के नये वातायन खोलती है।

यह संवेदना जटिल तथा सम्मिश्र अनुभवों से उपजी है, ये अनुभव पुस्तकीय प्रतीत हो सकते हैं, इतिहास और भूगोल के ग्रन्थों, अपने समय की समझ और अपने समय के इतर भाषाओं के साहित्य की छायायें– ये मिलकर विचित्र विच्छित्ति उनके काव्य को देती हैं, जिसमें सूझबूझ और वक्रोक्ति के साथ भाववैषम्य और भावशबलताओं का सङ्गम है–

17. अलकनन्दा, पृ. 18
18. वही, पृ. 32

अलकनन्दे !
मयि स्पन्दते
विषुवियसलावारसः
त्वयि
वेनिसनगरजलम्।

विषुवियस ज्वालामुखी की विकरालता और वेनिस नगरी के सौन्दर्य की छवि उस पाठक के मन में भी बन सकती है, जिसे इनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है।

कविता का विश्व असीम है। यदि अन्धे होकर सूरदास जैसे कवि भावों की विविधवर्णी छवियाँ उकेर सकते हैं, तो माधव अनदेखे अनजाने टापुओं और रहस्यमय देशों में कविता के द्वारा सैर करें– इसमे क्या अचरज ?

ऐसा नहीं है कि प्राचीन संस्कृत कविता से माधव ने प्रतीक और सन्दर्भ न लिये हों। **"मम घोषवती वीणा"**[19], **शिरीषशाखायाम्**[20], **षोडश सहस्रचीत्काराणां मध्ये**[21] आदि में पारम्परिक काव्य के प्रतीक भी हैं।

वस्तुतः माधव की कविता अनुभवों, बिम्बों और प्रतीकों का विराट् संसार उपस्थित करती है। उनका प्रत्येक एकबिम्बीय काव्य भास्वर मणि की तरह अनेक उपबिम्ब समेटकर अपना आभालोक रचता है। इसमें लोकजीवन, योरोपीय मन, भारतीय प्रज्ञा सभी के अनुभव अपनी पापस्परिकता में सङ्कुल और सङ्कीर्ण हो जाते हैं। पाँव और हाथ पर उनकी कविताओं के अंश उद्धृत हैं–

स्वच्छायाशकटं कर्षतः
पदबलीवर्दौ
घटिकायन्त्रकण्टकौ भूत्वा
चलतः मम चरणौ।[22]

तथा– थुवरसदृशौ हस्तौ स्तः
मम शरीरस्य
ऊषरभुवि
अयं हस्तोऽस्ति अग्निः
हस्ताय स्वाहा

अपनी छाया को बैलगाड़ी और पैरों को उसमें जुते बैल कहकर कवि ने देह और अवचेतन के सम्बन्धों को नये रूप में उजागर किया है। फिर इन्हीं पैरों को घड़ी के काँटे से उपमा देकर वह देह और काल के सम्बन्ध को इङ्गित करता है। हाथ को नागफनी और देह को धरती से

19. अलकनन्दा, पृ. 42
20. वही, पृ. 30
21. मृगया, पृ. 22
22. मृगया, पृ. 40

उपमित करके फिर मनुष्य के व्यक्तित्व का एक अलग चित्र रचा गया है और अन्त में हाथ वह अग्नि हो जाते हैं, जिसमें कवि आहुति देना चाहता है।

अन्तर्जगत् में हो रहे आलोडन–विलोडन को बाहर की दुनिया में हो रही उथल–पुथल के सन्दर्भ में माधव परखते हैं, या बाहर की दुनिया को अपने अन्तर्लोक के सन्दर्भ में परिभाषित करते हैं। लातूर के भूकम्प पर उनकी कविता इस पारस्परिकता का अच्छा उदाहरण हैं–

ततः पश्चात्/मम हृदयेऽपि/विवराणि सञ्जातानि/
मम धैर्यशृङ्गाण्यपि/मृत्तिकागर्भे निमग्नानि/मम मनोऽपि
खण्डशो भूत्वा नष्टम्/मम संवेदना नदी/पातालं गता/
मनोरथा ध्वंसावशेषतां प्राप्ताः/मम प्रणयोऽपि/
अधुनातन–निर्जीवमानवता–भारतले/सञ्चलनरहितो जातः/
पृथ्वी/स्वकम्पं प्रकटयितुं शक्तास्ति/किन्तु/
मदस्तित्वतले यद् यद् भवति/तत् तत् कथम्......?[23]

अछूती संवेदना और दुर्लभ भावाभिव्यक्ति, विषय वर्तमान की विसङ्गति और सङ्कट के बोध तथा करुणा की अन्तःसलिला सरस्वती के लिए माधव की कवितायें संस्कृत काव्य-परम्परा की निधि बनती हैं। वे ही हैं जो महानगरों के सन्त्रास और अणुबमों से झुलसती धरती को संस्कृत काव्य में उतारते हैं तथा उस पर करुणा की छाया भी करने का जतन करते हैं।

सूरदासरूपेण
इदं नगरं
स्खलितपदं भ्रमति।
बुद्धस्य भिक्षापात्रे
निमज्जितम्
अणुबॉम्बदग्धं नगरम्।[24]

माधव संस्कृत कवियों में सर्वाधिक प्रयोगशील भी कहे जा सकते हैं। उन्होंने बंगाल के बाउल गीतों को मुक्त छन्द के संस्कृत काव्य में उतारते हुये, शिजो, तांका और हाइकू जैसी विदेशी विधाओं में विपुल काव्य रचा है, ग़ज़ल और लोकगीतों की भूमि पर भी पद रखे हैं। उनकी कुछ कवितायें ग्राफों, मानचित्रों या चित्राकृतियों तक में लिखी गयी हैं, जो संस्कृत की चित्रकाव्य परम्परा का आधुनिक भावबोध के साथ नवावतार है।

महाकाव्य इस शताब्दी के अन्तिम दशक तक संस्कृत में बड़ी सङ्ख्या में लिखे जा रहे हैं और प्रकाशित हो रहे हैं। इनमें से कुछ महाकाव्य अवश्य काव्यात्मक सौन्दर्य या वस्तुवैचित्र्य के कारण पठनीय हैं। राजेन्द्र मिश्र ने *"जानकीजीवनम्"* (1988) में सीता के चरित्र को नारीत्व की अपनी अवधारणा के अनुरूप तन्मयी भाव के साथ रचा है, लोकजीवन की झाकियाँ भी इसमें संजोयी

---

23. अलकनन्दा, पृ. 74
24. अलकनन्दा, पृ. 66

है। रेवाप्रसाद द्विवेदी इसके पूर्व *"सीताचरितम्"* (1968) में सीता के चरित्र की राष्ट्रवादी व्याख्या प्रस्तुत कर चुके थे। इन्हीं का *"स्वातन्त्र्यसम्भवम्"* (1990) महाकाव्य पण्डित क्षमाराव तथा स्वामी भगवदाचार्य की भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम पर आधारित महाकाव्यत्रयी के आगे की कड़ी है। हरिनारायण दीक्षित ने तो *"भीष्मचरितम्"* (1991) में भीष्म के चरित्र की आज के समाजशास्त्र के अनुरूप व्याख्या प्रस्तुत कर डाली है। यहाँ गंगा एक स्त्री है। वह शान्तनु को छोड़कर दिवङ्गत हो जाती है। विधुर शान्तनु की अकेलेपन की पीड़ा तथा आदर्श प्रवण भीष्म के राष्ट्रवादी चिन्तन के द्वारा सारे मिथक का यहाँ आधुनिकीकरण कर दिया गया है।

नाटक भी निरन्तर विविध विषयों तथा विविध कोटियों के संस्कृत में लिखे जा रहे हैं। रङ्गमञ्च पर खेले जाने की सम्भावनायें क्षीण होने से इनमें साहित्यकता अधिक रहती है, तथापि रमा चौधरी, राजेन्द्र मिश्र, राधावल्लभ, विन्ध्येश्वरी प्रसाद मिश्र आदि के नाटक अनेक बार खेले गये हैं। राजेन्द्र मिश्र ने *"चतुष्पथीयम्"* शीर्षक एकाङ्की सङ्कलन में नुक्कड़ नाटक का रुचिकर रूप प्रस्तुत किया है। इस सङ्कलन का पहला नाटक मदारी और जमूरे के संवाद के रूप में संस्कृत को लोकभाषा की सहजता से जोड़ता है। राजनीतिक छीटाकशी इनके नाटकों में खूब है। राधावल्लभ का *"धीवरशाकुन्तलम्"* प्रेक्षणक शाकुन्तल के मछुवारे को नायक बनाकर उसकी भी नायिका को प्रस्तुत करता है। इन्हीं के *"मेघसंदेशम्"* में एक बच्चा बादल को पत्र भेजता है। पर्यावरण के प्रति लेखक की चिन्ता तथा निसर्ग से तल्लीनता की अभिव्यक्ति और मञ्चीयता के कारण यह भी उल्लेख्य कृति हैं। *"सोमप्रभम्"* माँ–बेटी के कोमल रागात्मक सम्बन्धों की मार्मिक अनुभूति के साथ वधू दहन की समस्या का ज्वलन्त चित्र है। राधावल्लभ के ये प्रेक्षणक कोटि के एंकाकी *"प्रेक्षणकसप्तकम्"* (1996) में संकलित है।

संस्कृत साहित्य में दूतकाव्य एक निराली विधा है। आधुनिक पात्रों और नये वातावरण के चित्रण के साथ दूतकाव्य अभी भी लगातार लिखे जा रहे हैं। इच्छाराम द्विवेदी ने *"मित्रदूतम्"* (1992) तथा *"दूतप्रतिवचनम्"* (1989) में आधुनिक भारतीय समाज को इस पारम्परिक विधा में ला खड़ा किया है। रामचन्द्र शाण्डिल्य का *"कामदूतम्"* (1988) रेलयात्रा के वर्णन के साथ रिपोर्ताज, व्यंग्य और परिहास की शैली का रोचक सम्मिश्रण बन गया है।

दयानन्द : एक पुनर्विश्लेषण

डॉ. हर्ष नारायण

अध्याय – 1

विचार बदलते रहे

दयानन्द एक प्रायः उपेक्षित शलाका पुरुष का नाम है। उन्होंने सब कुछ हिन्दी और संस्कृत के माध्यम से दिया था और उनके अनुयायियों में भी अंग्रेजी में अथवा हिन्दी में भी अथवा हिन्दी में भी लिखने वाली किसी प्रथम श्रेणी की प्रतिभा का उदय नहीं हुआ, जिसके फलस्वरूप उन्हें वह प्रसिद्धि नहीं प्राप्त हुई जिसके वे अधिकारी हैं। उनके अनुयायी 'महर्षि' 'महर्षि' की उबाऊ रट लगा उनके प्रति प्रयुक्त ऐसे विरुदों के विरूद्ध दी हुई चेतावनी की उपेक्षा करते ही हैं, गुरूडम का प्रचार कर उनका मिशन मिट्टी में मिला देते हैं।

उनकी कोई अच्छी जीवनी भी तो तैयार नहीं हो सकी। उनकी जीवनी के नाम पर जो कुछ प्रमुख रूप से प्रकाश में आया है वह इस प्रकार है :–

1. उनकी ***आत्मकथा*** जो मात्र दस-बारह पृष्ठों में समाप्त हो जाती है और उनके अत्यारम्भिक जीवन से सम्बन्ध रखती है।
2. ***दयानन्द-दिग्विजयार्क***, जो स्वामी जी के जीवनकाल में ही लिखी गयी थी।
3. देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय द्वारा बंगला में संगृहीत और दो भागों में प्रकाशित ***"दयानन्द–चरित"*** (1894)
4. लेखाराम द्वारा सङ्गृहीत और मास्टर आत्माराम अमृतसरी द्वारा सम्पादित ***महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र यानी सबानेह उमरी*** (लाहौर, 1897)
5. लक्ष्मण कृत 1200 पृष्ठ का उर्दू जीवन चरित, ***"मुकम्मल जीवन चरित्र महर्षि दयानन्द"***।
6. बाबा छज्जू सिंह, ***"लाइफ एण्ड टीचिंग्स आफ स्वामी दयानन्द सरस्वती"*** (लाहौर, 1903)
7. देवेन्द्र नाथ मुखोपाध्याय द्वारा बंगला में संगृहीत सामग्री के आधार पर घासीराम द्वारा लिखित ***"महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र"***, 2 भाग (1933)
8. हरविलास सारदा कृत *आर्य धर्मेन्द्र जीवन* और ***"लाइफ़ आफ दयानन्द सरस्वती"*** (1946)

9. सत्यानन्द कृत *दयानन्द प्रकाश*।

10. भवानीलाल भारतीय कृत *"नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती"* (1983)

11. सत्यकेतु विद्यालंकार और हरिदत्त वेदालंकार आदि कृत *"आर्य समाज का इतिहास"*, प्रथम भाग

12. जे. टी. एफ. जार्डेन कृत **"Dayānanda Saraswatī — His Life and Ideas"** (1978)

इनमें से कोई भी जीवनी दयानन्द के अनुरूप नहीं बन सकी है। उनमें समालोचना-दृष्टि का सर्वथा अभाव है। "स्वामी जी ने उन्हें विष मिलाने वाले जगन्नाथ को रुपयों की थैली प्रदान कर भगा दिया और इस प्रकार अपनी अद्भुत क्षमाशीलता का परिचय दिया", इसका डिण्डिम घोष करने वाले जीवनीकार भूल जाते हैं कि यह घटना स्वामी जी के सिद्धान्त और स्वभाव के ठीक विपरीत पड़ने से झूठी है। वे जानना नहीं चाहते कि स्वामी जी एक ठीक ऐसी ही विषदान की घटना के सम्बन्ध में अपने पत्र दिनांकित चैत्र दि. 5 बुधवार, संवत् 1939 वि., में लिखते हैं, "यदि बद्री ब्राह्मण का विष देने का कर्म प्रसिद्ध हो गया है तो उसको जेलखाने में भेज दिया या नहीं। ठीक सबूती हो तो उसको अवश्य जेलखाने में भिजवा देना चाहिए, जिससे दूसरा कोई ब्राह्मण ऐसे काम करने की इच्छा न करे।"[1] वस्तुतः स्वामी जी का सिद्धान्त ही था कि पाप को ईश्वर भी क्षमा नहीं कर सकता। इन जीवनियों की सबसे बड़ी कमी यह है कि ये दयानन्द के विचारों के विकास का सम्यक् सर्वेक्षण नहीं करती हैं। काशी शास्त्रार्थ वाले दयानन्द सत्यार्थप्रकाश, द्वितीय संस्करण (1884) वाले दयानन्द से कितने भिन्न हैं इसका ठीक-ठीक अनुमान इन जीवनीकारों को शायद ही रहा हो। केवल उक्त अन्तिम जीवनीकारद्वय किसी सीमा तक अपवाद माने जा सकते हैं।

प्रचलित प्रवाद के अनुसार शिवलिंग पर चढ़ाये गये चावल आदि का चूहों द्वारा भक्षण देखकर स्वामी दयानन्द ने बाल्यावस्था में ही मूर्ति पूजा का त्याग कर दिया था, किन्तु हम देखते हैं कि वे विरजानन्द से शिक्षा प्राप्त कर चुकने के कुछ काल बाद तक मूर्तिपूजक बने रहे। कहते हैं कि उन्होंने उस काल में जयपुर में वैष्णव धर्म का खण्डन और शैव धर्म का मण्डन किया था और सहस्रों रुद्राक्ष-मालायें बाँटी थीं। वहाँ इनका इतना प्रभाव पड़ा कि लोगों ने अपने हाथियों और घोड़ों तक को रुद्राक्ष की मालायें पहनायी थीं। वस्तुतः विरजानन्द स्वयं मूर्तिपूजक थे। वे नीलकण्ठ और रंगनाथ महादेव के मन्दिरों में भी दर्शनार्थ जाया करते थे और दुर्गासप्तशती का पाठ करते थे। स्वामी दयानन्द के सहपाठी अङ्गद शास्त्री ने स्वामी जी को इसका स्मरण दिलाया था।

देवपूजक तो वे कम से कम काशी शास्त्रार्थ के समय तक बने रहे। तब वे स्वर्गलोक, उसमें देवताओं की सत्ता और उसकी लोक में उपासना की आवश्यकता सब कुछ मानते थे। एतत्सम्बन्धी मान्यताओं में उनके संमक्ष उनके प्रधान प्रतिपक्षी स्वामी विशुद्धानन्द ही लड़खड़ाते दिखायी देते हैं। उस शास्त्रार्थ काल में दयानन्द ने कहा था कि वेद में केवल एक स्थान पर "देवप्रतिमा" शब्द प्राप्त होता है और जोड़ा कि वह स्वर्गलोक-सम्बन्धी है– **देवप्रतिमा हसन्ति, रुदन्ति** इत्यादि। विशुद्धानन्द के किञ्चित् शिविर विपत्ति अथवा संशय प्रकट करने पर दयानन्द ने पूछा था, **'स्वर्गे देवताः सन्ति न वा ?'** विशुद्धानन्द ने कहा, **"मन्त्रमयी देवता"**, अर्थात् देवता विग्रहवान् न होकर मन्त्र रूप हैं। तब दयानन्द ने प्रश्न किया, **"कथमुपासना ?"** अर्थात् फिर उनकी

1. युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन 2, चतुर्थ भाग, पृ. 651

उपासना कैसे होती है। विशुद्धानन्द का उत्तर ा, **"प्रतीकोपासना"**। इस पर सभाध्यक्ष काशीराज की भृकुटि टेढ़ी हो गयी, **"महाराज–भ्रूकुञ्चनम्"**।

आगे चलकर स्वामी जी ने देवपूजा, मूर्तिपूजा, जड़पूजा का धुआँधार खण्डन आरम्भ किया, तथापि वह वर्तमान ***"संस्कार-विधि"*** में एक विचित्र व्यवस्था देते हैं.........जिस तिथि और जिस नक्षत्र में बालक का जन्म हुआ हो, उस तिथि और उस नक्षत्र के देवता के नाम से 4 बार आहुति देनी चाहिए। अर्थात् एक तिथि, दूसरी विधि के देवता, तीसरी नक्षत्र, और चौथी नक्षत्र के देवता के नाम से। अर्थात् तिथि, नक्षत्र और उनके देवताओं के नाम के अन्त में चतुर्थी विभक्ति का रूप और स्वाहान्त बोल करके 4 बार घी की आहुति देवें।[2] इसके अतिरिक्त, उसी ग्रन्थ में शास्त्रों के हवाले से औषधि, क्षुरे, कुल्हाड़ी (स्वधिति) की भी नमस्क्रिया, स्तुति और प्रार्थना की गयी है। जैसे **'ओम् ओषधे ! त्रायस्वैनम्'** (हे ओषधि, इसका त्राण करो), **"ओ विष्णो दंष्ट्रोऽसि"** (हे छुरे, तुम विष्णु की दाढ़ हो), **"ओ शिवो नामासि, स्वधितिः ते पिता, नमस्तेऽस्तु,** मा मा हिंसीः (तुम्हारा नाम शिव है", कुल्हाड़ी तेरा पिता है, तुम्हें नमस्कार है, मत मार, मत मार), "ओ स्वधिते ! मैनं **हिसीः** (हे कुल्हाड़ी इसे मत मार)। ये मन्त्र क्रमशः मन्त्र ब्राह्मण[3], यजुर्वेद[4], मन्त्रब्राह्मण / यजुर्वेद[5] से लिये गये हैं।

वस्तुतः 1867 में पाखण्डखण्डिनी पताका फहराने के समय स्वामी जी "देवीभागवतपुराण" को व्यासकृत, शुद्ध और वेदानुकूल मानते थे, और इस पुराण में देवपूजा, मूर्तिपूजा, सब कुछ है ही। अतः तत्कालीन दयानन्द भी परवर्ती दयानन्द से एक बड़ी सीमा तक भिन्न प्रतीत होते हैं।

इस काल में स्वामी जी ***"श्रीमद्भागवतपुराण"*** को जाल ग्रन्थ मानते थे। वस्तुतः उन्होंने ***"भागवतखण्डनम्"*** शीर्षक से एक पुस्तिका ही रच डाली थी, जिसमें ***"देवीभागवत"*** का मण्डन और ***"श्रीमद्भागवत"*** का खण्डन किया गया है।

किन्तु स्वामी जी ने 1869 में सभी पुराणों को गप्प घोषित कर दिया था।

स्वामी जी ने 20 जुलाई, 1969 को प्रकाशित "विज्ञापनपत्रम्" में 21 शास्त्र प्रमाण माने थे, जिनकी तालिका नीचे दी जाती है :–

1 से 4 ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः और अथर्ववेदः। वे लिखते हैं कि इस वेदचतुष्टय में कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड पाये जाते हैं। सन्ध्यावन्दन और अवश्मेधादि कर्मकाण्ड हैं, अष्टांगयोग उपासनाकाण्ड है, और निष्कर्मादिः परब्रह्मसाक्षात्कारान्त ज्ञानकाण्ड है।

5 आयुर्वेदः के दो ग्रन्थ चरक और सुश्रुत।

6 धनुर्वेदः

7 गन्धर्ववेदः

---

2. संस्कारविधि, सं. युधिष्ठिर मीमांसक (बहालगढ़ : रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1974), पृ. 78
3. 1.6.5.; 1.6.4
4. 3.63; 1,6,4
5. 4.1

8 अथर्ववेदः

9 शिक्षा वेदस्था

10 कल्पः

11 व्याकरण के दो ग्रन्थ अष्टाध्यायी और व्याकरणमहाभाष्य

12 निरुक्त

13 छन्दः

14 ज्योतिष का ग्रन्थ भृगुसंहिता

15 ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कैवल्य ये बारह उपनिषद्–

16 ब्रह्मसूत्र

17 कात्यायन आदि के सूत्र

18 योगभाष्य

19 वाकोवाक्य नामक तर्क–ग्रन्थ

20 मनुस्मृति

21 महाभारत

इस सूची में ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम तक नहीं है, जिससे इस धारणा को बल मिलता है कि स्वामी जी उस काल में वेद को मन्त्रब्राह्मणात्मक मानते थे।

काशी शास्त्रार्थ इसके बाद मंगलवार 16 नवम्बर 1869 को हुआ था। उसमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि दयानन्द नें ब्राह्मण को ही नहीं कल्पसूत्र को भी स्पष्ट रूप से वेदत्वेन स्वीकार कर लिया था। वस्तुतः 21 ग्रन्थों की उक्त सूची उन्होंने काशी शास्त्रार्थ से कुछ ही दिन पहले बनारस संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल रुडाल्फ हार्नले को अपने हाथ से लिखकर दी थी।[6] सर्वप्रथम *"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका"* में ब्राह्मण को वेद से इतर माना गया है। अन्यथा *"संस्कारविधि"* के प्रथम प्रकरण में भी क्वचित् ब्राह्मण के लिए वेद शब्द का प्रयोग किया गया है तथा *"आर्याभिविनय"* के यजुर्मन्त्रों का आरम्भ **"सह नाववतु."** से किया गया है जो *"तैत्तिरीयारण्यक"* का मन्त्र है।

यह भी उल्लेखनीय है कि दयानन्द ने काशी में आर्य विद्यालय की स्थापना करके यह व्यवस्था की थी कि शूद्रों को वेदमन्त्र-भाग नहीं पढ़ाया जायेगा।

इस सम्बन्ध में जो विज्ञापन स्वामी जी ने "कविवचनसुधा" नामक पत्र में 20 जून 1874

6. द्रष्टव्य भगवद्दत्त–सम्पादित और युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा परिष्कृत–परवर्धित ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, प्रथम भाग (तृ. सं., बहालगढ़, रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1980), पृ. 6

को प्रकाशित कराया था वह इस प्रकार का : '– "इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब पढ़ेगें वेद पर्यन्त, और शूद्र मन्त्र भाग को छोड़कर सब शास्त्र पढ़ेंगे। हस्ताक्षर स्वामी दयानन्द सरस्वती।[7]

स्वामी जी ने **"सद्धर्मविचार"** में इस प्रश्न– **"कस्य कस्याधिकारो वेदपाठेऽस्ति ?"** (किस-किस का अधिकार वेदपाठ में है)– के उत्तर में लिखा था– **त्रयाणां वर्णानां साधारणाधिकारोऽस्ति शूद्रस्योपवेदस्य च। व्याकरणपूर्वक एवं सर्वेषां, नान्यथा।**[8] अर्थात् तीन वर्णों का वेदपाठ में अधिकार है, किन्तु शूद्र का केवल उपवेद-पाठ में ही है। **"सत्यार्थप्रकाश"** के वर्तमान संस्करण में भी शूद्र के सन्दर्भ में स्वामी जी के मन में किञ्चित् द्विविधा प्रतीत होती है। वह सुश्रुत का वचन उद्धृत करते हुये अनुवाद करते हैं, "ब्राह्मण तीनों वर्ण– ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य, क्षत्रिय और वैश्य तथा वैश्य तथा वैश्य एक वैश्य वर्ण को यज्ञोपवीत कराके पढ़ा सकता है। और जो कुलीन शुभलक्षणयुक्त शूद्र हो तो उसको मन्त्र संहिता छोड़ कर सब शास्त्र पढ़ावें। शूद्र पढ़े परन्तु उसका उपनयन न करें। यह मत अनेक आचार्यों का है।"[9]

"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में दयानन्द परमाणुओं और प्रकृति को अनित्य मानते हुये प्रतीत होते हैं, जिन्हें ईश्वर ने **"स्वसामर्थ्यात्"** रचा है। यह इस्लाम की तद्विषयक मान्यता के अनुरूप है। वस्तुतः इसी रूप में आर्य समाज कें प्रथम नियम की भाषा इस प्रकार रखी गयी है– "सब सत्य विद्या और पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं। उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।" **"सत्यार्थप्रकाश"** में भी स्वामी जी ने त्रैतवाद, यह सिद्धान्त कि तीन पदार्थ नित्य हैं, से भिन्न मत प्रकट किया है।[10] उन्होंने लिखा है कि सामर्थ्य ही सृष्टि का उपादान कारण है, जो ईश्वर से भिन्न नहीं है किन्तु वही भी नहीं है। इस प्रकार ईश्वर को उपादान कारण मानते हुए सामर्थ्य को उसका गुण माना जा सकता है। अस्तु, यह मत भेदाभेदवाद से अभिन्न है।

वस्तुतः ***"सत्यार्थप्रकाश"*** के उक्त संस्करण, में यह भी सङ्केत है कि देवता और मनुष्य "शिल्पी मात्र हैं, किन्तु ईश्वर अभाव से भाव उत्पन्न करता है।[11] ***"आर्याभिविनय"*** की व्यवस्था में स्वामी जी ने लिखा है कि ईश्वर ही "सब जगत् का अधिष्ठान उपादान निमित्त और साधनादि है।[12] इसी प्रकार उसके द्वितीय प्रकाश के मन्त्र 44 की व्याख्या में उन्होंने लिखा है, "जीव ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए।" उसका द्वितीय संस्करण माघ 1940 वि. में छपा था, किन्तु स्वामी जी के देहावसान के कारण वह निकला बाद में था। उक्त संस्करण में स्वामी जी के उक्त मत संशोधित कर दिये गये थे। मीमांसक जी यह लिखते हैं कि यह किसी को पता नहीं कि उक्त संशोधन स्वामी जी ने किये या मुंशी समर्थदान ने। वस्तुतः मुंशी इन्द्रमणि ने स्वामी जी से सम्बन्ध-विच्छेद के बाद अनन्त **"तत्त्वप्रकाश"** शीर्षक से एक पुस्तक लिखी थी, "स्वामी दयानन्द सरस्वती के मत का कुछ ठिकाना नहीं है, कभी कुछ कहते हैं और कभी कुछ– अब से दस वर्ष पहले जीव को काल-परिछिन्न और उत्पत्ति वाला जानते थे, जबकि उनकी कौसल और मुरादाबाद में समझाया गया कि जीव की

---

7. सत्यकेतु विद्यालंकार, आर्य समाज का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 233
8. स्वामी दयानन्द, *सद्धर्मविचार, वेदवाणी,* दयानन्द विशेषांक (5) 40, 3 (जनवरी, 1988) पृ. 22
9. *सत्यार्थप्रकाश,* सं. युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ़ : रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1972 पृ. 67
10. *सत्यार्थप्रकाश* का प्रथम संस्करण (1874) पृष्ठ 257
11. प्रथम संस्करण (1933 वि.) मन्त्र 32
12. *सत्यार्थप्रकाश,* (प्रथम संस्करण), पृष्ठ 152 और 232

उत्पत्ति मानना वेद और उपनिषद् और सूत्रादि समस्त प्रामाणिक ग्रन्थों के विरुद्ध है....निदान, बहुत समझाने के उपरान्त स्वामी जी ने जीव को अनादि और अन्तरहित माना..... ।।''[13] स्वामी श्रद्धानन्द ने इस सम्बन्ध में सफाई देने का प्रयत्न किया है,[14] जो सन्तोषप्रद नहीं है। और तो और, मुंशी समर्थदान ने भी, जिन्हें स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में भाषा आदि सम्बन्धी संशोधन का पूरा अधिकार दे रखा था, स्वामी जी की एक बार इस प्रकार भर्त्सना की थी 'सो कृपा करके प्रथम विचार कर लिया करें तो उपकार विशेष हो।.......थोड़े-थोड़े काल में विचार का बदलना हानिकारक होता है।'[14]

स्वामी जी *"सत्यार्थप्रकाश"* के उक्त संस्करण में सृष्टि को (प्रवाह से) अनादि और अनन्त भी नहीं मानते थे। वे लिखते हैं कि अनेक सृष्टियाँ हो गयी हैं और आगे भी होंगी किन्तु एक आदि सृष्टि थी और एक "अत्यन्त–प्रलय" होगा।[16] यहाँ आदि सृष्टि अभाव से भाव का उदाहरण प्रतीत होती है और अत्यन्त प्रलय भाव से अभाव का।

और तो और, उन्होंने *"सत्यार्थप्रकाश"* के उक्त संस्करण में यह लिखा है कि "परमेश्वर ने जीव रचे हैं"[17] और अत्यन्त प्रलय में जीव और प्रकृति भी नहीं रह जायेंगे।[18]

हमारा अनुमान है कि स्वामी जी ने त्रैतवाद की स्पष्ट रूप से स्थापना 1877 ई. में चांदापुर के मेले में की थी। स्वामी जी के ग्रन्थों से पता चलता है कि यह केवल ईश्वर, जीव और परमाणुरूपा प्रकृति को ही नहीं अनादि मानते थे, सामान्य, विशेष, समन्वय, आकाश, काल, दिक् तथा यावद्द्रव्यभाविगुणों को भी अनादि मानने के पक्ष में थे, यद्यपि उन्होंने इनका कहीं उल्लेख नहीं किया है। अस्तु, प्रथम *"सत्यार्थप्रकाश"* में द्वितीय *"सत्यार्थप्रकाश"* से कई अन्य बातें भी भिन्न थीं। उदाहरणतः –

1. प्रथम संस्करण में मृत पितरों के श्राद्ध-तर्पण की पूरी विधि प्रतिपादित थी और मांस का पिण्डदान निष्पाप बतलाया गया था।
2. यज्ञ में पशुहिंसा स्वीकार की गयी थी, बल्कि हिंसापरक गोमेध का भी प्रकरण था और मास आदि से प्रातः और सायं हवन का प्राविधान किया गया था।
3. पूर्वाभिमुख होकर देवतर्पण का भी विधान था।
4. शूद्रों के लिए वेदाध्ययन का निषेध किया गया था।
5. कन्याओं के यज्ञोपवीत का निषेध किया गया था।

---

13. द्रष्टव्य स्वामी श्रद्धानन्द, आदिम सत्यार्थप्रकाश और आर्य समाज के सिद्धान्त, भूमिका, स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड 3, सं. भवानीलाल भारतीय दिल्ली, गोविन्दराम हासानन्द, 1987 पृ. 10-11
14. वही
15. युधिष्ठिर मीमांसक, ऋषि दयानन्द को लिखे गये पत्र और विज्ञापन, भाग 3, पृष्ठ 413-414
16. पृष्ठ 245, 256, 262, 271-72
17. पृष्ठ 237
18. पृष्ठ 295

6. मुक्ति को अनन्त निरवधि माना गया था।

"सत्यार्थप्रकाश" के द्वितीय संस्करण में मुक्ति की अवधि "तीन लाख साठ सहस्र बार" सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय के समय के बराबर निर्धारित की गयी थी। खेद है कि चौथे और आगे के संस्करणों में उक्त अवधि घटाकर "छत्तीस सहस्र बार" कर दी गयी है।

इस प्रकार *"सत्यार्थप्रकाश"* के प्रथम संस्करण (1874) में अनेक ऐसे विचार समाविष्ट थे जो उसके द्वितीय संस्करण (1884) में बदल डाले गये। स्मरण रहे कि ऐसा होने पर भी स्वामी श्रद्धानन्द ने एक पुस्तक, *"आदिम सत्यार्थप्रकाश और आर्य समाज के सिद्धान्त"* (1974 वि.) लिखकर *"सत्यार्थप्रकाश"* के प्रथम संस्करण की उपयोगिता और महत्ता सिद्ध की थी। ऐसा उन्होंने तब किया था जब सनातनी पण्डित कालूराम शास्त्री ने *"सत्यार्थप्रकाश"* का प्रथम संस्करण (1916) में पुनः प्रकाशित करके आर्य समाज और स्वामी दयानन्द पर प्रतिकूल टिप्पणी की थी। कालूराम से पूर्व आर्यसमाजियों से रुष्ट धर्मपाल (पूर्व नाम अब्दुल गफूर) ने *"सत्यार्थप्रकाश"* का प्रथम संस्करण *"न्यायप्रकाश"* शीर्षक से उर्दू में प्रकाशित किया था और शीघ्र ही इस्लाम धर्म में प्रत्यावर्तित होकर ग़ाजी महमूद धर्मपाल बन गये थे। प्रथम संस्करण के कुछ सिद्धान्त चौंकाने वाले हैं। जैसे स्वामी जी ने नमक कर का विरोध करके गाँधी जी के नमक सत्याग्रह का पूर्वाभास दे दिया था।

"आर्याभिविनय" के प्रथम और द्वितीय संस्करण में मुक्ति की पुनरावृत्ति न मानकर यह स्थापना की गयी थी कि "मुक्त जीव फिर कभी जन्म–मरण आदि दुःख सागर को प्राप्त नहीं होता।"[19] और "फिर वहाँ से कभी दुःख में नहीं गिरते।"[20] *"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका"* के मत से इस मत का अद्भुत साम्य है।

"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में मुक्ति से पुनरावृत्ति की कहीं चर्चा नहीं है, यद्यपि उसमें मुक्ति-विषयक एक स्वतन्त्र प्रकरण समाविष्ट है। इसके विपरीत उसमें स्पष्ट सङ्केत है कि मुक्ति की अवस्था सदा बनी रहती है– **"परब्रह्मप्राप्त्या जीवत् सदा सुखी भवतीति बोध्यम्।"**[21] अन्यत्र, **"सर्वेश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्त्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिरीश्वरानन्देन सह सदैवावस्थितिर् मुक्तिः।**[22] *"आर्याभिविनय"* (सं. 1932), *"आर्योद्देश्यरत्नमाला"* (1934) और *"पंचमहायज्ञविधि"* में भी यही स्थिति है। पंजाब में स्वामी जी से प्रश्न किया गया कि आत्मायें असङ्ख्य हैं अथवा नहीं। उत्तर में उन्होंने ईश्वर के ज्ञान की दृष्टि से उन्हें संख्यात माना था। किन्तु "सभी आत्माओं के मुक्त हो जाने पर क्या सृष्टि उच्छिन्न हो जायेगी"– इस प्रश्न से दो-चार होने पर उन्होंने मुक्ति से पुनरावृत्ति सिद्धान्त की उद्भावना की थी। किन्तु, जैसा युधिष्ठिर मीमांसक ने लिखा है, "ऋषि दयानन्द इस विषय में चिरकाल तक दोलायमान रहे।"[23] अस्तु, स्वामी जी ने इस नये सिद्धान्त का उल्लेख सर्वप्रथम किया है।[24]

---

19. उपक्रमणिका
20. प्रथम प्रकाश, मन्त्र 21
21. पृष्ठ 215
22. वेदविरुद्धमतम्, दयानन्दग्रन्थमाला, भाग 2 (1925), पृष्ठ 795
23. मीमांसक, ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृ. 98
24. संस्कृत वाक्य प्रबोध (1936)

"ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" में एक वाक्य ऐसा भी मिलता है जिसमें मुक्ति की आयु सौ वर्ष बतलायी गयी है– "......**विद्वांसः पूर्वे अतीता यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति तस्माद् ब्रह्मणश् शतवर्ष-संख्यातात् कदाचित् पुनरावर्तन्ते इति**। इस पर मीमांसक जी लिखते हैं "सम्भव है ऋषि दयानन्द ने यह पंक्ति मुद्रण से कुछ पूर्व (सं. 1934 वि. में) बढ़ा दी हो, जबकि उनके विचार में परिवर्तन होने लगा था।"[25]

स्वामी जी के विचारों में परिवर्तन के अन्य उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं :–

1. पौष 1903 से ज्येष्ठ 1923 विक्रमी तक स्वामी जी अद्वैतवादी रहे, जैसा कि उनकी आत्मकथा से प्रकट होता है। वस्तुतः ज्येष्ठ 1923 वि. में उन्होंने जीव और ब्रह्म के एकत्व का पक्ष लेकर पादरी जान राब्तन से शास्त्रार्थ भी किया था।

2. कार्तिक 1924 वि. में स्वामी जी एक प्रकार से द्वैतवादी बन गये थे, किन्तु वह प्रकृति और जीव सभी मतों के सदृश ईश्वर-रचित मानते थे।

3. **सत्यार्थप्रकाश**,[26] तथा **पञ्चमहायज्ञविधि** में मूल पितरों के श्राद्ध-तर्पण का विधान पाया जाता है।

4. ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य के प्रथम द्वितीय अंकों (श्रावण-भाद्रपद 1935 वि.) के मुख पृष्ठ पर विज्ञापन द्वारा श्राद्ध-तर्पण का खण्डन किया गया है। वैसे 1924 वि० में भी जीवित पितरों के श्राद्ध का एक बार उपदेश पाया जाता है।

---

25. प्र.द. के ग्रंथ का इतिहास, पृ. 98
26. प्रथम संस्करण, पृष्ठ 42 और 47

अध्याय – 2

मांसाहार – हिचकिचाहट

स्वामी जी मांस-भक्षण के विषय में प्रायः अन्त तक दोलायमान रहे थे। उनके वेदभाष्य में यत्र-तत्र मांस-भक्षण का विधान था, जिसे उन्होंने बाद में निकाल दिया था। किन्तु *"सत्यार्थप्रकाश"* (द्वितीय संस्करण) के दसवें समुल्लास की प्रेस कापी का संशोधन करते समय मांस-भक्षण को विहित करने वाले अधोलिखित वाक्य अपने हाथ से बढ़ा दिये थे–

"प्रश्न– सब मांस भक्ष्य व अभक्ष्य है! (उत्तर) अभक्ष्यो ग्रामकुक्कुटो ऽभक्ष्यो ग्रामशूकरः! जो ग्राम में कुक्कुट और सूकर तथा मांसाहारी सब पशु पक्षी तिर्यक् जो पेट से चलते हैं अशुद्धाहारी यत्स्यादि हैं वे सब अभक्ष्य और इनसे भिन्न शुद्धाहार जांगल सब भक्ष्य हैं, परन्तु यह बात राजवर्गी मनुष्यों के लिए है अन्य के लिए नहीं। (प्रश्न) ग्राम के कुक्कुट आदि अभक्ष्य और वनस्थ भक्ष्य हैं इसमें क्या युक्ति है ? (उत्तर) ग्रामस्य कुक्कुट आदि उपकारक अशुद्धाहारी अभक्ष्य और जंगलवासी हानिकारक शुद्धाहारी भक्ष्य हैं।"[1]

मुंशी समर्थदान ने पुस्तक छापते समय स्वामी जी को लिखा था– "निवेदन यह है कि वेदभाष्य में जो मांस-भक्षण का विधान आया था उसको आपने निकाल दिया था और मुझको भी आज्ञा दी थी कि मांस का विधान न आये इस प्रकार से छाप दो सो मैंनें छाप दिया था। अब *"सत्यार्थप्रकाश"* के भक्ष्याभक्ष्य का प्रकरण आया इसमें भी आपने मांस खाने की आज्ञा स्पष्ट दी है। प्रथम जब पुस्तक लिखी गयी थी तब तो मांस की आज्ञा नहीं दी, पीछे शोधते समय आपने दी है ऊपर से आपने बनाया है। इससे मेरी शक्ति नहीं कि मैं इसको काट दूँ। इसलिये आपसे निवेदन किया है, अब जैसी आपकी आज्ञा हो वैसा किया जाये। आपने ऐसी आज्ञा दी है कि जिन पशुओं को क्षत्रिय खेतों की रक्षा के लिये मारें व अन्य ऐसे कारणों से मारें तो उनका मांस खावें तो कुछ दोष नहीं है।........सो कृपा करके प्रथम विचार कर लिया करें तो उपकार विशेष हो।.... थोड़े-थोड़े काल में विचार का बदलना हानिकारक होता है"।[2]

---

1. द्रष्टव्य हरविलास सारडा कृत "वर्क्स ऑव महर्षि दयानन्द" के पृ. 70 के सामने "सत्यार्थप्रकाश" की प्रेस कापी के पृ. 183 की फोटो प्रिंट कॉपी, जो युधिष्ठिर मीमांसक के "ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास", पृ. 390-391 में उद्धृत है।
2. मीमांसक, प्र. द. को लिखे गये पत्र और विज्ञापन, भाग 3, पृ. 413–414

आगे चलकर यह जोड़ा गया है, "इस पत्र का विषय ऐसा खानगी है कि विरोधियों को प्रगट होने से बड़ी हानि होती है।"[3] तब स्वामी जी का उत्तर अनुपलब्ध है, किन्तु उक्त पंक्तियाँ ***"सत्यार्थप्रकाश"*** से निकाल दी गयीं। मीमांसक जी की टिप्पणी है कि दयानन्द का उत्तर "मुंशी समर्थदान ने नष्ट कर दिया होगा, जिससे वह किसी विरोधी के हाथ न पड़ जाय।[4]

"सत्यधर्मविचार" में स्वामी जी ने प्रश्न उठाया है, **"मांसभक्षणस्य विधिरस्ति निषेधो वा ?"** मांसभक्षण का विधान है अथवा निषेध, और उत्तर दिया है, **"यज्ञे विधिरस्ति, अन्यत्र निषेधः।"** यज्ञ में विधान है, अन्यत्र निषेध है और जोड़ा है, **"परन्तु पशूनां मध्ये ये नरास् तेषां हननविधिरस्ति, नैव स्त्रीणां वेति।"** पशुओं के बीच जो नर हैं उनके हनन का विधान है, स्त्रियों का नहीं। पुनः जोड़ा है, **"कुत एतत् स्त्रीणां हनने सति महती हानिः भवति।"** स्त्रियों का हनन करने से बहुत हानि होती है।[5]

---

3. तत्रैव, पृ. 415
4. तत्रैव, पृ. 415, पाद टिप्पणी
5. स्वामी दयानन्द, सद्धर्मविचार, वेदवाणी, "दयानन्द-विशेषांक" (5), 40, 31 जनवरी, 1988, पृ. 34

अध्याय – 3

ख़ूगरे हम्द से थोड़ी सी शिकायत सुन लें

दयानन्द की अपनी सीमायें भी थीं, सीमायें सबकी होती हैं। यहाँ हम केवल सर्वाधिक खटकने वाली सीमाओं पर ही दृष्टिपात करना चाहेंगे।

दयानन्द का सबसे बड़ा दोष, जो वस्तुतः उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ था, उनके द्वारा वेद-भाष्य में अपनायी गयी लालबुझक्कड़ी शैली। यह कहने से मुझे कोई नहीं रोक सकता कि उनका वेद-भाष्य कई अंशों में लालबुझक्कड़ भाष्य कहा जा सकता है। इस पर मैं कभी विस्तार से विचार करने की आकांक्षा रखता हूँ। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन्होंने वेदार्थ को रबड़ के समान बना दिया, जिसको जो जिधर चाहे खींच सकता है। वेद क्या हुआ भानुमती का पिटारा हुआ, जिसमें से रेल, तार, हवाई जहाज, अणु-बम सब कुछ निकाला जा सकता है। उनकी धारणा शायद यह थी कि वे हिन्दू धर्म का यथावत् संस्कार तभी कर सकते थे जबकि वे वेदार्थ को अनुकूल बना लें। हाँ, उनके समसामयिक आलोचक और देवसमाज के संस्थापक पं० शिवनारायण अग्निहोत्री कृत *"पण्डित दयानन्द की पोल"* (1891) के अनुसार स्वामी जी ने कई प्रामाणिक महानुभावों के समक्ष प्राइवेट वार्ता में स्वीकार किया था कि व्यक्तिगत रूप से वे भी वेद को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानते और कहा था कि वेद पर इतने आग्रह के बिना हिन्दू जाति को सम्प्रदायों के दलदल से निकालना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मथुरा के पादरी पी. एम. ज़ेंकर (P. M. Zenkar) के अनुसार भी 1864-1886 के बीच वृन्दावन में उन्हें (जेंकर को) पता लगा कि दयानन्द का वास्तविक उद्देश्य यह था कि यूरोप के राष्ट्रों को आधुनिक सभ्यता से जो लाभ प्राप्त हुए हैं वे सभी भारत के लिए भी प्राप्त किये जायं, किन्तु हिन्दू नागरिकों के स्वभाव से पूर्णतया परिचित होने के कारण वे मानते थे कि वे किसी ऐसे पुरुष को मार्गदर्शक स्वीकार करने के लिए शायद ही राज़ी होंगे जो इसे ही उस सारी शिक्षा–प्रशिक्षा के लक्ष्य और ध्येय के रूप में प्रस्तुत करेगा जो उन्हें ग्रहण करनी पड़ेगी। अतः उस (दयानन्द) ने (कड़वी) गोली पर मुलम्मा चढ़ाने की किसी युक्ति के लिए नज़र दौड़ायी और सोचा कि उसने इस उद्घोष में पा लिया है– "आओ हम वेदों के विशुद्ध उपदेश की ओर लौट चलें।"

(Mr. Zenkar records that Dayanand's real object was to obtain for India all the advantages which Western civilization has conferred on the nations of Europe but that being fully acquainted with character of the Hindu countrymen he knew that they would hardly be willing to accept as a guide one who would

present this as the sole aim and object of all the training they would have to undergo. He, therefore, cast about for an expedient to gild the pill and thought he had found it in the cry - "Let us return to the pure teaching of the Vedas.") एक गुप्त सरकारी रिपोर्ट, जिसे स्वामी श्रद्धानन्द ने 1909 में देखा था।[1] इसी प्रकार पण्डित देवकीनन्दन ने कहा कि स्वामी दयानन्द ने मेरे सामने माना था कि यद्यपि मैं बाहर से पुराणों का खण्डन ईसाइयों से बचाने के लिए करता हूँ, तथापि मेरा निजमत मूर्तिपूजा ही है।........सरदार विक्रम सिंह अहलूवालिया तथा दो एक उनके तुल्य..........मौजूद थे।[2] एक अन्य स्रोत से उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है। देखिए– "वर्ष 1874 के अन्त में.....दयानन्द सरस्वती......अहमदाबाद आये। प्रार्थना समाज ने इस महापुरुष को अपनी वेदी उत्सुकतापूर्वक प्रदान की।.......भोलानाथ (रावबहादुर भोलानाथ साराभाई) ने स्वामी दयानन्द के कार्य की प्रशंसा की.........किन्तु वे स्वामी जी की इस नीतियुक्त चतुराई से सहमत नहीं थे कि धर्म के मामले में मात्र अभीष्ट पूर्ति या कार्यसाधन के लिए ही वे वेद के स्वतः प्रमाण होने और निर्भ्रान्त होने के मत को प्रचलित किया जाय.....।[3] "एक समय भोलानाथ ने दयानन्द से कहा– "स्वामी जी, आप वेद को ईश्वरप्रणीत बताने का प्रयास करते हो, सो बुद्धिमान् लोगों के सामने तो व्यर्थ ही है।" इस पर दयानन्द ने कहा– "यह सब बात तो सच है, परन्तु भोलानाथ जी, ऐसा समझाये सिवाय सब लोग अपने संग कैसे आने वाले ? और अपनी गाड़ी चले कैसे ?"[4]

वस्तुतः स्वामी जी के वेदभाष्य पर विचार करने पर हमें भी लगता है कि उनके विषय में उदाहृत रिपोर्ट सर्वथा निराधार कहकर टाली नहीं जा सकती।

अस्तु, स्वामी जी का वेद पर इतना आग्रह अनावश्यक ही जान पड़ता है। चाहे यह सही हो कि हिन्दू जाति का संग्रथन और उसे सम्प्रदायों के दलदल से मुक्ति दिलाने का कार्य वेद जैसी ठोस आधारशिला में आस्था के प्रचार के आरम्भ में किसी सीमा तक अपेक्षा रखता था, तथापि वह वेद के प्रत्येक शब्द को दिव्य और ईश्वरीय मानने के चक्कर से बच सकते थे। जो हो, आरम्भ में जो किसी सीमा तक सहारा था वह अब भार बन गया है।

स्वामी जी की शैली में पायी जाने वाली अनावश्यक कटुता खल जाने वाली चीज़ है। तत्कालीन परिस्थितियों में उन जैसे व्रती के लिए अपना सन्तुलन बनाये रखना शायद सरल नहीं था, तथापि उनकी उग्रता कई बार असह्य हो उठती थी। इस सन्दर्भ में उनकी कितनी कुख्याति थी इसकी बानगी लीजिए। मिर्ज़ापुर के पण्डितों ने उन्हें सम्भवतः मार्च 1670 में एक पत्र भेजा था,

---

1. द्रष्टव्य स्वामी श्रद्धानन्द, "ईसाई पक्षपात और आर्यसमाज", स्वामी श्रद्धानन्द ग्रन्थावली, खण्ड 3, पृ. 182-183 लगभग पक्षपात यही उद्धरण जे. एन. फर्कुहार (J. N. Faquhar, *Modern Religious Movements in India* (London, 1929) 1, पृ. में भी उपलब्ध है।
2. तत्रैव, पृ. 183
3. *"The Life of Bholanath Sarabhai"*, पृ. 7, द्रष्टव्य भवानीलाल भारतीय, "रावबहादुर भोलानाथ साराभाई के जीवन चरित्र में स्वामी दयानन्द विषयक संदर्भों की समीक्षा", आर्यमित्र, 20, 27 नवम्बर 1988, पृ. 3
4. भोलानाथ कृत रा. ब. भोलानाथ साराभाई के गुजराती जीवन चरित से भवानीलाल भारतीय द्वारा अभिलेख पृ. 41 में उद्धृत।

जिसके शब्द हैं– "हम लोग आज शास्त्रार्थ करने आयेंगे। आप मूर्ख दुष्टादि कड़े शब्द कह दिया करते हैं। यदि ऐसा ही हमको कहा तो दण्ड दिया जावेगा।"[5]

कटुता वस्तुतः उनका स्वभाव बन गयी थी। इससे उनके प्रशंसक, सहायक और कट्टर अनुयायी भी क्षुब्ध हो जाते थे। उनके परम सहायक सुन्दरलाल ने उन्हें पं० भीमसेन से उनके दुर्व्यवहार के सम्बन्ध में 18 दिसम्बर 1881 को जो पत्र लिखा था वह इस पर प्रचुर प्रकाश डालता है। वह पत्र यों है–

"आपने जो भीमसेन के मध्ये लिखा था सो उसको पढ़कर वह बहुत उदास हुए थे पर मैंने उनको समझाकर राजी किया असल बात यह है कि वह बैठा नहीं रहता है न सुस्ती करता है पर जो पुस्तक व्याकरण की आती है उनको उसको फिर कर लिखना पड़ता है यह काम हर एक मनुष्य का नहीं जिसने आपसे विद्या पढ़ी होय और आपका अभिप्राय जाने वह ही इन पुस्तकों को शोध सकता है और आपको यह भी लिखना मुनासिब नहीं कि 5 महीना शोधने का मिलता है जब ज्वालादत्त चला गया उस समय मैं सिर पटककर रह गया और कोई योग्य पुरुष शोधन को 10 या 15 महीने को भी न मिला और जितना काम भीमसेन करता है उतना काम करने वाला अब 20 तथा 25 महीने से कम को नहीं मिलेगा......यह न लिखना चाहिये कि अमुक मनुष्य कामचोर है या हरामखोरी करता है क्योंकि ऐसे अपशब्द के सुनने से उसकी प्रीति आपसे हट जाती है और बेमन होकर वह चला जाता है......।"

आपका चरण सेवक
सुन्दरलाल

यह पत्र 18 दिसम्बर 1881 का है।[6]

वस्तुतः स्वामी जी के अनुयायियों ने भी पं० भीमसेन के साथ पदे-पदे दुर्व्यवहार ही किया। आचार्य विश्वश्रवा स्वीकार करते हैं कि उनकी समता का एक भी पण्डित आर्यसमाज में नहीं हुआ। अन्ततः वे आर्य समाज से पृथक् और विरोधी हो गये थे।

इसी प्रकार स्वामी जी ने थियोसॉफिकल सोसायटी की प्रवर्तिका एच० पी० ब्लैवेट्स्की और उनके सहयोगी कर्नल एच० एस० ऑलकाट से भी विग्रह करके उनसे सम्बन्धविच्छेद कर लिया था, और वह भी यह तर्क देकर कि वे ईसाई अथवा नास्तिक हैं। और उनके अनुयायियों में अग्रणी आर्य समाज पेशावर के मंत्री पं. लेखराम ने 7 मई 1882 को स्वामी जी को मुंशी इन्द्रमणि के विषय में जो पत्र लिखा था वह स्वामी जी के अत्युग्र स्वभाव के विषय में कोई संशय नहीं रहने देता– "........मुन्शी इन्द्रमणि को भी सुना दिया कि आपने सख्त सुस्त लिखा........अब प्रार्थना है कि आप कृपा करके चुप ही रहें और आगे को जैसे लाईकों का दिल न तोड़ो। अगर वह विनती मेरी आप मान लें तो अभी कुछ नहीं सोचा गेआ मानना वाजब है वरना निफाक के सबब एक-एक होकर

5. ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन (1), युधिष्ठिर मीमांसक, सं., तृतीय भाग बहालगढ़ : रामलाल कपूर ट्रस्ट 1982, पृ.
6. ऋषि दयानन्द सरस्वती को लिखे गये पत्र और विज्ञापन तृतीय भाग, युधिष्ठिर मीमांसक, स. बहालगढ : रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1982 पृ. 204–205

सब फिर वैसा ही अंधेरा मच जावेगा मुन्शी इंदरमुनि जी को मैंने लिखा है वह भी उभेद है के मान जाईगे आप भी खिमा कीजई।"[7]

वस्तुतः मुंशी चन्द्रमणि जैसे इस्लाम के अप्रतिम हिन्दू विद्वान् के साथ स्वामी जी का बखेड़ा मोल ले लेना हिन्दू जाति के लिए अत्यन्त बौद्ध का विषय कहा जा सकता है। मुंशी जी उर्दू, फारसी, अरबी के असाधारण विद्वान् तो थे ही संस्कृत और वेद-शास्त्र के गम्भीर अध्येता भी थे। उन्होंने उर्दू और फारसी, गद्य और पद्य में इस्लाम के खण्डन और हिन्दू धर्म पर मुसलमानों द्वारा उछाले गये कीचड़ के उत्तर में अत्यन्त प्रामाणिक और गम्भीर पुस्तकें लिखी हैं। वे पुस्तकें अपनी समता नहीं रखतीं। वे अब प्रायः अलभ्य और नष्ट हैं। हमें गुरुकुल कांगड़ी में उनमें से कुछ के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। स्वामी जी उनसे रुपये-पैसे के हिसाब को लेकर इतने रुष्ट हुए कि उन्हें आर्य समाज से बहिष्कृत कर दिया। वस्तुतः स्वामी जी क्षमा करना जानते ही नहीं थे। मुंशी जी का गम्भीर शास्त्रज्ञान किस प्रकार स्वामी जी के आड़े आया था वह परिशिष्ट-गत तथ्य से स्पष्ट हो जाना चाहिए।

वस्तुतः दयानन्द व्यक्ति नहीं, एक आन्दोलन है, जिसे समझने की एक विशेष विधि होती है। वह रिसर्च स्कॉलर नहीं थे कि हर बात अक्षरशः और बिन्दुशः साध कर लिखें। उनका अधिकांश समय व्याख्यानों, शास्त्रार्थों और शंका-समाधानों में व्यतीत हो जाता था। पढ़ने, उद्धरण सत्यापित करने और प्रत्येक वाक्य की अन्य वाक्यों में संगति लगाने का समय नहीं के बराबर मिल पाता था। एतदर्थ उन्हें अपने सहायक पण्डितों पर भरोसा करना पड़ता था। परन्तु उनसे पूर्णतः आश्वस्त भी नहीं थे। फलतः असावधानी, प्रमाद तथा अन्य कारणों से लेखों में अनेक प्रकार की अशुद्धियाँ–विसंगतियाँ हो जाती थीं। प्रकाश में आने पर कभी-कभी किसी अशुद्धि की नयी व्याख्या करके संभालना पड़ता था, जब वह भय होता था कि उनके अंगीकार वे उनकी बातों को लोग ध्यान से सुनने योग्य समझेंगे ही नहीं। आन्दोलनों में ऐसे अवसर आते ही हैं। इसके अतिरिक्त उनके विचारों में विकास-क्रम दृष्टिगोचर हाता है, जैसा आरम्भ में दिखाया जा चुका है।

काशी शास्त्रार्थ के अवसर पर ऐसा ही हुआ था। दयानन्द ने देखा कि उनकी वेद में "पुराण" शब्द को केवल विशेषण के रूप में मानने की भूल से उनका मिशन संकट में पड़ जायेगा तो उन्होंने मौन हो जाने और बाद में उल्टी-सीधी सफाई देने का मार्ग चुना। वह एक विशुद्ध व्यवहार की बात है, जिसमें कभी-कभी सत्य से समझौता अनिवार्य हो जाता है। सम्भवतः इसी दृष्टि से दयानन्द ने लिखा है कि शंकराचार्य ने यदि मायावाद को बौद्धों से शास्त्रार्थ में विजय के लिए वरण किया तो अच्छा था। तथापि यह राजस मार्ग है। सात्विक मार्ग तो यही है कि ऐसी भूल हो जाय तो स्वीकार की जाय।

यहाँ एक बात विशेष रूप से ध्यातव्य है। यह समझना भूल है कि काशी शास्त्रार्थ में दयानन्द की हार हुई थी। हमारे सामने स्वामी केशवपुरी और भवानीलाल भारतीय द्वारा प्रकाशित प्रामाणिक शास्त्रार्थ–विवरण उपस्थित हैं। शास्त्रार्थ नितान्त अव्यवस्थित था। किसी एक विषय पर केन्द्रित रहा ही नहीं। काशी के पण्डित अन्त तक, वेद में मूर्तिपूजा दिखला नहीं सके और इधर-उधर की बातें छेड़कर कालयायन करते रहे। उन दिनों दयानन्द वेद के अन्तर्गत ब्राह्मणों

---

7. तत्रैव, पृ. 233

की भी गणना करते थे और देवता, स्वर्गादि लोक भी मानते थे, जिससे उन्हें थोड़ी परेशानी हुई। बाद में उन्होंने अपने विचार बदल दिए। परिवर्तनप्रवणता प्रगतिशील व्यक्तित्व का भूषण है।

इन बातों के बावजूद कुछ तथ्य ऐसे हैं जो स्वामी जी के व्यक्तित्व पर भारी कलंक का टीका लगाते हैं जो कभी धोया नहीं जा सकता।

स्वामी जी ने पण्डिता रमाबाई से अच्छा बर्ताव न करके अपनी उस परम विदुषी सहायिका को खो दिया था। रमाबाई ने अन्ततः ईसाई मत ग्रहण करके 13 अक्टूबर 1880 को विपिन बिहारी नामक एक बंगाली युवक से विवाह कर लिया था। तथापि उन्होंने (हिन्दू) महिलाओं के उद्धार और उनकी स्थिति में सुधार के लिए व्यापक प्रयत्न किया था। वह स्वामी जी की भक्त थीं, उन्हें संस्कृत में अनेक असाधारण विद्वत्तापूर्ण पत्र लिखे थे, स्वामी जी के पास आकर उनसे दर्शन की यत्किंचित् शिक्षा ग्रहण की थी। किन्तु जब स्वामी जी को पता चला कि वह किसी विजातीय बंगाली से विवाह करना चाहती हैं, तो उन्होंने उसे एक पत्र लिखकर जाति के बाहर विवाह करने से रोकना चाहा था। वह पत्र उपलब्ध नहीं है। किन्तु रमाबाई ने जो उत्तर दिया था वह उपलब्ध है।[8] इस पत्र में रमाबाई ने स्वामी जी पर मिथ्याचार का आरोप लगाते हुए लिखा है कि वे उपदेश तो कर्मणा वर्ण का देते हैं, जन्मना वर्ण की कटु आलोचना करते हैं, किन्तु उससे जन्मना जाति बरतने का आग्रह करते हैं। पत्र नीचे दिया जाता है–

श्रीमत्सु दयानन्दसरस्वतीस्वामिपादप्रान्तेषु

सविनयं प्रणति–निवेदनम्

आर्यपाद, श्रीमतामुपदेशपत्रमवाप्य मनाक् विस्मितास्मि। सम्पूर्ण–शिक्षिता एव ब्राह्मणा इति मुहुरूपदिशतामपि भवतामियमद्येदृशी परस्पर–विरूद्ध कथमिव वाक् प्रसरति ? यदि नाम गोमहिषाश्वाश्वतरादिजातीनामिव वर्णानामपि न सम्भवव्यत्वयसू, तदा यः कोपि सुशिक्षितो ब्राह्मणसूतद्विपरीतशू व शूद्रशू चाण्डालो वेति वादसू तु केवलमुन्मत्त–प्रलपितमेव। यहूर्येतदीदृक्, तर्ह्युल्लिखितादाग्रहन्निवर्त्तितुमुचितं श्रीमताम्रन्तपक्षावलम्बिनां यतो मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। अतो विरूद्धाचरथे–

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यत्, इत्यापतति। यतोऽधुना भवन्तः केवलं वचसैव सुशिक्षितानां ब्राह्मणत्वमितरेषां च शूद्रत्वं प्रतिपादयन्ति न कर्मणा। अहह किमद्याप्ययं ब्राह्मणवंशजो ब्राह्मणः शूद्रवंशजः शूद्रः इति वंशानुक्रमिकः कुसंस्कारः श्रीमतां हृदयावकाशे जागर्त्ति ?

x x x

अस्मि श्रीमत्पादाशिषा सर्वतः कुशलिनी। सदैवमेवानुग्रहपत्रप्रेषणादिनानुग्रहीत–व्योयमनुगतः श्रीमदनुकम्पाभाजनं जन इति शिवम्।

नितान्तमनुग्रहीता
रमा

---

8. तत्रैव, पृ. 113-114

श्रीमान् दयानन्दसरस्वती स्वामी के चरणों में

सविनय प्रणति–निवेदन

"आर्यपाद ! श्रीमान् का उपदेश पत्र पाकर किञ्चित् विस्मित हूँ। आर्य पूर्ण शिक्षितों को ही ब्राह्मण मानने का सदा उपदेश करते रहते हैं, तो फिर आज आपसे इस प्रकार की पूर्वापर विरुद्ध वाणी कैसे फूटती है ? यदि गो, महिष, अश्व, अश्वतर आदि जातियों के समान वर्णों का भी व्यत्यय सम्भव नहीं है, तब यह वाद कि जो कोई शिक्षित है वह ब्राह्मण है और तद्विपरीत शूद्र अथवा चाण्डाल है उन्मत्त का प्रलाप मात्र हो जाता है। यदि ऐसा है तो अपने लिखे आग्रह से श्रीमान् जैसे अभ्रान्तपक्षावलम्बी को निवृत्त हो जाना चाहिए, क्योंकि महात्माओं का मन, वचन और कर्म एक होता है। मनस्येकं, वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम्। अतः विरुद्धाचरण से– मन, वचन, और कर्म भिन्न (मनस्यन्यद्, वचस्यन्यद्, कर्मण्मन्यद्) प्रसक्त होता है।

"अब आप केवल वाणी से ही सुशिक्षितों को ब्राह्मण और अन्यों को शूद्र प्रतिपादित करते हैं, कर्म से नहीं। अहह ! क्या अब भी श्रीमान् के हृदयाकाश में ब्राह्मण वंशज ब्राह्मण और शूद्रवंशज शूद्र ऐसा वंशानुक्रमिक कुसंस्कार जाग्रत है ?

x x x

श्रीमान् के आशीर्वाद से मैं सर्वथा कुशल हूँ। सदा इसी प्रकार पत्रप्रेषण आदि द्वारा अनुग्रहीतव्या, श्रीमान् की अनुयायिनी, श्रीमान् की कृपाभाजन– इति शिवम्

नितान्तमनुग्रहीता
रमा

वस्तुतः कभी-कभी स्वामी जी वाक्छल अथवा अवसरवादिता के दोषी प्रतीत होते हैं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। मौलाना मुहम्मद कासिम नानोतवी ने स्वामी जी को 14 अगस्त 1978 को एक पत्र लिखा था– स्वामी जी, आपने कानपुर के विज्ञापन में इक्कीस शास्त्रों पर आस्था प्रकट की, और कहीं और पहुँचे तो चारों वेदों पर सन्तोष कर लिया। कभी सारे भाग स्वीकरणीय और कभी ब्राह्मण भाग को अस्वीकृति और मन्त्र भाग को स्वीकृति.... ।[9]

स्वामी जी उत्तर देते हैं :

कानपुर के विज्ञापन में इक्कीस शास्त्रों पर विश्वास लाये इत्यादि। वाह ! समझे तो क्या समझे ? तनिक पहले किसी से 'शास्त्र' शब्द का अर्थ पूछ लीजिये और फिर आक्षेप करने पर कमर बाँधिये।

मैं आपसे आपके इस कथन का प्रमाण माँगू तो बताइये आप क्या उत्तर देंगे ? श्रीमान् जी ! मैंने उस शास्त्रार्थ में पवित्र वेद के इक्कीस विभिन्न व्याख्यानों की सत्यता स्वीकार की है और अब भी उनके ठीक होना स्वीकार करता हूँ। आर्यों में शास्त्र केवल छः हैं। उनसे और उन व्याख्यानों में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ब्राह्मण और मन्त्र भाग बताइये, मैंने उनसे कहाँ इंकार किया प्रमाणरहित

9. तत्रैव, पृ. 44

दावे को तो हम मानते नहीं, आप ही इसे कुछ विद्वत्ता का प्रदर्शन समझते होंगे।

स्वामी दयानन्द द्वारा मौलवी मुहम्मद कासिम को 15 अगस्त 1878 को लिखित उत्तर[10]

यहाँ स्वामी जी ने बौद्धिक ईमानदारी का गला ही घोंट दिया है। अपने आलोच्य विज्ञापन में स्वामी जी ने स्वयं लिखा "एतेष्वेकविंशतिशास्त्रेषु", "एकविंशतिशास्त्रेभ्यः"–, किन्तु अब मौलवी नानौतवी को "इक्कीस शास्त्र" कहने पर फबतियाँ सुनाते हैं। इसके अतिरिक्त आग्रह करते हैं कि शास्त्र केवल छह हैं। और वह आगे लिखते हैं, "ब्राह्मण और मन्त्रभाग– बताइये मैंने उनसे कहाँ इंकार किया ?" यह वाक्छल की पराकाष्ठा है। कभी ब्राह्मण भाग को वेद मानते थे कभी नहीं मानते, यही तो मौलवी साहेब का आरोप है। "कहाँ इंकार किया ?" का क्या अर्थ। वस्तुतः यह पत्र स्वामी जी के व्यक्तित्व पर एक अमिट कलंक है।

रावबहादुर भोलानाथ साराभाई के पूर्वोद्धृत जीवनचरित में कृष्णराव ने स्वामी जी को "कूटनीतिज्ञ सुधारक", "धर्मप्रचार में भी राजनीतिपूर्ण युक्ति का प्रयोग करने वाले", "धर्मराज खटपटी दयानन्द" जैसे विरुदों से विभूषित किया है। उपर्युद्धृत तथ्यों के सन्दर्भ में ये विरुद सर्वथा सार्थक सिद्ध होते हैं।

दयानन्द का कृष्णपक्ष अमर्यादित नहीं है। उनके व्यक्तित्व का शुक्ल पक्ष बहुत ही मोहक है। दयानन्द वस्तुतः एक निरन्तर प्रगतिशील व्यक्तित्व के धनी थे। उन्होंने कभी भी निर्भ्रान्त होने का दावा नहीं किया। बम्बई में आर्य समाज की स्थापना के समय अपने भाषण में उन्होंने स्पष्ट कहा था, **मेरे मन्तव्य कोई असाधारण व अद्वितीय नहीं हैं और न मैं सर्वज्ञ ही हूँ। अतः यदि युक्तिपूर्वक विचार विमर्श के अनन्तर भविष्य में मेरी कोई भूल आपके सामने आये, तो उसे ठीक कर लीजिए। यदि आप ऐसा नहीं करेंगे, तो यह समाज भी आगे चलकर एक सम्प्रदाय बनकर रह जायेगा। भारत में जो बहुत से मत-मतान्तर विद्यमान हैं, उसका कारण यही है कि इनमें गुरू के वचन को सत्य की कसौटी मान लिया गया, जिसके परिणामस्वरूप लोग धर्मान्ध हो गये।**[11] आज दयानन्द को ऋषि, महर्षि, न जाने और क्या-क्या बना दिया गया है, जबकि उन्होंने एक बार कहा था कि यदि वे कपिल और कणाद के काल में हुए होते तो उनकी गणना मात्र साधारण विद्वानों में होती। वस्तुतः उन्होंने आर्य समाज संचालन में गुरू, अधिनायक, आदि जैसे किसी भी विशेष पद पर प्रतिष्ठित होना स्वीकार न करके एक साधारण सदस्य के रूप में बने रहना वरण किया था। यहाँ तक कि आर्य समाज मन्दिर में अपना चित्र टाँगना भी वर्जित कर दिया था। वह यह भी आदेश दे गये कि मृत्यु के बाद उनकी समाधि न बनायी जाय। मरते समय अपना उत्तराधिकार किसी चेले अथवा शिष्य को नहीं सौंपा।

परस्पर असमंजस, विरुद्ध और विवदमान हिन्दू जाति के पास दिव्य, स्वतः प्रमाण ग्रन्थों का एक पूरा पुस्तकालय विद्यमान है। जाति में एकसूत्रता आये तो कहाँ से आये ? अतः जब-जब अवसर उपस्थित हुआ है, हिन्दू जाति संभूयसमुत्थान के सर्वथा अयोग्य सिद्ध हुई है। जिस जाति की श्रद्धा इतने और इस प्रकार के धर्मग्रन्थों में बसी हुई हो वह कभी भी एक सूत्र में आबद्ध

10. "ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन", प्रथम भाग, भगवद्दत्त, सं. युधिष्ठिर मीमासक, परिष्कर्ता और परिवर्धक (तृतीय सं. बहालगढ़ : रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1980, पृ. 197

11. आर्य समाज का इतिहास (भाग 1 पृष्ठ 251, में उद्धृत)

नहीं हो सकती है। दयानन्द ने इस तथ्य को पहचाना था और वेद को धर्मग्रन्थों के इस विशाल पुस्तकालय के केन्द्र में स्थापित किया था। और वेद की भी इयत्ता अश्रुतपूर्वरूप से सीमित कर दी थी। उन्होंने शतशः धर्मग्रन्थों को अप्रामाणिक और नकली घोषित करके यही नहीं कि जाति की शास्त्र-श्रद्धा को परिमार्जित, परिनिष्ठित और व्यवस्थित किया, उसे ज्ञान और मूढ़ग्राह में भेद करना भी सिखाया।

सम्भवतः जाति को अनन्त ग्रन्थराशि की भूलभुलय्या से निकालकर उसके मूल में वेद को प्रतिष्ठित किये बिना उसमें एक-सूत्रता अथवा केन्द्रीयता (केन्द्रीयोन्मुखता, केन्द्रण-बिन्दु) का आद्यान सम्भव ही नहीं था। जो हो, इतिहास साक्षी है कि वेद को हिन्दू जाति के केन्द्र में इस प्रकार प्रतिष्ठित करने का महत्त्व न समझ सकने का ही यह परिणाम है कि सिक्ख सम्प्रदाय, जो कभी इतना घोर हिन्दू सम्प्रदाय था कि उसे हिन्दुत्व की रक्षा में सन्तई छोड़कर खड्गहस्त होना पड़ा था, आज हिन्दुत्व से एकदम कट चुका है। यदि दयानन्द ने भी वेद को धता बता दिया होता तो उनके द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज भी शायद क्रमशः हिन्दुत्व से कट जाता और इस प्रकार उनके सारे उद्देश्य पर पानी फिर जाता। वस्तुतः कोरी बुद्धिवादिता एक बात होती है, और इतिहास की माँग का आकलन करके युगानुकूल जीवन-दर्शन की उद्भावना कर नवयुग के अनुरूप नयी संस्कृति की अवतारणा का दायित्वपूर्ण प्रयास और ही है। वस्तुतः संस्कृतियों के प्रवर्तक और उन्नायक तत्त्व-पुरुष अथवा सत्य-पुरुष (Men of Truth), कम तथ्य-पुरुष (Men of Fact) अधिक होते हैं, और कई दृष्टियों से तथ्य-पुरुष को सत्यानुरूप पर वरीयता प्राप्त है। तथ्य-पुरुष का दायित्व-बोध सत्य-पुरुष की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित और उग्र होता है, जिससे प्रेरित होकर वह कभी-कभी ज्वालामुखी बनकर आग उगलने लगता है और नीतिमत्ता के सामान्य मानदण्ड के उसके व्यवहार का मूल्यांकन कठिन हो जाता है।

तो, दयानन्द ने खण्डखण्डीकृत जाति को एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिए एक धर्मग्रन्थ का सूत्र दिया, किन्तु संस्कृति इस शास्त्रप्रामाण्यवाद को बहुत पीछे छोड़ चुकी है।

अध्याय – 4

अभिनव वेदभाष्य

स्वामी जी की वेदविषयक अनेक मान्यतायें नवीन और परम्परा द्वारा असमर्थित हैं। देखिये–

1. प्रथमतः, स्वामी जी विशाल शास्त्रसम्भार को अशास्त्र और जालग्रन्थ मानते हैं और बचे–खुचे शास्त्र-वाङ्मय में भी समस्त स्वमत-विरुद्ध अंश को वेद-विरुद्ध घोषित करते हुए अमान्य कर देते हैं। उनकी कैंची से वेदवाङ्मय भी नहीं बच पाता। वेद की 1131 शाखा-संहिताओं में से केवल 12 उपलब्ध संहिताओं में भी वे केवल चार संहिताओं– शाकला शैशिरीया, माध्यन्दिन-वाजसनेयी, कौथुमी और शौनकीया– को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की संज्ञा देते हुए वेदत्वेन स्वीकार करते हैं और शेष उपलब्ध-अनुपलब्ध संहिताओं, सभी उपलब्ध-अनुपलब्ध आरण्यकों, और ***"ईशावास्योपनिषद्"*** (जो यजुर्वेद का अन्तिम, चालीसवां अध्याय है) को छोड़ सभी उपनिषदों को वेद-व्याख्यान रूप घोषित करते हैं।

2. दूसरे, उक्त वेदों को आदि सृष्टि में परमेश्वर द्वारा क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा नामक चार ऋषियों पर अवतरित अथवा प्रकाशित मानते हैं।

3. अतः वे वेदों में व्यक्तिवाचक संज्ञायें नहीं मानते, इतिहास नहीं मानते।

4. फलतः वे वेद के सभी पदों को यौगिक मानकर व्याख्या करते हैं।

5. मनु का वचन है कि वेदों का उपबृंहण इतिहास–पुराण की सहायता से करना चाहिए, अन्यथा वेदार्थ भ्रष्ट हो जायेगा–

   इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेतू।
   विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

   स्वामी जी इसकी सर्वथा उपेक्षा करते हैं। वह वेद में इतिहास मानते नहीं, और पुराणों को गप्प घोषित करके तिरस्कृत करते हैं।

6. स्वामी जी के अनुसार वेद में देवपूजा, जड़पूजा और मूर्तिपूजा नहीं है। वेद केवल एक ईश्वर के अस्तित्व और उसी की उपासना का विधान करते हैं। स्वामी जी के अनुसार वेद के देवतापरक-प्रतीयमान पद वस्तुतः परमेश्वरपरक हैं, परमेश्वर के विशेषणस्वरूप हैं। परमेश्वर का मुख्य नाम ओम् है। वेद में प्रयुक्त देवता शब्द का अर्थ वह विद्वान् आदि करके उसका

ऐहिकीकरण कर डालते हैं। तदनुसार वे अग्नि आदि देववाचक शब्दों को भी मनुष्यवाचक मान लेते हैं। वह सम्भवतः *"शतपथब्राह्मण"*[1] के वचन– **"देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः –** को लक्षित नहीं करते हैं।

7. स्वामी जी के अनुसार वेदमन्त्रों के तीन अर्थ सम्भव हैं– आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। ऐसा वह *"निरुक्त"* के आधार पर करने का दावा करते हैं। किन्तु *"निरुक्त"* के अनुसार वेदार्थ त्रिविध नहीं, वेदमन्त्र त्रिविध हैं। और इन तीनों शब्दों का अर्थ भी वह नहीं जो वह और उनके अनुयायी समझाने का प्रयत्न करते हैं। यह व्याकरण में प्रयुक्त क्रमशः अन्यपुरुष, मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष के पर्याय हैं।

8. स्वामी जी की भाष्यशैली प्रायः नैरुक्तिक मानी जाती है, किन्तु यह केवल अंशतः सत्य है। अन्य भाष्यकारों के समान ही वह *"निरुक्त"* का भी आश्रय लेते हैं और अन्य सूत्रों का भी। आप किसी भी वेदभाष्य के भीतर झांकिये, चाहे सायण का हो, उव्वट का हो, महीधर का हो; चाहे प्राचीन हो; चाहे संस्कृत का हो, अंग्रेज़ी अथवा किसी अन्य यूरोपीय भाषा का हो, किसी आधुनिक भारतीय भाषा का हो; सर्वत्र *"निरुक्त"* का प्रचुर प्रयोग प्राप्त होता है। *"निरुक्त"* की उपेक्षा कोई भी भाष्यकार कर ही नहीं सकता है। किन्तु *निरुक्त* का महत्त्व सर्वस्वीकृत होते हुए भी किसी ने वेदभाष्य के लिए *"निरुक्त"* को पर्याप्त नहीं माना है, कोई मान भी नहीं सकता है, चाहे वह इसे कण्ठतः स्वीकार करे अथवा नहीं। स्वामी दयानन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। कभी-कभी तो वह देवता, इतिहास, आदि के सन्दर्भ में *"निरुक्त"* की उपेक्षा भी कर जाते हैं। हम समझते हैं कि स्वामी जी की भाष्यशैली प्रायः पञ्चविध है। वह पदार्थ– और वाक्यार्थ– निर्णयार्थ वैदिक पदों के प्रवृत्ति निमित्त-पारज्ञानार्थ कभी व्याकरणगम्य व्युत्पत्तिनिमित्त का आश्रय लेते हैं, कभी निरुक्त-निदर्शित निरुक्तिनिमित्त का, कभी ब्राह्मणों में प्रयुक्त बहुभक्तिनिमित्त का, कभी जैमिनि-प्रतिपादित श्रुतिसामान्यनिमित्त का, और कभी स्वोपज्ञनिमित्त का। वेद में वायुयान आदि का दावा उन्होंने स्वोपज्ञानिमित्त के बल पर किया है। वैसे, कहने को तो वह यह कहते हैं कि उनकी शैली ब्रह्मा से जैमिनिपर्यन्त ऋषि-महर्षियों द्वारा अपनायी गयी शैली है, किन्तु वे उपरिनिर्दिष्ट स्थापनाओं में समूची आर्षपरम्परा से कटे हुए प्रतीत होते हैं।

9. स्वामी जी पशुयज्ञपरक, अश्लील, विज्ञानविरुद्ध वेदमन्त्रों का परम्परा विरुद्ध अर्थ करने में अपनी समता नहीं रखते हैं।

यहाँ इन विषयों के विस्तार में जाना हमारे लिए सम्भव नहीं है। इन पर अन्यत्र कुछ विचार किया गया है, विशेषतः **"तात्त्विकं स्वरूपं वेदस्य"** में जो *'सारस्वतीसुषमा'* में प्रकाशित है। किन्तु वैदिक संहिताओं के विषय में एक तथ्य ऐसा है जो किसी सीमा तक स्वामी जी के पक्ष में जाता है। उक्त चार वेदसंहिताओं के प्रतीक अन्य वेद संहिताओं में प्राप्त हैं, किन्तु उनकी इनमें नहीं। सम्भवतः इसीलिए उनका अधिक प्रचार-प्रसार हुआ और वे ही वेदत्वेन विख्यात हुई। आज तो देश-विदेश सर्वत्र वही चार वेद के रूप में गृहीत हैं।

---

1. 7.4.2.40

अध्याय – 5

मूढ़ग्राह का ग्राह

सन् 1857 का विद्रोह आज चाहे जो माना जाय, मूलतः एक सिपाही विद्रोह और अन्ततः रजवाड़ों का विद्रोह मात्र था। कवि, साहित्यकार तथा अन्य बौद्धिक उसकी ओर से सर्वथा उदासीन रहे हैं। जनता ने भी उसका राष्ट्रीय क्रान्ति के अन्यतम प्रयत्न के रूप में स्वागत नहीं किया है। यही कारण है कि विद्रोह के दबा दिये जाने पर भी विशेष कारणों से मुसलमानों को छोड़कर देश के बौद्धिकों और नेताओं में किसी प्रकार की मुर्दनी अथवा अवसाद के दर्शन नहीं होते हैं। दयानन्द के क्रान्तिकारी धार्मिक अभियान उसी समय आरम्भ होते हैं। आर्य-संन्यासी निर्भीकतापूर्वक रद्दी से रद्दी स्वदेशी राज्य की, अच्छे से अच्छे विदेशी राज्य पर वरीयता की घोषणा करता है, लेकिन शायद उसको इसका प्रतिभान था कि देश में आर्य संस्कृति के जीवन्त, महनीय आदर्शों की प्रतिष्ठा के बिना स्वराज्य का स्वप्न साकार नहीं हो सकता है।

भारत की मौलिक संस्कृति आर्य और अनार्य संस्कृतियों में विभक्त दिखायी देती है। बाद में इस द्वैत ने ब्राह्मण (कर्मी), राजन्य (औपनिषद ज्ञानी) और भागवत (भक्त), और श्रमण (बौद्ध, जैन, आजीवक, आदि), के त्रैत का रूप ग्रहण कर लिया था। कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग इसी त्रैत की उपज हैं। पूर्ण हिन्दू समाज दार्शनिक और अदार्शनिक के रूप में भी विभक्त किया जा सकता है। यह सब होते हुए भी यह बात बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है कि यहाँ मूढ़ग्राह (Superstition)। और ज्ञान (Enlightenment) में शायद कभी भी कोई महत्त्वपूर्ण भेद नहीं किया गया है। तत्त्ववेत्ता और पामर में धार्मिक विश्वास और व्यवहार के स्तर पर कभी कोई विरोध नहीं हुआ है। तत्त्ववेत्ता सभी मूढ़ग्राहों को स्वीकार करते हुए उन्हें संस्कृति अथवा कम से कम प्राकृत जनों के लिए उपादेय ही बतलाता रहा है। शंकर और रामानुज की कोटि के ब्रह्मज्ञानियों ने भी वेद सुन लेने पर शूद्र के कान में सीसा पिघला देने की व्यवस्था का अनुमोदन किया है। अल्बीरूनी ने इस विशेषता की ओर इंगित करते हुए लिखा है कि भारत में किसी सुकरात का प्रादुर्भाव नहीं हो सका जो मूढ़ग्राहों का डटकर विरोध करने के कारण जनता का कोपभाजन बन जाय। अल्बरूनी की बात शत-प्रतिशत सही दिखायी पड़ती है। राममोहन-दयानन्द-युग के पूर्व सच पूछा जाय तो गम्भीर अर्थ में जनता का कोपभाजन बनने वाला, जनता की श्रद्धा-जड़ता को हिला देने वाला, एक भी बड़ा समाज-सुधारक देखने को नहीं मिलता है। दयानन्द को देखते हुए वस्तुतः बुद्ध को भी कोई क्रान्तिकारी समाज-सुधारक नहीं माना जा सकता है। कबीर, नानक, दादू जैसे कई सन्तों ने इस्लाम के प्रभाव में आकर मूढ़ग्राहों पर चोटें अवश्य की थीं, किन्तु वे हिन्दू धर्म के प्रवक्ता के रूप में नहीं उठे थे

और न वे सुधारवाद को संस्थागत (institutionalise) करने की क्षमता रखते थे। भलीभाँति बातों का बखान तथा कतिपय रूढ़ियों का यदाकदा प्रत्याख्यान एक बात है, उन बातों को जीवन का अंग बना देने की योजना प्रस्तुत करने, धरती में बद्धमूल कर सकने की योग्यता रखने की बात और ही है। नयी जीवन-रचना, नयी संस्कृति की अवतारणा के लिए नये धर्मशास्त्र, नयी शरीअत की उद्‌भावना अपेक्षित है, जो इन सन्तों के बस की बात न थी।

अस्तु, सिद्धान्त के लिए प्राण देने की महनीय परम्परा का यहाँ कहीं पता नहीं है। हिन्दू युग में जो नये सिद्धान्त चले थे वे भी सुधारवादी न होकर एक मूढ़ग्राह को दूसरे मूढ़ग्राह से बदलने वाले ही सिद्ध हुए थे।

वस्तुतः हिन्दू धर्म एक सर्वसह धर्म है। इसमें हर वस्तु के लिए स्थान है, चाहे वह उपादेय हो, हेय हो, अथवा उदासीन हो। यह ग्रहण सब कुछ कर लेता है, त्यागना कुछ भी नहीं चाहता है। इसमें उच्च से उच्च तत्त्व का अधम से अधम तत्त्व के साथ सामञ्जस्य, शान्तिप्रिय और निर्विघ्न सहभाव देखने को मिलता है। बड़ा से बड़ा हिन्दू दार्शनिक जघन्य से जघन्य मूढ़ग्राह के विरुद्ध यही नहीं कि कभी अंगुली नहीं उठाता, उसे आपत्तिजनक नहीं समझता, बल्कि उसे सहज रूप से मान्यता देता पाया जाता है। इस प्रकार अल्बैरूनी के शब्दों में हिन्दू सीप को ठीकरियों, मोती को गोबर अथवा नगीने को प्रस्तर-खण्डों के साथ गपड़चौथ कर देता है। अतः यहाँ की परम्परा में मूढ़ग्राहों और कुरीतियों से जूझकर समाज का संस्कार करने की प्रवृत्ति का प्रायः अभाव ही दिखायी देता है। जो भी सुरीति-कुरीति, सुदृष्टि-कुदृष्टि, एक बार चल गयी वह हिन्दू धर्म का अविभाज्य अंग बन गयी। मेरा एक श्लोक है :–

सुरीतयः, कुरीतयः, सुदृष्टयः, कुदृष्टयः
न सम्भवन्ति चेत् सकृत्, भवन्त्यनश्वरा इह।
विभागतस् तथा पुनर् द्वयोश्च च सत्यासत्ययोः
परस्परप्रभेदतो द्विधाऽस्य व्यक्तिताऽजनि।।

वस्तुतः भारतीय मनीषा सदा से मूढ़ग्राहों के साथ समझौता करती आयी है। अपने **"तर्जुमानुल्कुरआन"**[1] में मौलाना अबुकलाम आज़ाद ने बड़ी सुन्दर बात कही है, "यहाँ फ़िक्र व अक़ीदा की कोई बलन्दी भी वहम व जेहालत की गिरावट से अपने आपको महफ़ूज़ न रख सकी, और इल्म व अक़्ल और वहम व जेहल (मूढ़ग्राह) में हमेशा समझौते का सिलसिला जारी रहा। इन समझौतों ने हिन्दुस्तानी दिमाग़ की शक्ल व सूरत बिगाड़ दी। उसकी फ़िक्री तरक़्कियों का तमाम हुस्न अस्नायी (प्रतिमोपासना-सम्बन्धी) अक़ीदों के गर्द व गुबार में छिप गया।" अस्तु, इस प्रकार यहाँ के सूर्य पर सदा मूढ़ग्राह के बादल छाये रहे, सत्य और मूढ़ग्राह में विवेक की शक्ति जाती रही, मूढ़ग्राह आगे हो गया और सत्य पीछे। यहाँ "ग्रेशम-नियम" की भी चर्चा की जाती है। धर्म में जब उपदेश और हेय तत्त्वों का समन्वय होता है तो हेय तत्त्व उपादेय तत्त्वों को खदेड़ देते हैं, जैसे खोटा सिक्का खरे सिक्के को बाज़ार से खदेड़ देता है।

1. पृ. 170

हिन्दू धर्म की दृष्टि से परमार्थ और व्यवहार में तात्त्विक-मौलिक भेद है। जो परमार्थतः हेय है वह व्यवहारतः उपादेय हो सकता है। किन्तु हिन्दू प्रतिभा परमार्थ और व्यवहार में कभी सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर सकी, परमार्थ और व्यवहार के समन्वित न हो सकने वाले द्वेष ने यहाँ द्विविध व्यक्तित्व (Double personality) की मनोवैज्ञानिक-सांस्कृतिक व्याधि को जन्म दिया। पारमार्थिक व्यक्तित्व और व्यावहारिक व्यक्तित्व में दूर का भी सम्बन्ध नहीं, बल्कि दोनों में प्रचण्ड विसंगति की स्थिति है, किन्तु यहाँ परमार्थ कभी व्यवहार के मार्ग में बाधक नहीं हुआ। उर्दू के प्रसिद्ध शायर मीर के सम्बन्ध में किसी की उक्ति है– "बलन्दश बग़ायत बलन्द व पुस्तश बग़ावत पस्त", अर्थात् मीर अपनी उत्कृष्टता में उत्कृष्टतम हैं और निकृष्टता में निकृष्टतम। ठीक यही बात हिन्दू धर्म के विषय में भी लागू होती है।

वस्तुतः परमार्थ के व्यवहार से इस प्रकार कटा होने के कारण हिन्दू के अन्तर्जगत् के व्यापार बहिर्जगत् की भावनाओं का रूप लेने में असमर्थ रहे, हिन्दू इतिहास में उतनी बड़ी और विशिष्ट भूमिका नहीं ग्रहण कर सका जितनी उससे सम्भव और प्रत्याशित थी।

अस्तु, भारत में मूढ़ग्राहों का उच्छेद करने की दृष्टि से सिद्धान्तों की काट--छांट कम ही दिखायी पड़ती है। यहाँ खण्डन-मण्डन तो बहुत है– इतना कि संसार के किसी धर्म में देखने को नहीं मिलता है– किन्तु यह सब या तो अकादमीय दृष्टि से या साम्प्रदायिक दृष्टि से हुआ है, एक मूढ़ग्राह को प्रायः अन्य मूढ़ग्राह में बदलते हुए। यहाँ मूढ़ग्राह को मूढ़ग्राहत्वेन बहुत कम लिया गया है। विधवा-विवाह, जातिवाद, सती प्रथा, स्त्रियों और शूद्रों के साथ दुर्व्यवहार, मन्दिरों-तीर्थों के अनाचार आदि कितनी ही कुरीतियाँ आधुनिक काल तक चलती चली आती हैं, किस बुद्ध, किस बोधिसत्त्व, किस तीर्थङ्कर, किस नागार्जुन, किस चाणक्य, किस शंकर, किस रामानुज, किस कुमारिल, किस उदयन ने इनके विरुद्ध एक बार भी आवाज़ उठायी थी।

कतिपय मूढ़ग्राहों के विरुद्ध कपिल और कृष्ण ने आवाज़ उठायी होगी, ऐसा प्रतीत होता है। दोनों ने रुधिर-यज्ञ तथा अन्य वैदिक कर्म-काण्ड का विरोध किया, और बस। चार्वाकों ने धर्म-कर्म को सदा के लिए विदा कर दिया, किन्तु सामाजिक कुरीतियों से उन्होंने कहाँ तक लोहा लिया, यह कौन जाने। बुद्ध ने समाज की कई रूढ़ धारणाओं में आमूल-चूल क्रान्ति अवश्य कर दी थी, जिससे नये धर्म और दर्शन के अनन्त पौधे लहलहा उठे, किन्तु सामाजिक न्याय की स्थापना पर उनका विशेष ध्यान नहीं गया– वे तो स्त्रियों के सम्बन्ध में उतने भी उदार नहीं सिद्ध हुए जितने कि वैदिक शास्त्रकार दिखायी देते हैं। फिर भी उन्होंने जन्मना वर्ण-व्यवस्था और कतिपय धार्मिक-दार्शनिक मान्यताओं पर गम्भीर प्रश्न-चिह्न लगा दिये थे, और उनके स्थान पर सर्वसाधारण को वस्तुतः कुछ भी नहीं दिया था। बुद्ध ने समाज की कुरीतियों, कुरूढ़ियों और कुगतियों को निशाना नहीं बनाया। उनकी क्रान्ति सामाजिक नहीं, एक प्रकार से मात्र आध्यात्मिक क्रान्ति थी। अतः सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा में वह विशेष योग नहीं दे सके।

बुद्धोत्तर हिन्दूकाल में इतना कुछ भी नहीं हुआ, कोई समाज का संस्कर्ता उत्पन्न ही नहीं हुआ। मुसलमानों के आगमन के बाद अवश्य कबीर, नानक तथा अन्य सन्तों के हाथों समाज– सुधार में किञ्चित् योगदान हुआ, किन्तु इसका कारण इस्लाम का प्रभाव था। अतः इन्हें हिन्दू-परम्परा के प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता है। हिन्दू परम्परा के प्रतिनिधि सन्तों ने तो उतना

भी नहीं किया था। इसके अतिरिक्त सन्तों की परम्परा ने जाने-अनजाने नये मूढ़ग्राहों को भी जन्म दिया था और विद्या प्रेम के स्थान पर अन्धश्रद्धा का प्रसार किया था।

दयानन्द कुरीतियों-कुधर्मों के खण्डन में मूसा और मुहम्मद के शब्दों से भी कड़े शब्दों का प्रयोग कर जाते, जिसके कारण उनकी जान सदा ख़तरे में रहती थी, किन्तु उनकी निर्भीकता, सत्याग्रहशीलता की यह दशा थी कि उनके चेहरे पर शिकन तक न आती थी और जिस मार्ग को वे सन्मार्ग समझ लेते थे उससे अणु-मात्र भी नहीं डिगते थे। असत्य और मूढ़ग्राह से समझौते का विचार तो उन्हें स्वप्न में भी नहीं आ सकता था। इसे देखते हुए कहा जा सकता है कि, शायद राममोहन राय को छोड़कर, इस स्तर का एक भी व्यक्तित्व भारत-भूमि पर अवतरित नहीं हुआ है। उनके देहावसान पर मादाम ब्लेवात्सकी (थियोसाफ़िकल सोसायटी की प्रवर्तिका) ने लिखा था– (दिनकर का अनुवाद) "जनसमूह के उबलते हुए क्रोध के सामने कोई संगमरमर की मूर्ति भी स्वामी जी से अधिक अडिग नहीं हो सकती थी। एक बार हमने उन्हें काम करते देखा था। उन्होंने अपने सभी विश्वासी अनुयायियों को यह कहकर अलग हटा दिया था कि तुम्हें हमारी रक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। भीड़ के सामने वे अकेले ही खड़े हो गये। लोग उतावले हो रहे थे, क्रुद्ध सिंह के समान वे स्वामी जी पर टूट पड़ने को तैयार थे, किन्तु स्वामी जी की धीरता ज्यों की त्यों बनी रही। ....यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामी जी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता; तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो। मादाम ब्लैवात्सकी का पूर्ण वक्तव्य उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :–

'At Banaras, a worshipper of Shiva, feeling sure that his cobra would at once make an end of the offender's life, triumphantly exclaimed : 'Let the God Vishnu (the snake God) himself show which of us is right !'

"Dayanand jerked off the cobra twisting round his leg and with a single vigorous movement crushed the reptile's head, 'Let him do so', he quietly asserted, 'your God had been too slow. It is I who have decided the dispute. Now go', added he, addressing the crowd,' and tell every one how I easily perish all false gods.' Truly a marble statue could not be less moved by the raging wrath of the crowd. We saw him once at work. He sent away all his faithful followers, and forbade them either to watch over him or to defend him, and stood alone before the infuriated crowd, facing calmly the monster, ready to spring upon him and tear him to pieces."

"It is perfectly certain that India never saw a more learned Sanskrit scholar, a deeper metaphysician, a more wonderful writer, and a more fearless denunciator of any evil, than Dayanand, since the time of Sankaracharya."[2]

यह है रिपोर्ट और ये हैं उद्‌गार उस विश्वप्रसिद्ध महिला के जिसका और जिसकी

---

2. एच. पी. ब्लैवेट्स्की, **The "Caves and Jungles of Hindustan, A Homage to Swami Dayanand Saraswati from India & the World" or *"Dayanand Commemoration Volume"*,** हरबिलास शारदा, सं. (अजमेर, 1933) पृ. 335 में उद्धृत

अन्तर्राष्ट्रीय संस्था (Theosophical Society) का स्वामी जी से गहरा मतभेद हो गया था। आधुनिक युग के इस सबसे बड़े हिन्दू की मृत्यु पर आधुनिक युग के सबसे बड़े मुसलमान सर सैय्यद अहमद खां के उद्गार कितने सटीक हैं :

"निहायत अफ़सोस की बात है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती साहेब ने जो ज़बाने संस्कृत के बहुत बड़े आलिम और वेद के बहुत बड़े मुहक्क़िक़ थे 31 अक्टूबर 1883 ई. को 6 बजे शाम को अजमेर में इन्तिक़ाल किया। अलावा इल्म व फ़ज़ल के निहायत नेक और दुर्वेशतब्म आदमी थे। उनके मोतीक़द उनको देवता जानते थे और बेशुब्हः इसी लायक थे। हिन्दू मज़हब में बहुत कुछ रिफ़ार्म किया था.....हमसे और स्वामी दयानन्द सरस्वती मरहूम से बहुत मुलाकात थी। हम हमेशा उनका निहायत अदब करते थे, क्योंकि ऐसे आलिम और उम्दा शख़्स थे कि हर मज़हब वाले को उनका अदब लाज़िम था।.......ऐसे शख़्स थे जिनका मिस्ल इस वक्त हिन्दुस्तान में मौजूद नहीं है। और हर शख़्स को उनकी वफ़ात का ग़म करना लाज़िम है कि ऐसा बेनज़ीर शख़्स उनके दर्मियान से जाता रहा।"[3] हाँ, तब तक **"सत्यार्थप्रकाश"** में 13वां और 14वां समुल्लास नहीं जुड़े थे।

आधुनिक काल में राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, आदि महान् समाज--संस्कर्ता के रूप में सामने आते हैं। राममोहन राय पर ईसाई धर्म का प्रभाव था, कई यूरोपीय भाषाओं के वह पण्डित थे, संस्कृत, फ़ारसी और अरबी के भी उच्च कोटि के विद्वान् थे। उनमें तुलनात्मक दृष्टि विकसित हुई, और वह व्यापक समाज-सुधार के प्रवर्तक हुए।

राममोहन राय के बाद दयानन्द का अवतार होता है। यह गुजराती ब्राह्मण विलक्षण व्यक्तित्व का धनी था। अंग्रेज़ी तो दूर, मातृभाषा और संस्कृत के अतिरिक्त कोई भाषा नहीं जानता था, हिन्दी बाद में सीखी। किन्तु उसके सुधारवादी अभियान ने भारत में एक भूकम्प ला दिया था। उसकी शिक्षा-दीक्षा प्राचीनतम पद्धति—पाणिनीय—पद्धति से हुई थी, किन्तु विचार और व्यवहार में वह राममोहन और सर सैय्यद के साथ युग का सबसे आधुनिक मानव था। कबीर और नानक जैसे सन्तों में जो समाज-सुधार की प्रवृत्ति दिखायी देती है वह प्रायः इस्लाम के प्रभाव के कारण है, किन्तु दयानन्द में ऐसी कोई बात नहीं थी। वह विशुद्ध हिन्दू चिन्तनधारा और हिन्दू संस्कृति के उपज थे। उन्हें आरम्भ में मुस्लिम और ईसाई संस्कृतियों का भी कोई साक्षात् परिचय नहीं था। अंग्रेज़ी सभ्यता ऐसे व्यक्तियों में आक्रोश की भावना उत्पन्न करती ही है, तथापि दयानन्द की समता का क्रान्तिकारी सुधारक अब तक हिन्दू समाज में नहीं पैदा हुआ। यह कह दिया जाय कि विवेकानन्द और राधाकृष्णन्, गाँधी और अरविन्द जैसे समसामयिक, पश्चिमी संस्कृत में दीक्षा प्राप्त विचारक भी हिन्दू मूढ़ग्राहों से कभी लोहा नहीं ले सका। ये देखते हुए दयानन्द एक दिव्य मानव प्रतीत होते हैं और हिन्दू परम्परा में एक चमत्कार (Fluke)।

---

3. अलीगढ़ इन्स्टीट्यूट गज़ट, खण्ड 18 ए, अंक 7 (9 नवम्बर 1883) पृष्ठ 1298

अध्याय – 6

शक्तिपात

हिन्दू जाति की समन्वय-दृष्टि और सर्वसङ्ग्राहक प्रवृत्ति का बहुत विरुदगान किया गया है, किन्तु यह दृष्टि अथवा यह प्रवृत्ति कितनी स्वस्थ है इस पर बहुत कम विचार हुआ है। अल्बैरुनी ने इस ओर कुछ इंगित किया है। हमारे युग में मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने अपने कुर्आन-भाष्य में इस सम्बन्ध में बड़े पते की बातें कही हैं। उन्होंने बतलाया है कि हिन्दू की सर्वसहिष्णुता और सर्वसहत्त्व के पीछे उसका सिद्धान्त-दौर्बल्य कार्यशील रहा है। इस सिद्धान्त-दौर्बल्य के कारण उसकी सदसद्-विवेकिनी बुद्धि दुर्बल होती गयी। फलतः हिन्दू जाति ग्रहण तो सब कुछ कर लेती है, चाहे वह चीज़ भली हो अथवा बुरी, किन्तु वह कोई तत्त्व त्याग नहीं सकती, चाहे उसके कारण उसकी कितनी ही बड़ी क्षति क्यों न हो रही हो। ऐसी जाति चूँ-चूँ का मुरब्बा होकर रह जाती है और विश्व के रङ्गमञ्च पर कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं ग्रहण कर पाती है। दयानन्द ने हिन्दू जाति की इस आन्तरिक दुर्बलता को लक्षित कर लिया था और उसे सबल सिद्धान्तवादी बना डालने की धुन में उन्होंने अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था।

जातीय संश्लेषण-सङ्ग्रन्थन का कार्य हिन्दू जाति को असङ्ख्य सम्प्रदायों के दलदल से निकाले बिना नहीं हो सकता था। अति प्राचीन सम्प्रदाय प्रायः प्रस्थान-भेद और अधिकार-भेद पर आश्रित पाये जाते हैं, जिनमें वैमनस्य विरल था। हिन्दू सम्प्रदायों का प्रवर्तन अधिकतर व्यक्ति पूजा पर आश्रित रहा है। उनके पीछे ठोस सैद्धान्तिक आधार का अधिकतर अभाव ही दिखाई देता है। ईसोत्तर भारत अर्थात् हिन्दू भारत में दर्शन-प्रवर्तन भी अधिकतर विजीगीषा-विखण्डयिषामूलक ही रहा है। सत्यान्वेषण की उदात्त भावना से प्रेरित होकर धार्मिक अथवा दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रवर्तन की आवश्यकता अनुभव करने वाले कम ही हुए हैं। इतनी समृद्धिशाली परम्परा में सम्प्रदाय–प्रवर्तन का औचित्य वहीं हो सकता है, जहाँ कोई अपनी पूरी धार्मिक-दार्शनिक थाती का सम्यक् सर्वेक्षण करने के बाद किसी नये मार्ग की बदलती आवश्यकता अनुभव करे। अन्यथा पल्लवग्राही धर्माचार्यों द्वारा सम्प्रदाय-प्रवर्तन का कोई औचित्य नहीं है। विवेकानन्द ने लिखा था कि सम्प्रदायों की बाढ़ से घबराना नहीं चाहिए और उस दिन की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब प्रत्येक व्यक्ति का अपना अलग सम्प्रदाय होगा, ताकि धर्म एकदम व्यक्तिगत मामला बनकर रह जाये। यह आदर्श यूँ तो बहुत आकर्षक लगता है, किन्तु है विचारासह। पहली बात जो इसके विरुद्ध जाती है वह यह है कि सम्प्रदायिकता इस रूप में परिणत हो ही नहीं सकती है। दूसरी बात यह है कि जिस समाज में धार्मिक एकता इतनी छिन्न-भिन्न होगी वह कोई महान् धार्मिक-सांस्कृतिक अनुष्ठान करने

में असमर्थ होगा। तीसरी बात यह है कि मार्मिक से मार्मिक विचार पङ्गु होता है जब तक कि वह समाज में रूढ़ अथवा बद्धमूल न हो जाय, वह संस्थाबद्ध न हो जाय। वस्तुतः अन्तजर्गत् के व्यापार जब तक बहिर्जगत् की घटनाओं का रूप नहीं लेते, जब तक बहिर्जगत् में घटित नहीं हो जाते, तब तक वे अकिञ्चित् रहते हैं। अस्तु, दयानन्द ने हिन्दू जाति में एकता और प्रभविष्णुता के आधार के लिए सम्प्रदायों की बाढ़ को रोकने का जितना प्रयत्न किया है उतना इस देश में शायद ही कभी किसी ने किया हो। पूर्ववर्ती दार्शनिकों और धर्माचार्यों की सम्प्रदायोन्मूलन में वैसी रुचि नहीं थी। वे एक ओर अधिकार-भेद को पराकाष्ठा तक ले जाते हुए सब कुछ सहन करने को तैयार थे तो दूसरी ओर भारत में हाहाकार मचाने वाले धर्मों से जाति की रक्षा की भी आवश्यकता नहीं समझते थे, किन्तु दयानन्द में यह बात नहीं थी। उन्होंने सम्प्रदायों के उन्मूलन के लिए शास्त्रार्थों की धूम मचा दी थी। खेद है कि उनके इस कार्य का यथोचित मूल्याङ्कन नहीं किया जा सका है।

अध्याय – 7

आक्रामक हिन्दुत्व

हिन्दू धर्म की गणना एक स्थितिस्थापक, अगतिशील (Passive) धर्म के रूप में होती है। यह एक अप्रसरणशील धर्म था जो दूसरों की मार ही सह सकता था, किसी स्तर पर आक्रान्त बनने की शक्ति इसमें थी ही नहीं। दयानन्द ने इतिहास में प्रथम बार हिन्दू धर्म को एक प्रगतिशील (active) और आक्रमण में क्षम धर्म का रूप देने की चेष्टा की थी। उनके प्रादुर्भाव के पूर्व हिन्दुओं की दशा बड़ी ही दयनीय थी। हिन्दू पर हर प्रकार के अत्याचार अन्यों द्वारा किये जाते थे और वह अपने को एकदम असहाय पाता था। संघटन-सङ्ग्रन्थन का उसे कोई अनुभव नहीं था। दयानन्द प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दू सङ्घटन-सङ्ग्रन्थन की नींव डाली। हिन्दुओं पर अन्य धर्मों की ओर से सदा आक्षेप हुआ करते थे, जिनका उत्तर किसी के पास नहीं था। हिन्दू धर्म एक सर्वसङ्ग्रही धर्म है। जहाँ तक आचार-विचार का प्रश्न है, यह ग्रहण करना ही जानता है, त्यागना नहीं। फलतः इसमें सड़े-गले तत्त्वों की दिनानुदिन वृद्धि होती गयी। दयानन्द के पूर्व कोई ऐसा नहीं हुआ जो इसमें काट-छांट करके इसे एक सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत रूप दे सकता। दयानन्द पहले महानुभाव हैं जिन्होंने किसी विशिष्ट सम्प्रदाय की प्रतिष्ठापना के चक्कर में न पड़ पूरे धर्म, पूरी जाति, को शोधने में प्राणों की बाज़ी लगा दीं थी। अपनी इस विशेषता के कारण वह इस्लाम और ईसाइयत की ओर से आने वाले आक्षेपों की बाढ़ का डटकर मुकाबला कर सके। यह एक सुविदित तथ्य है कि कई पढ़े-लिखे हिन्दू ईसाइयों की ओर से होने वाले आक्षेपों का उत्तर न दे सकने के कारण ईसाई बन गये। अनन्तराम नामक हिन्दू 1848 में ओबेदुल्लाह बनकर हिन्दुओं के विरुद्ध ***"तोहफ़तुल हिन्द"*** नाम की पुस्तक लिख गया। उसका मुंशी इन्द्रमणि जैसे अप्रतिम हिन्दू विद्वान् से टकराव भी हुआ था, किन्तु वह परास्त नहीं किया जा सका था। दयानन्द के प्रताप से हिन्दू जाति में पहली बार एक व्यापक पैमाने पर आत्मविश्वास का सञ्चार हुआ और हिन्दू यही नहीं कि मुसलमानों और ईसाइयों की ओर से हो रहे आक्रमण का उत्तर देने के लिए सन्नद्ध हो गया अपितु उन पर अपनी ओर से सीधे प्रहार करने की स्थिति में भी हो गया। पं. चमूपति ने इस स्थिति का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है– "आर्य समाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुसफुसिया जीव था। उसके मेरुदण्ड की हड्डी थी ही नहीं। चाहे कोई गाली दे, उसकी हँसी उड़ाये, उसके देवताओं की भर्त्सना करे, या उसके धर्म पर कीचड़ उछाले जिसे वह सदियों से मानता आ रहा है, फिर भी इन सारे अपमानों के सामने वह दांत निपोर कर रह जाता था। लोगों को यह उचित शङ्का हो सकती थी कि यह आदमी भी है या नहीं, इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं, अथवा वह गुस्से में

आकर प्रतिपक्षी की ओर घूर भी सकता है या नहीं। किन्तु आर्य समाज के उदय के बाद, अविचल उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गयी।[1]

हिन्दू जाति में व्रत-बोध (sense of mission) की कमी सदा से रही है। पूरी जाति का कभी कोई निश्चित व्रत, निश्चित लक्ष्य नहीं रहा। अतः वह विश्व इतिहास में उतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं ग्रहण कर सकी जिसके लिए वह अन्यथा अधिकारिणी थी। दयानन्द प्रथम हिन्दू थे, जिन्होंने इस कमी को लक्षित किया और आर्य जाति की व्रत-भावना, **"कृण्वन्ती विश्वमार्यम्"** की ओर उसका ध्यान आकृष्ट कर उसे व्रती बनाने का अभूतपूर्व कार्य किया। यद्यपि इस वेदमन्त्रांश का मूल अर्थ कुछ और ही है। यह दूसरी बात है कि उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। मुस्लिम अत्याचारों का प्रतिरोध करने के स्थान पर हमारी पुरुषार्थहीन जाति देवी-देवताओं की गुहार करने लगी–

"म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर् मम।।
गङ्गादितीर्थवर्य्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिर् मम।।[2]

उर्दू कवि कहता है–

यह मिस्रा लिख दिया किस श्लोक ने
मिहराबे मस्जिद पर
ये नादां गिर गये सज्दे में
जब वक़्ते क़ियाम आया

---

1. The Hindu at the time of the advent of the Arya Samaj, was a week-kneed creature. He miserably lacked the backbone. You might revile him, ridicule him, caluminate the gods he worshipped, throw mud on the faith he has idolised for centuries, yet he would manifest in the face of all this humiliating vilification an attitude undisturbably supine which would make one doubt whether he was a living being with power to feel and, if need be, to turn round. (Chamupati, 'The Arya Samaj', *The Cultural Heritage of India*", ed. & pub. by Sri Ram Krishna Centenary Committee, Vol. II, Calcutta, n.d., p.423)
2. बल्लभ, श्रीकृष्णाश्रयकाव्यम्, 2–5, *बल्लभगीता*, पृ. 47–48.

अध्याय – 8

तुलनात्मक धर्म–धारा

विशुद्ध हिन्दू परम्परा में केवल दयानन्द का कृतित्व ऐसा है जो सब धर्मों की तुलना करते हुए हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता-गरिमा का डिण्डिम-घोष करता है। ईसाई पादरी, लोगों के घरों में पहुँचकर हिन्दू धर्म का खण्डन किया करते थे। दयानन्द की विलक्षण प्रतिभा का चमत्कार देखिये कि हिन्दू उन्हें खुलकर चुनौती देने और रगड़ने लगा। कुछ ही दिनों के बाद यह स्थिति आ गयी कि ईसाइयों में और मुसलमानों में भी हिन्दू पण्डितों को छेड़ने की ताब जाती रही।

दयानन्द भारत में तुलनात्मक धर्मविधा के प्रथम प्रवर्तक माने जाने चाहिये। धर्मों-सम्प्रदायों की कूपमण्डूकता पर इतना सबल वज्रप्रहार संसार के किसी महापुरुष ने नहीं किया होगा। धर्म-पुरुषों में बुद्ध के बाद स्वामी दयानन्द की यह विशुद्ध अपनी विशेषता है कि उन्होंने धर्म के ग्रहण और त्याग में आँख और कान खुले रखकर चलने की चेतावनी दी। विवेकानन्द ने तो यह गुर पश्चिम से लिया था। यह एक विचित्र सी बात है कि हिन्दुओं का सम्पर्क मुसलमानों के साथ हज़ार-बारह सौ वर्ष पुराना है, किन्तु उन्होंने मुस्लिम धर्म और दर्शन में दयानन्द युग के पूर्व कभी कोई रुचि नहीं ली। हमारे दार्शनिक पण्डितों ने चार्वाक, बौद्ध और जैन सबकी यथेष्ट आलोचना की, किन्तु इस्लाम की आलोचना-प्रत्यालोचना की ओर उनका ध्यान कभी गया ही नहीं। अपने को हिन्दुत्व और इस्लाम दोनों से परे अथवा दोनों का सङ्गम अथवा स्पष्ट रूप से मुस्लिमभावापन्न सन्तों की बात और है। विशुद्ध हिन्दू परम्परा के प्रतिनिधि धर्माचार्यों में दयानन्द प्रथम, बल्कि कहना चाहिए कि प्रथम और अन्तिम, व्यक्ति हैं जिन्होंने इस्लाम और ईसाइयों का भी यथाशक्ति अनुशीलन-परिशीलन-पर्यालोचन किया और उसमें अपने सिद्धान्तों को व्यवस्थित करने में लाभ भी उठाया। मुक्ति से पुनरावृत्ति का सिद्धान्त, जहाँ तक मुझे पता है, मिर्ज़ा गुलाम अहमद क़ादियानी की चुनौतियों का परिणाम था।

उनके पूर्व शास्त्रार्थों की दशा भी शोचनीय हो गयी थी। शास्त्रार्थ विशुद्ध मल्ल युद्ध और वागाडम्बर का रूप धारण कर चुके थे। खोखला पाण्डित्य-प्रदर्शन शास्त्रार्थों की एकमात्र विशेषता रह गयी थी। दार्शनिक शास्त्रार्थों में भी पिटी-पिटायी, रटी-रटायी एकांगी शैली का ही दौर-दौरा था। हिन्दू पण्डित हिन्दुओं में और अहिन्दू अहिन्दुओं में ही शास्त्रार्थ करते थे। सबको हिन्दुओं पर कीचड़ उछालने की खुली छूट थी। हिन्दुओं और अहिन्दुओं में एक दूसरे की धर्म-पुस्तकों का सर्वेक्षण कर सदसद्विवेक के उद्देश्य से शास्त्रार्थ करने की परम्परा की बुनियाद ही नहीं पड़ी थी।

दयानन्द ने सभी धर्मों की दिव्य पुस्तकों का यथासाध्य अनुशीलन-आलोचन किया और सत्यार्थ की खोज की दृष्टि से शास्त्रार्थों की धूम मचायी। हिन्दू जाति प्रायः एक कल्पनोपजीवी जाति है, यह प्रयोगों-परीक्षणों की अपेक्षा कल्पना की उड़ान भरने की ओर अधिक प्रवृत्त रहती है। फलतः यहाँ प्रयोगात्मक-परीक्षणात्मक विज्ञान का विकास नहीं हो सका। यहाँ उत्तरकुरुओं की बड़ी चर्चा रही है, यद्यपि उत्तरकुरुओं का साक्षात् परिचय प्राप्त करने की लालसा हमारे पण्डितों में शायद ही कभी हुई है। यौगिक सिद्धियों का हमारे यहाँ बड़ा बखान है और योग हमारे विचारकों के हाथ में एक ऐसा चमत्कारी हथियार रहा है जिसकी दुहाई देकर वे अपनी हर समझ में न आने वाली बात का पोषण करते रहे हैं। योग हमारे बौद्धिक प्रमाद का सबसे बड़ा कारण बन गया था, बल्कि अभी भी है। हमने कभी विधिवत् प्रयोग द्वारा यह देखने-दिखाने की चेष्टा नहीं की कि वास्तव में योग-सम्बन्धी दावे कहाँ तक साम्प्रत हैं। दयानन्द प्रथम हिन्दू दिखायी देते हैं जिन्होंने हठयोग-साहित्य में उल्लिखित नाड़ी-विज्ञान की जाँच के लिए एक मुर्दे की चीर-फाड़ की और प्रयोग से उक्त विज्ञान के भ्रामक सिद्ध होने पर तत्सम्बन्धी पुस्तकों को नदी में प्रवाहित कर दिया। शंकर के परकाय-प्रवेश से सम्बद्ध किंवदन्ती कहाँ तक सत्य है, ऐसा प्रश्न उठने पर स्वामी जी ने अन्यों के समान झट सकारात्मक उत्तर नहीं दे डाला, बल्कि यह कहा कि वे स्वयं अपनी सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति शरीर के किसी एक बिन्दु पर केन्द्रित कर सकने की क्षमता रखते हैं और हो सकता है कि कोई अधिक बड़ा योगी उसे अपने शरीर से निकालकर दूसरे शरीर तक भी ले जा सके।

अध्याय – 9

मूर्ति की माया

दयानन्द का बौद्धिक साहस अदम्य था। वह आधुनिक भारत की सबसे साहसपूर्ण प्रतिभा के रूप में हमारे सामने आये हैं। उनका त्रैतवाद, मुक्ति से पुनरावृत्ति का सिद्धान्त, ब्राह्मण-ग्रन्थों को वेदत्व से ख़ारिज करना, पुराणों को धर्म की दृष्टि से अप्रमाण मानना, अवतार-खण्डन, मृतकश्राद्ध-खण्डन, जन्मना जातिवाद का खण्डन और उसके स्थान पर कर्मणा वर्णवाद की प्रतिष्ठापना उनके बौद्धिक साहस और मौलिक दृष्टिभंगी के ज्वलन्त उदाहरण हैं। मूर्तिपूजा पर इतना ज़बरदस्त बौद्धिक प्रहार संसार में कभी नहीं देखा गया था। इस्लाम अपने को सबसे बड़ा मूर्ति-भञ्जक घोषित करता फिरता है, किन्तु मुहम्मद से लेकर मौदूदी तक इस्लाम की ओर से एक भी प्रमाण-पुरस्सर ग्रन्थ मूर्तिपूजा के खण्डन में नहीं लिखा गया। दयानन्द की प्रतिभा मूर्तिपूजा के इतने सशक्त खण्डन की दृष्टि से संसार के इतिहास में बेजोड़ है। विशुद्ध हिन्दू-परम्परा में तो मूर्तिपूजा का विरोध करने वाली एक भी प्रतिभा के दर्शन नहीं होते, यद्यपि हमारे शास्त्रों में कहीं-कहीं मूर्तिपूजा को निकृष्ट कोटि की पूजा अवश्य बतलाया गया है– निकृष्ट कोटि की पूजा अर्थात् निम्न कोटि के उपासकों के लिए ही आवश्यक पूजा-विधि।

मूर्ति-पूजा वैसे तो एक सीधी-सादी वस्तु लगती है। निराकार के ध्यान का अभ्यास बिना किसी दृश्य आलम्बन के कैसे करें, यह प्रश्न सबके मन में उठता है और इस दृष्टि से मूर्तिपूजा का औचित्य सिद्ध भी हो सकता है। व्यवहार से परे रहकर शुद्ध शास्त्रीय (academic) दृष्टि से तो इस विचारणा में कोई दोष दिखायी नहीं देता, किन्तु क्या इतनी सी बात दयानन्द के ध्यान में नहीं आयी। व्यवहार में मूर्तिपूजा सभी प्रकार के धार्मिक अनाचारों की जननी दिखायी देती है। पण्डों और पुजारियों के कुख्यात बीभत्स काण्डों के पीछे मूर्तिपूजा का ही हाथ दिखायी देता है। आरम्भ में तो मूर्ति को ध्यान का आलम्बन मानकर चला जा सकता है, किन्तु कालक्रम से मूर्ति देवता का एकदम स्थान ले लेती है और उसे हम आलम्बन अथवा प्रतीक रूप में नहीं साक्षात् देवता के रूप में मानकर अनेक मूर्खताओं के जाल में फँस जाते हैं। वस्तुतः केवल ध्यान-सौकर्य के लिए मूर्ति का प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता है, योग-साधना के लिए भी नहीं। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय की अर्चावतार-कल्पना से स्पष्ट हो जाता है कि मूर्ति केवल ध्यान का आलम्बन नहीं, साक्षात् देवता हैं। यह कथन भी अत्युक्तिपूर्ण है कि मूर्तिपूजा ही जनसाधारण के लिए ध्यान और उपासना का घर खोलती है। सामी धर्म– यहूदी, ईसाई और इस्लाम– इस धारणा के लिए स्थायी चुनौती हैं। यह कोई तर्क नहीं कि वेद आदि में पुरुषविध देवताओं की कल्पना का प्राचुर्य है। यह्व, गाड और

अल्लाह भी साकार ही कल्पित हैं, तथापि यहूदी, ईसाई और मुसलमान मूर्तिपूजक नहीं हैं। हमारे मन्दिर या तो व्यवसाय केन्द्र हैं या धूर्त पण्डों-पुजारियों के अड्डे। कौन सा कुकर्म वहाँ नहीं होता है ? ज़रा मस्जिदों और गिरजाघरों से तुलना तो करके देखिये कि वास्तविक ध्यान-भूमि, वास्तविक उपासना-भूमि क्या होती है। हमारे तो देवता भी चोरी जाने लगे हैं, देवपूजको-देवलकों के ही हाथों। मन्दिरों, मठों और तीर्थों ने हिन्दू धर्म को जितना विकृत किया है उतना शायद ही उसकी किसी अन्य संस्था ने किया हो। वस्तुतः तुरुष्क-मुग़ल युग में मन्दिरों और मूर्तियों के ध्वंस से जनित अवसाद और अपने उपास्यों की दुर्दशा से उत्पन्न अनास्था ने हिन्दू जाति की कमर तोड़कर रख दी थी। दयानन्द में इस तथ्य की उत्कट चेतना थी। अतः उनका मूर्तिपूजा-खण्डन एक सर्वथा सामयिक और सार्थक घटना रही है।

वैदिक संहिताओं में मूर्तिपूजा है अथवा नहीं, इस पर एक दृष्टि से तो विवाद की गुंजाइश ही नहीं है। वेद-संहिताओं, प्राचीन ब्राह्मणों, प्राचीन आरण्यकों, प्राचीन उपनिषदों, प्राचीन कल्प-सूत्रों में कहीं भी मन्दिर-निर्माण, मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा, मूर्ति पर पत्र, पुष्प, तोय, नैवेद्य चढ़ाने, मूर्ति को दीप दिखाने आदि का प्रसङ्ग नहीं आता है। वस्तुतः वैदिक परम्परा के ही ईरानी संस्करण अवेस्ता में भी मूर्तिपूजा का विधान नहीं है। यूनानियों के सम्पर्क से ईरान में जब मूर्तिपूजा का प्रचार हुआ तब राज्य-सत्ता ने कितनी कड़ाई से उसका उच्छेद किया था, यह इस्फ़िन्दियार की रुस्तम के प्रति गर्वोक्ति से स्पष्ट हो जाता है, जो इस प्रकार है, "मैंने धर्म की रक्षा के लिए कमर बाँधी और पृथ्वी को मूर्तिपूजकों से रिक्त कर दिया"—

नख़ुस्तीं कमर बस्तम अज़ बहे दीं
तिही कर्दम अज़ बुतपरस्ताँ ज़मीं

एक अन्य दृष्टि से वेद और मूर्तिपूजा विषय पर कुछ विशेष कथनीय है, जिसकी ओर पण्डितों का ध्यान शायद ही गया हो। वेद में मूर्तिपूजा है अथवा नहीं, यह प्रश्न वस्तुतः ग़लत तरीक़े से उठाया गया है। यदि वेद में मूर्तिपूजा नहीं है, तो क्या हुआ ? इससे मूर्तिपूजा अवैदिक अथवा वेदविरुद्ध कहाँ होती है ? वेद में तो दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सन्ध्या भी नहीं है, तो सन्ध्या वेदविरुद्ध क्यों नहीं ? और सन्ध्या ही क्यों, स्वामी जी ने "स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश" में अपने लगभग 51 सिद्धान्तों की तालिका दी है। उनमें शायद ही कोई सिद्धान्त मिले जो वेद में दिखलाया जा सके। तो क्यों नहीं उन सबको वेदविरुद्ध मान लिया जाये ?

इसके अतिरिक्त वेद में जड़पूजा तो है ही। जड़पूजा अर्थात् सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, विद्युत्, नक्षत्र, उषा आदि जड़ प्रकृति की पूजा। मूर्तिपूजा जड़पूजा का ही एक भेद है। मूर्तियाँ बनाने की परम्परा वैदिक काल के बाद बढ़ी है और इसीलिए मूर्तिपूजा भी वैदिक काल के बाद बढ़ी है। आरम्भ में ही लिखा जा चुका है कि स्वामी जी पहले देवता, उनकी उपासना, स्वर्ग में उनके निवास की आस्था रखते थे। बाद में भी वह कम से कम नक्षत्रपूजा के समर्थक रहे। वस्तुतः स्वामी जी ने स्वयं *"संस्कारविधि"* में नक्षत्र-पूजा का विधान किया है।

तब काशी के पण्डित दयानन्द की चुनौती का उत्तर क्यों नहीं दे पाये ? इसलिए कि उन्होंने वेद का स्वाध्याय उस प्रकार किया ही नहीं था जिस प्रकार व्याकरण, न्याय आदि का। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी लिखते हैं, "जब सरकार ने संस्कृत विद्या के प्रचार के लिए क्वीन्स कॉलेज खोला तब पादरियों ने शोर मचाया था कि क्रिस्तान सरकार हीदन (अधर्मी) हिन्दुओं के धर्म का प्रचार न करे, इसी से क्वीन्स कॉलेज में व्याकरण, न्याय आदि के पाठन का प्रबन्ध होने पर भी वेद और मीमांसा की गद्दियाँ नहीं स्थापित हुई थीं। काशी का अभाग्य और भारतवर्ष की गवर्नमेण्ट का अभाग्य ! नहीं तो कोई बालशास्त्री या कोई बापूदेव वेदों का भी निकल आता और जो खोजें जर्मनी में हुई हैं वे काशी में होतीं। और न वह समय ही आता जब एक वेदपाठी गुजराती संन्यासी काशी के पण्डितों को खसूचि बनाकर छोड़ जाता।"[1] स्वामी जी का प्रश्न सुनकर काशी के पण्डित आकाश की ओर देखने लगते (खसूचि) अर्थात् बग़लें झांकने लगते।

---

1. ज्वलन्त कुमार शास्त्री, **"ऋषि दयानन्द के सम्बन्ध में गुलेरी जी के लेख"** *आर्यमित्र*, ऋष्यङ्क, 16 नवम्बर 1987, पृष्ठ 17

अध्याय – 10

राष्ट्र–सङ्कट की संवेदना

अवतारवाद हमारी अकर्मण्यता के लिए सर्वाधिक उत्तरदायी प्रतीत होता है। हम मनुष्य कुछ नहीं कर सकते, हाथ पर हाथ धरे अवतार की प्रतीक्षा करते रहने के सिवा कोई विकल्प नहीं– इस मानसिकता ने हमारे पौरुष की मानो भ्रूण हत्या ही कर दी थी। जब समस्त राष्ट्र तुरुष्काक्रान्त होकर "त्राहि माम्, त्राहि माम्" चिल्ला रहा था, तब वल्लभाचार्य राष्ट्र के पौरुष का आह्वान न करके "कृष्ण एव गतिर्मम" का जाप कर रहे थे। और वह भी सुदर्शन-सन्धायक, गीता-गायक, कृष्ण का नहीं बल्कि गोपी-नीवीबन्धन-मोचक कृष्ण का। धन्य हैं दयानन्द जिन्हें इसकी चेतना हुई कि जाति का उद्धार सुदर्शन-सन्धायक, गीता-गायक, कृष्ण के हाथों ही सम्भव है, नीवीबन्धन-मोचक कृष्ण के हाथों नहीं। तदर्थ उन्होंने *श्रीमदभागवत* जैसे महत्त्वपूर्ण पुराण को भी कुर्बान कर दिया था। वस्तुतः राष्ट्र और संस्कृति की रक्षा किसी भी पुराण से बड़ी चीज़ है।

वस्तुतः हमारे धर्म ध्वजों को राष्ट्र-सङ्कट का कभी बोध ही नहीं हुआ था। वे जाति को मूढ़ग्राहों की ज़ंजीर में जकड़ते गये, और समूची जाति सहस्र वर्ष पर्यन्त आक्रामकों द्वारा पदाक्रान्त होती रही। यह दयानन्द का ही प्रताप है कि जाति की आँखें इस कटु तथ्य की ओर पहली बार खुलीं और यह हमारे कलियुगी नेताओं का अभिशाप है कि वह पुनः बन्द हो गयी हैं। काश कि वे आज अधखुली भी होतीं।

पुरानी परम्पराओं को सब कुछ समझने वाला पण्डित यह कभी नहीं मान सकता है कि आर्यों का प्रादुर्भाव आर्यावर्त के बाहर हुआ था। आधुनिक शैली के इतिहासकार ही आर्यों को विदेश से आया हुआ मानने के पक्ष में हैं। कितनी विलक्षण बात है कि स्वामी दयानन्द जैसा कट्टर हिन्दू जिसे अंग्रेज़ियत की हवा भी न लगी हो, आर्यों का मूल निवास-स्थान तिब्बत घोषित करता है, यद्यपि साथ ही साथ यह भी मानता है कि भारत में आर्यों के प्रवेश के पूर्व यहाँ कोई अन्य जाति नहीं निवास करती थी।

वस्तुतः दयानन्द की प्रतिभा असाधारण थी। कहा तो यह भी जा सकता है कि ईसोत्तर भारत में उनकी कोटि का प्रस्थान-निर्माता शायद ही कोई अन्य हुआ हो। क्या समाज-शास्त्र, क्या राज्य-शास्त्र, क्या शिक्षा-शास्त्र, क्या धर्म-शास्त्र, सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के चमत्कार दिखलाये थे और एक पुनर्विचारित, सम्पूर्ण जीवन-दर्शन देने का प्रयत्न किया

था। शंकर और रामानुज जैसी क्रान्तिकारिणी प्रतिभाओं ने भी लीक से हटकर एक सर्वसङ्ग्राहक, साङ्गोपाङ्ग जीवन-दर्शन उद्भाषित करने की योग्यता नहीं दिखलायी थी, किन्तु दयानन्द ने जीवन के किसी भी क्षेत्र को अस्पृष्ट नहीं छोड़ा था और सबका जायज़ा लेते हुए हमारे सामने एक अत्यन्त व्यापक प्रस्थान उपस्थित किया था, चाहे उससे कोई कितना भी असहमत हो। उनके किसी-किसी सिद्धान्त को लेकर पूरा का पूरा प्रस्थान उद्भावित हो सकता है, उनका कर्मणा वर्णवाद डॉ. भगवानदास के प्रस्थान का सर्वस्व है। उनके द्वारा प्रस्तावित तथा उनके सुयोग्य अनुयायी स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा कार्यान्वित शिक्षा-शास्त्र आधुनिक भारत का सबसे मौलिक शिक्षा-शास्त्र माना जा सकता है, यद्यपि इसकी सीमायें पर्याप्त प्रखर हैं।

वस्तुतः दयानन्द अपने युग के अत्याधुनिक ही नहीं, शायद सर्वाधिक आधुनिक भारतीय थे, यद्यपि वे आधुनिक भाषाओं और साहित्य से सर्वथा अपरिचित थे। उन्होंने आर्यत्व के सभी सजीव तत्त्वों को आत्मसात् करते हुये आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अनेक सजीव तत्त्वों की स्वयं उद्भावना की थी और स्वतः एक अत्याधुनिक विचारक के रूप में आधुनिकता की प्रगति में योगदान करते रहे थे, आधुनिकता का पथ प्रशस्त करते रहे थे।

आर्यत्व-आर्षत्व की खोज उनका परम लक्ष्य था। वह भारतीय इतिहास के दो कालिक विभाग करते थे, जैमिनि से पूर्व का भारत और उनके बाद का भारत। वे जैमिनि-पूर्व भारत को ही अपना आदर्श मानते थे। अतः आर्यदृष्टि और आर्षदृष्टि के वह सदा हिमायती रहे थे। इतना तो हमें भी प्रतीत होता है कि ईसा के पूर्व के भारत और ईसा के बाद के भारत में कई दृष्टियों से पूर्व और पश्चिम का भेद है। इतना तो सभी मानेंगे कि भारतीय विचारधारा में जो कुछ मौलिक है उसका अधिकांश ईसा पूर्व भारत की देन है, ईसोत्तर भारत में तो उसका प्रपञ्चन-व्याख्यापन ही अधिक हुआ है। इसे देखते हुए ईसा-पूर्व भारत में कोई विशेषता अवश्य होनी चाहिए जो दयानन्द को बरबस आकृष्ट करती रही और अब भी बहुतों को करने लगी है।

अन्त में हम अपने समसामयिकों से ज़ोरदार अपील करके अपनी बात समाप्त करेंगे कि वे दयानन्द जैसी विलक्षण प्रतिभा के योगदान का पुनर्मूल्याङ्कन करते हुए आधुनिक भारत के नवनिर्माण में उनसे प्रेरणा ग्रहण करने का उपक्रम करें। उनके प्रति मेरी अधोलिखित श्रद्धाञ्जलि में भी मेरा साथ दें :—

धृतव्रतो, महाप्राणो, महात्मा, धर्मधूर्वहः।
पुरोधा युगधर्मस्य, ज्योतिःस्तम्भस् तमोयुगे।।
संस्कृतेः प्रतिसंस्कर्ता, ऽद्यतनार्याग्रणीमहान्।
आर्यत्वोद्धारपद्धत्या आद्यद्रष्टा कलौ युगे।।
उच्छयिता पताकां चान्वर्थं पाखण्डखण्डिनीम्।
दयानन्दो मुनिस् तत्त्वो वन्द्यो भारतीयैर् युगे युगे।।
हुतात्मानौ दयानन्द-श्रद्धानन्दौ तु विस्मृतो।
श्रद्धिता राष्ट्रभङ्क्तारो, धिग् धिक् श्रद्धा-विपर्ययम्।।

आर्य सन्मार्ग–सन्दर्शिनी सभा कलकत्ता

22 जनवरी 1881 ई. को सिनेट हाल, राजधानी कलकत्ता में 200 रईसों और 300 चोटी के पण्डितों ने सभा की और उसमें स्वामी दयानन्द की विचारधारा के विरुद्ध निर्णय किया। इसमें पांच प्रश्न रखे गये थे जिनका उत्तर श्रीराम सुब्रह्मण्य शास्त्री ने दिया था। सभा के प्रबन्धक प्रिंसिपल महेशचन्द्र न्यायरत्न थे। उसमें पं० तारानाथ तर्कवाचस्पति, जीवानन्द विद्यासागर, भुवनचन्द्र तर्करत्न और वृन्दावन के सुदर्शनाचार्य सहित तीन सौ पण्डित सुशोभित थे। यद्यपि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बाबू राजेन्द्र लाल मित्र सभा में नहीं पधारे थे, तथापि उन्होंने सभा की कार्यवाही को हृदय से स्वीकार किया था।

कृपाराम स्वामी ने स्वामी दयानन्द को लिखा था कि उक्त प्रश्नों के उत्तर प्रकाशित करें। स्वामी जी ने उन्हें 31 मार्च 1881 को लिखा था कि "कलकत्ते की सभा आदि के साथ हमको लिखने छपवाने का अवकाश नहीं, वेदभाष्य का काम बहुत है। तुमको अवकाश हो लिखो छपवाओ",[1] तथापि सभा को एक लम्बा-चौड़ा उत्तर भेजा गया जो पं० लेखराम कृत जीवनचरित्र हिन्दी पृ. 671-696 में छपा है। इस सम्बन्ध में पं० लेखराम पृष्ठ 678 पर लिखते हैं "समस्त उत्तर और प्रश्न उनके उन प्रत्युत्तरों सहित जो आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द जी की ओर से दिये गये थे पाठकों की भेंट करते हैं।" पं० युधिष्ठिर मीमांसक इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ये उत्तर स्वामी दयानन्द के लिखे हुए हैं। इसकी पुष्टि में मीमांसक जी यह तर्क भी देते हैं कि जो उत्तर दिये गये हैं वे इतने प्रौढ़ हैं कि उस समय स्वामी जी का कोई भी अनुयायी ऐसा लिख नहीं सकता था। वे उत्तर मीमांसक जी ने ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग के पृष्ठ 863-899 में प्रकाशित कर दिये हैं।

वस्तुतः ये उत्तर अपनी प्रौढ़ता में अपनी समता नहीं रखते हैं, किन्तु उनकी शैली देखकर यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि वे स्वामी जी के लिखे अथवा लिखवाये हो नहीं सकते। शैली नितान्त प्रमाण-पुरस्सर और शालीन है। उसमें उस आक्रोश का कहीं पता नहीं जो स्वामी जी की शैली की विशेषता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों को वेद-भिन्न सिद्ध करते समय कुछ नयी बातें भी कही गयी हैं, जिनका स्वामी जी के लेखन-भाषण में कहीं पता नहीं है, यद्यपि स्वामी जी के मत के प्रतिकूल नहीं हैं। यथा, लेखक का कहना है कि 'वेद के आदि भाष्यकार "ब्रह्मवादी"

---

1. "ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन", द्वितीय भाग, भगवद्दत्त, सं० युधिष्ठिर मीमांसक, परिष्कर्ता एवं परिवर्धक (तृतीय सं. बहालगढ़, रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1981), पृ. 493

कहलाते थे और उन्हीं के नाम पर उनके भाष्यों का नाम ब्राह्मण रखा गया।"[2] दूसरा तर्क "ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मणों के समूह से भी है। आश्चर्य नहीं कि ब्राह्मण ग्रन्थ भी प्रामाणिक ब्राह्मणों के समूह में स्वीकृत होकर प्रकाशित किये गये हों और ब्राह्मणों के नाम से प्रसिद्ध हुए हों।"[3]

उक्त लेख की जो सबसे बड़ी विशेषता है उसकी ओर मीमांसक जी का ध्यान कैसे नहीं गया, यह आश्चर्य का विषय है। जो भी इसे पढ़ेगा उस पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसका रचयिता ऐसा व्यक्ति है जो उर्दू का विद्वान् है और वह भी इस सीमा तक कि उसको रचना पर उर्दू रचना की स्पष्ट छाप है। मौलवियों और उर्दू के पुराने लेखकों का आम मुहावरा है, 'मुश्ते नमूनः अज खरवारे', अर्थात् 'ढेर में से एक मुट्ठी नमूना।' ठीक यही मुहावरा हमारे लेखक ने प्रयोग किया है हिन्दी वाले 'राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द' लिखते हैं किन्तु हमारे लेखक ने "राजा शिवप्रसाद साहब सितारये हिन्द" लिखकर "सितारे" को "सितारये" से शोध दिया है जो उर्दू का ही लेखक कर सकता था। एक स्थान पर आता है, "ईश्वर की शरण"[4] जो स्पष्ट ही "खुदा की पनाह" का भाषान्तर है। आगे "हमारी योग्य सभा" (वही) "प्रतिष्ठित सभा"[5] "हे मेरी प्रिय सभा" (वहीं) "हे मेरी अन्वेषिणी सभा !" (वहीं), "हमारी श्रेष्ठ मस्तिष्क सभा"[6], "हमारी विदुषी सभा"[7], "हमारी प्यारी सभा"[8], "हे मेरी प्रतिष्ठित सभा !"[9] "ऐसा जो पवित्र तेजोमय बकौल तुम्हारे भीतर विद्यमान है"[10], "हूर और गिलमान् (मोतियों के रंग वाले लड़के)"[11]

इसके अतिरिक्त उक्त लेख का लेखक कुर्आन का भी अच्छा ज्ञान रखता प्रतीत होता है। "पितृ" की व्याख्या करते हुए लिखा है– "पितृ वह हैं जो "इल्मुल्यकीन" (देखे बिना ही किसी वस्तु की वास्तविकता पर पूर्ण विश्वास कर लेना) और "ऐनुल्यकीन" (किसी वस्तु को देखने के पश्चात् उसकी वास्तविकता को पूर्ण विश्वास के साथ भलीभाँति जानना) की अवस्थाओं में से गुजर कर "हक्कुल् यकीन" (किसी वस्तु में प्रविष्ठ हो जाना या स्वयं वह वस्तु बन जाना या उसमें खो जाना) का पद प्राप्त करते हैं।"[12] वस्तुतः कुर्आन की इन तीनों अवधारणाओं की इतनी सुस्पष्ट व्याख्या और इतने कम शब्दों में दुर्लभ है।

---

2. पृ. 869
3. पृ. 869-870
4. पृ. 872
5. पृ. 873
6. पृ. 880
7. पृ. 881
8. पृ. 882
9. पृ. 887
10. पृ. 894
11. पृ. 897
12. पृ. 891

इन बातों पर विचार करने के बाद हमारा ध्यान केवल एक व्यक्ति की ओर जाता है, जिसकी लेखनी से ही इतना प्रौढ़ सुन्दर और कुर्आन-प्रमाण से पुष्ट लेख सम्भव था। वह व्यक्ति मुंशी इन्द्रमणि मुरादावादी के अतिरिक्त कोई और नहीं हो सकता, जो उर्दू, अरबी, फारसी के साथ-साथ संस्कृत के भी उच्चकोटि के विद्वान् थे।

यह घटना सन् 1881 ई० की है और मुंशी इन्द्रमणि का स्वामी जी से मतभेद सन् 1883 में हुआ था।[13] अतः उस समय मुंशी इन्द्रमणि की गणना स्वामी जी के भक्तों में थी। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी जी को अतिव्यस्त पाकर मुंशी इन्द्रमणि ने आर्य सन्मार्ग–सन्दर्शिनी सभा के पण्डितों को उत्तर देने का कार्यभार अपने ऊपर ले लिया। उक्त लेख पढने से ऐसा नहीं प्रतीत होता है कि वह स्वामी जी को दिखाकर छापा गया है। श्री राम सुब्रह्मण्य शास्त्री ने एक ब्राह्मण-वचन का हवाला देकर मूर्तिपूजा प्रसिद्ध करने की चेष्टा की है, जो इस प्रकार है–

"स परन्दिवमन्वावर्तते अथ यदास्यायुक्तानि प्रवर्तन्ते देवतायतनानि कम्पन्ते दैवतप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति गायन्तीत्यादि।"

इसके उत्तर में उक्त लेख में कहा गया है, "हमको ज्ञात नहीं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी इसका क्या अर्थ करते हैं।" यदि उक्त लेख स्वामी जी का होता तो ऐसा कभी न लिखते। दूसरी बात यह है कि स्वामी दयानन्द के काशी शास्त्रार्थ में इस प्रकरण का अपनी तत्कालीन दृष्टि से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उक्त लेख के लेखक स्वामी जी तो हैं ही नहीं, वह स्वामी जी का लिखवाया हुआ भी नहीं है, और न उनके द्वारा अनुमोदित ही है।

उक्त विचार-सरणि का सम्मिलित निष्कर्ष यह है कि उक्त लेख के लेखक मुंशी इन्द्रमणि ही हो सकते हैं, दूसरा और कोई नहीं।

---

13. वे 29 मई 1883 को आर्यतभाग मुरादाबाद के प्रधान पद से मुक्त किये गये हैं।

गीतगोविन्दम्–शङ्करपरकव्याख्या

रचियता – कृष्णदत्तः

प्रो० गोपराजु रामा

तत्र मङ्गलाचरणम्

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैः
नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः।।

व्याख्या

प्रीतिं वः परमेश्वरःपरहितःप्रीतिःप्रसन्नः परा–
माधत्तां तनसारसुन्दरतरश्रीकस्य सा राधिका।
गौरीभूषणभूषणीयपदतामन्योन्यशोभार्पणात्
हैमीव प्रतिमा सिताश्मजटिता प्राप्नोति यस्याङ्कगा।।

विशदितशिवपक्षां गीतगोविन्दटीकां
रचयति शशिलेखां मैथिलः कृष्णदत्तः।
इह न विविधटीका व्यंजितः कृष्णपक्षः।
विवृत उभयपक्षैकाभिधेयं पदं वा।।

मेघैरिति। कृष्णपक्षे स्पष्टम्। शिवपक्षे राधामाधवयोः शक्तिशिवयोः गौरीशङ्करयोरिति यावत्।

राधयति साधयति विश्वसृष्ट्यादिकमिति, राध्नोति प्राप्नोति संसिद्धा भवति इति वा राधा शक्तिः।

माधवः निष्कम्पः शिवः। धुञ् कम्पने, धवनं कम्पः। मा निषेधार्थकमव्ययम्। स्थाणुत्वात् निष्कम्पः।

अथवा राधौ राधकौ साधकौ आराधकाविति यावत्। अमौ विष्णुब्रह्माणौ यस्याः सा राधा, मा देवी।

देव्या उपासका देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः" इति देवीपुराणवचनम्।

"अकारो वासुदेवः स्यादिति"
"मा शिवः चन्द्रमा वेधाः" इति च कोषः।

धवः स्वामी शिव इत्यर्थः। अधवो निष्कम्पो अधूर्तो वा महादेवत्वात् पुरातनो वा शिव इत्यथः।

"धवः पुमान् नवे धूर्ते पक्षे वृक्षान्तरेऽपि च" इति मेदिनी।
राधाया इव विद्युत इव मा लक्ष्मीर्यस्याः सा विद्युद्गौरीत्यर्थः।।

"राधो वैशाखमासे स्यात् राधागोप्यां च विद्युति" इति विश्वः।
केलयः सामरस्य विलासाः जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। कीदृश्यः ? यमुनाकूले रहः। यमुना कूलयति उच्छ्रिता भवत्यस्मादिति यमुनाकूला गङ्गा। 'कूत्र उच्छ्राये' धातुः।

यद्वा यमुनेव यमुना श्यामत्वात् रात्रिः, कूले प्रान्ते यस्याः सा सायं सन्ध्या, तस्याः ईं लक्ष्मीं शोभारूपां, इं कामं वा रहयन्ति त्याज्यन्ते याः तादृश्यः। शिवेन गौर्य्या सह तादृशे विहारे वितन्यमाने गङ्गासन्ध्ययोः शोभायाः कामस्य चानादरणादिति भावः।

राधामाधवयोः कीदृश्यो इत्थमनेन प्रकारेण नन्दनिदेशतः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं चलितयोः।

नन्दिनी नाम्नी कापि देव्याः सखी, तस्याः देशतः प्रेरणया अध्वनि मार्गे संरथाने सन्निवेशे वा, कुञ्जीभूतं द्रुमं पारिजातवृक्षं प्रतिप्रस्थितयोः सन्निवेशस्थितनिविडपारिजातवनं गतयोरित्यर्थः।

"अध्वा ना पथि संस्थाने" इति "द्रुमोमहीरूहे पारिजाते किम्पुरूषेश्वरे इति च मेदिनी।

यो निदेशेऽर्थात् सखीनामिति वा। इत्थं कथं अस्तमालद्रुमैः मेघैः मेदुरं अम्बरमाकाशमास्ते।

अस्ता न्यस्ता माला पंक्तिः येषां तेषां द्रूणां वृक्षाणामेव मा शोभा येषां तैः, पङ्क्तिभूतद्रुमश्यामलैरित्यर्थः।

"पलाशिद्रुद्रुमागमा" इत्यमरः। अतः श्यामा देवी वनभुवः विपिनभूमेः सकाशात् नक्तं रात्रौ भीरू भीर्भवती वर्तते। मेधैरम्बरण्यापने रात्रिभ्रम इति भावः।

हे राधे अधिभूतपीडकनाशक, हे शिव, तद्धेतोः गृहं कलत्रं देवीं इयं शुभावहविधिं प्रापय। विलासरूपं प्रापय।

"रः स्मृतः पावके तीक्ष्णे" इति
गृहं गृहश्च पुं भून्मि कलत्रेऽपि च सद्मनि" इति च मेदिनी।

अत्र राधामाधवयोः केलयो जयन्तीत्यनेन वस्तुनिर्देशः स्पष्टः। सर्वोत्कर्षेण वर्तमानास्तत्केलीः

प्रणतस्य मम इष्टं साधर्यानृवति व्यज्यते। जीवनदातृत्वेन, तापहरत्वेन च मङ्गलार्थत्वं मेघपदस्य। अतस्तत्प्रथममुपात्तम्। तेन चास्य प्रबन्धस्य रसमयत्वं सूचितम्।।

X X X X

अथवा, अम्बरै मेघैः मेदुरं, श्यामाः श्यामलाः तमालद्रुमैरिति। अयं उः शिवः नक्त भीः रात्रिभीत इत्यर्थः। शिवेन लीलावशेन रात्रिभयनाटनादिति भावः।

हे राधे विद्युद्गौरि ! गौरि त्वमेव, इमं तत् प्रसिद्धं गृहं प्रापय। त्वदङ्गविस्फुरणेन तिमिरनिराकरणात् तस्य गृहप्राप्तिरित्यर्थः। इत्थं नन्दनिदेशे सति, सप्तम्यन्तात् तसिः। तयोः तत्पदवाच्ययोः शक्तिशिवयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं सुधासिन्धोर्मध्य इति प्रतिपादितस्थलविशेषे केलयः राधामाधवयोः शक्तिशिवयोः यमुनाकूलाधिकरणकं रहः सुरतं कर्म जयन्ति। कीदृशञ्च ? कदाचित् भङ्गुरं मथुरादिगमनादिना व्यवहितमित्यर्थः। "रहस्तत्त्वे रते गुह्ये" इति कोषः। यद्वा वनभुवः निवासभूमयः पुत्रकलत्रादिरूपाः मे मह्यम् अयं वरमिति शयितां पीडाम् अदुःददतिस्म।

"कीदृश्यः तमालद्रुमैः मेघैः श्यामाः। तमं च तमसा सहेति" कोषात् तमस्तमोगुणम् अलन्ति पर्याप्तं कुर्वन्ति तमालाः तमोविकाराः त एव द्रुमाः तैः द्रुमैः मेघैः मेघतुल्यैरिवावरणीभूतैः मलिना दूषिता इत्यर्थः।

X X X X

अथवा वनभुवः गृहभुवः, मेघैः दुर्विषहैः श्यामा दूषिताः। वनभुवः काननभुवः तमालद्रुमैः दूषिताः, अमं ददति स्म भवने वने वा अवस्थातुं न शक्यते। भयङ्करत्वादिति भावः।

"वनं नांसुकं नीरे निवासालयकानने" इतिकोषः।

अतः मत्स्वरूपो जीवो, अयं नक्तं रात्रितुल्ये संसारे भीरूः आर्तो वर्तते। "भीरूरार्ते त्रिलिंग्याञ्च" इति मेदिनी।

तत् इमं मत्स्वरूपं संसारभीरूं जीवं हे राधे विद्युद्गौरि कुण्डलिनीरूपे देवि। "तडिल्लेखातन्वीम्" इत्युक्तेरस्य वह्नेः प्रकाशरूपस्य शुद्धसात्वस्य अधिष्ठानीभूतसदाशिवेत्यर्थः। आकृत्या शक्तिशिवयोः द्वयोरूपादानमात्रं बोध्यम्। गृहं स्वाश्रयं प्रापय।

"आधि पुमानश्चित्तपीडा प्रत्याशावन्धनेषु च। व्यसने चाप्यधिष्ठानं इति कोषः।

इत्थं नन्दनिनो हर्षवतो योगिनो देशतः प्रेरणया प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं षट्चक्रकुञ्जद्रुमं प्रति चलितयोः विलासयोग्यतार्थं राधामाधवयोः शक्तिशिवयोः इडापिङ्गलयोरन्तर्गङ्गा च यमुना तथा मध्ये सरस्वती चेति वचनात् पिङ्गलनाड्यन्तर्गतायाः यमुनायाः कूले प्रान्ते सुषुम्नामार्गे चरितयोः रहसि ब्रह्मस्थाने शक्तिशिवयोः एकीभूतयोः केलयो जयन्तीत्यर्थः।

LAKṢMĪSARASVATĪSAṀVĀDA – A Rare and Unpublished *Kalaha-kāvya*

Siḍdharth Yeshwant Wakankar

The Classical Sanskrit Literature is extremely rich and varied in respect of poetic compositions. It boastfully possesses *Mahākāvya-s, Khaṇḍakāvya-s, Sandeśakāvya-s, Gadyakāvya-s, Nāṭaka-s, Campū-s, Subhāṣita-s, Stotra-s* etc. Amongst all these, however, the Quarrel-poems or the *Kalahakāvya-s*, as they may be termed, are really a very spicy and most enjoyable stuff. It is a matter of great surprise that this particular mode has not been able to attract the due attention of the scholars and writers of history of Sanskrit Literature.

The tendency to quarrel is an inborn quality of a living being. Since, quarrelling is a part and parcel of life, it is very much difficult to find a person who is not required to have some quarrel to gain certain desired things of his choice.

The word *Kalaha* has a variety of meanings having different minute shades thereof, depending on or based on different causes. A *Kalaha* can be an effect or a consequence of enmity, rivalry, professional jealousy, difference of epinion or any other cause. The meaning of the word *Kalaha* which is intended to be accepted in such types of poetic compositions is "*Ahamahamikā* or assertion of one's own superiority, of course, over the other contender". The speciality of such *Kalaha-kāvya-s* is that in each one of them, there is a clear intention of the concerned parties to prove their superiority over the opponent, by taking recourse to two means-either by pointing out the defects of the other party or by projecting the merits of one's own party. It is very interesting to note that both the parties speak out the truth-which almost always happens to have two sides like a coin. As is well-knwon, every *kalaha* requires conversation. It may be noted here that every conversation may not be *kalaha*-oriented.

The origin of the conversational poetry can be traced back to the Vedic times. The Dialogue Hymns of the *Ṛgveda* are very famous. But, in these conversations, there is hardly any sign of any conflict regarding the superiority

of one over the other. The first clear-though very small, in fact, the smallest-instance of the *Kalaha*-element is to be found in the famous parable regarding the dispute that took place between the mind *(Manas)* and speech *(Vāk)*, described in the *Śatapatha Brāhmaṇa*[1]. The second and more powerful instance is the well-known story of the *Indriyasaṁvāda,* occuring in the *Chāndogya Upaniṣad*[2]. In the Classical Literature, such as dramas, *campū-s, subhāṣita-s, kāvya-s* etc. such quarrels galore, as are not the subject of our study here. In this small paper, an attempt has been made to bring to light for the first time one small (in fact, smallest) and unpublished piece of a *Kalahākāvya*, viz. *Lakṣmīsarasvatīsaṁvāda*, composed by an unknown author. His date can be fixed only on the evidence of the date when this poem was copied down, as he neither gives any clues about his date nor about himself nor his parentage, *guru-s* etc. This is the latest piece of composition of this type, in fact, the most recent one.

There are in all seven such unpublished works that describe the quarrel between Lakṣmī and Sarasvatī. In all of them, the first bullet is always shot by Lakṣmī. Does it suggest the aggressiveness, arrogance, leaning towards audacity, of the wealthy persons ? Or is it the natural quality of scholars to find fault with persons endowed with money, of which they (i.e. scholars) are generally believed to be bereft ? Or does it follow the general customs that a weak party always tries to be more aggressive in the beginning ? Whatever may be the reason, it is a fact that Lakṣmī is the first to initiate the quarrel.

The Work Proper :

The work is available in only one manuscript, deposited at the Bhārata Itihāsa Saṁśodhaka Maṇḍala, Pune. Its no. is : 39.209. It has only three folios and contains only 13 verses. The ms. is dated Śaka 1821, i.e. roughly, 1899-1900 A.D. (See the colophon). The ms. is neatly written, with a few marginal notes, which are indicated in the text as foot-notes. The handwriting seems to be of a Maharashtrian scribe. The ms. is also donated by a Maharashtrian, viz. Shri G.A. Gorhe of Puntambe. The unknown author also might be from Maharashtra, possibly from a place near about Pune, where only its only ms. is found. No definite conclusion can be drawn in the absence of any definite kind of authentic information pertaining to the author of this poem. The physical description of the ms. is as follows : Fol. 3; lines-45, Letters per line-24; Size : 48"x4.3".

---

1. *Athāto manaśascaiva vācaśca ahaṁbhadra uditam manaśca ha vai vāk cāhambhadra ūdāte* etc. I.4.5.8-12.
2. *Te heme prāṇāḥ ahaṁśreyase parasparam vivadamānāḥ* etc. **Chāndogya Upaniṣad.** 5.1.6-15).

The Poet :

There is no clue to know the name of the author. Certain remarks or observations about his calibre as a poet can be made by studying his poem, the only remnant of his poetic compositions. He seems to be a novice in the field of composing, as can be easily inferred from the repetition of certain words, e.g. *Kṣīrāṁbhonidhi...* in the 2nd line of verse no. 1 and 1st line of verse no. 2; *lakṣmīlālitamanāḥ* in verse 11, line 2 and verse 12, line 4. At the same time, it must be said to the credit of the poet that he has a sense of alliteration, which is evident at many places. In short, we can say that though this is the only specimen available so far of his composition, the poet is very humble in his attempt and knows his limitations and makes the best possible use of his learning.

The Poem :

The background of the poem is like this : Brahmadeva, i.e. the Creator, along with his daughter Sarasvatī, once goes to the abode of Lord Viṣṇu in the ocean. As the two gods were inquiring about each other's health and welfare, Lakṣmī calls Sarasvatī aside and changing the mode of her speech, starts finding fault with Sarasvatī in the following way : Oh Sarasvatī, why is it that you have not decorated yourself with any ornaments ? Sarasvatī says : Oh Lakṣmī , what is the use of the artificial ornaments (suggestive of wealth) when I possess one most natural ornament of sweet tongue ? How can you forget this ? Thereupon, Lakṣmī says : Oh Sarasvatī, why under the pretext of scholarship, you (i.e. persons endowed with knowledge) beg for alms and seek asylum in the houses of my flatterers, just for fulfilling the desire of meals. Why are you not giving any desired objects to these scholars ? Sarasvatī says : Oh Lakṣmī , how can you forget that wealthy persons sit in palaces, as it were, like fettered persons, undergoing hardships and crawl towards my feet. Why is it that you do not disentangle yourself under the pretext of releasing them ? Lakṣmī says: Oh Sarasvatī , don't you realize that because of my prowess, they are released. Otherwise, all those will be like parrots in the cages, without me. Sarasvatī says : Oh Lakṣmī , what you say is illogical. A wealthy but block-head person, even though fully adorned, does not shine in the assembly of the gentlemen, like a truthful scholar Lakṣmī says : Oh Sarasvatī, the plight of the house of a learned is like this : his kids are emaciated with hunger and thirst, his wife has no good clothes to cover herself, he himself has hardly any proper piece of cloth befitting him. But, the position of a person in whose house I stay is

quite different from this. Hence, oh truth-speaking Sarasvatī, please tell me who is really happy, a learned or a wealthy person. Sarasvatī says; Oh Lakṣmī, a really great scholar is respected everywhere, but, a wealthy person is not respected outside his place. Lakṣmī says : Oh friend, astrologers, scholars etc. always stand at my doors and without me, they are like beasts. Hence, I am superior. After listening to these words of the two goddesses for a long time, the Creator said : both of you are commendable. If only one is there without the other one, what is its use ?

Here ends the dispute.

This small introduction is closed by making a few observations about the charges levelled by both the parties against each other. At times, we are so much impressed, and convinced by the arguments that we feel that the speaker is giving out the truth, by alluding to some mythological stories to support her view. But, we must bear in mind that this poem is composed in a lighter vein and as such should not be taken very seriously. The dispute between Lakṣmī and Sarasvatī is unending. The only solace is that both of them are interdependent and one without the other does not appear to gain advantage, neither is the one complete without the other one. In fact, they are complementary to each other.

I conclude by profusely thanking the authorities of the Bhārata itihāsa Saṁśodhaka Maṇḍala, Pune and of the Oriental Institute, Baroda, for their help and co-operation extended to me during the preparation of this paper.

I incorporate the entire text of this work for the benefit of the interested scholars. It may be noted that it is a pity that I could not get any other manuscript-copy for collation.

श्रीगणेशाय नमः ।। अथ लक्ष्मीसरस्वतीसंवादप्रारम्भः ।।

मुक्ताविद्रुमहाटकोद्भवरसैः शृङ्गारिते स्वामिना
क्षीराम्भोनिधिमध्यभव्यभवने यातो विधिः वै पृथक् ।[1]
पुत्र्यालम्बितपाणिपङ्कजतलः पाथोधिजायाः पतिः
दृष्ट्वा तत्र निकेतने नयति तं तस्य स्वयं ह्यादरात् ।। 1 ।।

क्षीराम्भोनिधिमध्य (भव्य) भवनाधीशेन तस्मै स्वयं
दत्तं ह्यासनकं तु काञ्चनमयं तत्रास वेधाः सुखम् ।

---

1. पृथगिति भगवन्नाभिस्थितस्वरूपमन्तर्धाय, ब्रह्मलोकस्थितमतास्य(ख्य)रूपान्तरेणेत्यर्थः ।

विष्णु(स्) तत्कुशलानुयोगमकरोत्स्रष्टाऽवदत्स्वामिनं
प्रायो मे कुशलं सदाऽस्ति कृपया श्रीवासुदेवस्य ते।।2।।

एवं प्रश्नतदुत्तरादिविनयात्संजल्पतोः स्वामिनोः
लीलान्दोलितलोचना जलधिजा देवी गिरं चाह्वयत्।
सा धातुः परिमुच्य पाणिकमलं याता श्रियः पार्श्वतः
पश्चान्नीरधिजा जगाद वचनं भङ्ग्या सुतां वेधसः।।3।।

लक्ष्मी : नो स्निग्धा कबरी कथं तव सुते धातुः दरीदृश्यते
सीमन्तः किमु नार्पितः कथमयं सिन्दूरपूर्णोदयः।
भाले नो कलधौतपत्रलिखितं श्यामेऽञ्जनैर्नाक्षिणी
मुक्तारत्नविराजितं कथमिदं नो तेऽस्ति नासामुखम्।।4।।

सरस्वती : रे पाथोधिसुते व्यधायि सुतरां मा गर्वभारस्त्वया
पुत्र्या सर्वसृजोऽपि सर्वजगतां मुक्तावलीभूतया।
जिह्वापल्लवलीलया मम सदा भूषास्थलं वैजने[2]
किं स्यात् कृत्रिमभूषणेन चपले नो स्थायिनी सन्ततम्।।5।।

लक्ष्मी : रे रत्नोद्भवसम्भवे[3] कथमिदं विस्मारितं साम्प्रतं
किं तद्वाणि(णी) विदां मिषेण सततं संभिक्ष्यते यस्त्व(त्त्व)या।
वासोभोजनकाङ्क्षया स्तुतिकृतां गेहे मदीये सदा
तेभ्यः किं न सरस्वती(ति) प्रतिदिनं संदीयते वाञ्छितम्।।6।।

सरस्वती : त्वद्वन्तो नृपमन्दिरे सखि सदा सीदन्ति बन्धातुराः
कष्टात्कष्टवशात् सरन्ति सुतरां मत्पादपङ्केरुहम्।
तेषां मोचनदम्भतस्त्वमपि किं नो मोचिता बन्धतः
तत्किं विस्मृतमेव सागरसुते गोपालकान्तेऽधुना।।7।।

लक्ष्मी : रे रे सर्वजनैकचुम्बितमुखे दुर्ग्राह्यभावे त्वया
किं वै मोचनकारणं न विदितं, सामर्थ्यतः सर्वदा।
नो चेत् पञ्जरकुण्ठिताः कलगिरः कीरा भवेयुर्ध्रुवं
मुक्ता मद्रहितास्ततो विधिसुते शक्तिस्तु ते काऽपि न।।8।।

---

2. वैजने = हे अम्बे।
3. रत्नोद्भवसम्भवे = पद्मे।

सरस्वती : लक्ष्मी(क्ष्मि) त्वद्वचनं प्रमाणरहितं मत्वा मया चोच्यते
तत् श्राव्यं वचनं मयाऽपि सरले तथ्यं भवेत् चेत्तव।
सर्वाङ्गेष्वपि भूषितोऽपि जडधीः सभ्ये सभासङ्गमे
विद्वान् को परिभाति भव्यसकलश्रीः सत्यशीलः सदा।।9।।

लक्ष्मी : क्षुत्क्षामाः शिशवो गृहे विवसना भार्या दरीदृश्यते
नो वासः परिधानकारणविधौ स्वस्यापि योग्यं कदा।
त्वं यस्यासि मुखेऽम्बुजासनसुते तस्य स्थितिस्त्वीदृशी
यस्याहं भवने वसामि सततं तस्य स्थितिस्त्वन्यथा।।10।।

तस्मात्त्वं वद वाणि सत्यनिरते मुक्त्वाऽभिमानं मया
विद्यावानुत लक्ष्मि(क्ष्मी) लालितमनाः सन्तोषभाक्को भवेत्।
यस्यास्त्वं शवशोद्भवन्ति मनुजाः सन्तो न पूर्णोदराः
सा सम्यक् महती भवामि सततं किं चावयोः भाषितैः।। 11।।

सरस्वती : पाण्डित्यप्रथितैककीर्तिविलसद्गङ्गातरङ्गोच्चयैः
येनेदं जगतीतलं विमलितं सोऽयं महान्नापरः।
दूरं देशगतोऽपि पण्डितजनः सम्पूज्यते सर्वदा
मूर्खो लक्ष्मीविलासलालितमनाः संशोभते नो बहिः।।12।।

लक्ष्मीरुवाच : दैवज्ञाः किल पण्डिताः सखि मम द्वारि स्थिता नित्यशः
श्रीमन्तोऽपि मया विना पशुसमाः तस्मादहं श्रेयसी।
श्रीवाग्देवतयोरमूनि वचनान्याकर्ण्य वेधाश्चिरात्
ऊचे श्लाध्यतरे उभे यदि भवेदेकाऽपि वै को गुणः।।13।।

।। इति श्रीलक्ष्मीसरस्वतीसंवादः समाप्तः।।

।। अयं संवादः शके 1821 विकारिनामसंवत्सरे ज्येष्ठमासे कृष्णपक्षे द्वादश्यां पुण्यतिथौ भौमवासरे दिवा लिखितः।।

।। शुभं भवतु।।

संस्कृत वाङ्मय में राष्ट्रिय चेतना

डॉ. सत्यदेव मिश्र

साहित्य शास्त्र की दृष्टि से समग्र संस्कृत वाङ्मय को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है– (1) प्रभुसम्मित वैदिक साहित्य (2) सुहृत्सम्मित रामायण, महाभारत तथा पौराणिक साहित्य और (3) कान्तासम्मित लौकिक साहित्य। अपने इन तीनों रूपों में संस्कृत वाङ्मय राष्ट्रप्रेम का ज्वलन्त उदाहरण है। भारत राष्ट्र की अखण्डता तथा एकता को हजारों वर्षों से अक्षुण्ण बनाये रखने में संस्कृत वाङ्मय ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

संस्कृत साहित्य में उपलब्ध राष्ट्रियचेतनापरक विचारों के परिज्ञान के लिए राष्ट्र, राष्ट्रधर्म, राष्ट्रिय एकता और राष्ट्रवाद का संक्षेप में अर्थबोध आवश्यक है। राष्ट्र है– भूमि, भूमिवासी जन और जनसंस्कृति का समुदाय; राष्ट्रधर्म है– राष्ट्र के उत्थान और प्रगति के संयोजक तत्त्वों का समीकरण; राष्ट्रिय एकता है– सामूहिक एकता की वह भावना जो भूभाग के निवासियों को एक सूत्र में बाँधती है, और राष्ट्रवाद है– राष्ट्र के हित तथा कल्याण की भावना जिसे हम राष्ट्रिय चेतना कह सकते हैं। श्रीनिवास ताडपत्रीकर के शब्दों में राष्ट्र न केवल भूभाग है और न जनसमुदाय, अपितु इन दोनों का चिर सम्बन्ध है।[1] जो व्यक्रि जहाँ (विश्व के जिस किसी भी राष्ट्र में) जन्म लेता है; जहाँ उसका संवर्धन होता है और जहाँ उसके स्वजन होते हैं, वह उसका राष्ट्र कहलाता है।[2] राष्ट्रवाद के जो तत्त्व राष्ट्रवासियों को एक-दूसरे से जोड़ते हैं और उनके हृदय को राष्ट्रप्रेम से आप्लावित करते हैं, उनमें भौगोलिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकता का प्रमुख स्थान है। भारत बृहत् और प्राचीन राष्ट्र है। हजारों मील लम्बे-चौड़े इसके विषमतापूर्ण भूक्षेत्र में अनेक धर्मों, वर्णों तथा जातियों के लोग रहते हैं, इनकी बोलियों और भाषाओं में विभिन्नता है, तथापि इन सभी व्यक्तियों में जो हार्दिक अभिन्नता तथा देशप्रेम की भावना है, उसका मूल संस्कृत है। संस्कृत वस्तुतः देश और देशवासियों के साहित्य अर्थात् ऐक्य का संवाचक है। संस्कृत के प्राचीन और आधुनिक दोनों प्रकार के साहित्य ने भारतवासियों को न केवल एकता की शिक्षा दी है, अपितु उनके हृदय में देश के लिए सर्वस्व समर्पण की भावना का भी सञ्चार किया है।

---

1. न राष्ट्रं केवला भूमिर्न लोकोऽप्यथवा क्वचित्।
   उभयोश्चिरसम्बन्धे राष्ट्रमित्यभिधीयते।। गान्धीगीता, 3.14
2. यत्र जन्मास्य भवति यत्र संवर्धनं तथा।
   स्वकीया यत्र चैवास्य तस्य तद्राष्ट्रमुच्यते।। वही, 3.11

अनेकानेक वैदिक मन्त्रों में जनमानस में राष्ट्रप्रेम की अदम्य भावना जगाने के लिए मातृभूमि की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की गयी है। वस्तुतः जन्मभूमि को मातृभूमि कहने की सर्वप्रथम शिक्षा हमें वेदों ने ही दी है।[3] वेदों में राष्ट्र और राष्ट्र कल्याण की स्पष्ट परिकल्पना है। वैदिक ऋषि यज्ञ करते समय राष्ट्र-प्राप्ति की कामना से विभिन्न देवताओं को आहुति देते थे और राष्ट्रलाभ की हार्दिक कामनायें किया करते थे।[4] वे परमात्मा से राष्ट्रसमृद्धि के लिए यह प्रार्थना करते थे कि उनके राष्ट्र में ब्राह्मण ज्ञानसम्पन्न हों, राष्ट्ररक्षक क्षत्रिय शूरवीर, शस्त्रास्त्र कला-कुशल, शत्रुनाशक तथा महारथी हों; गौएँ पयस्विनी हों; बैल बली हों; अश्व द्रुतगामी हों; स्त्रियाँ सर्वगुणसम्पन्न हों; रथी योद्धाओं में विजय प्राप्त करने की इच्छा बलवती हो; युवक निर्भीक तथा सुशील हों; मेघ आवश्यकतानुसार वृष्टि करें; औषधियाँ फलें फूलें और प्राप्त वस्तुयें सुरक्षित रहें।[5] वैदिक ऋषियों को यह तथ्य विदित था कि भारत राष्ट्र की अखण्डता और प्रगति तभी सम्भव है जब यहाँ के निवासियों में प्रगाढ़ प्रेम और अविच्छिन्न एकता बनी रहे। हम साथ चलें, एक स्वर में बोलें, एक-दूसरे को समझें, हमारे विचार एक समान हों, हम एक जैसा सोचें, हमारे उद्देश्य एक हों, हमारे हृदय एक हों; हमारे मन एक समान हों, जिससे हम सब आनन्दपूर्वक एक साथ रह सकें, वैदिक ऋषियों का यह उदघोष राष्ट्रिय चेतना का मूल मन्त्र है।[6] इन तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने भाषाभेद तथा धर्मभेद को अत्यन्त सरल और मार्मिक शब्दों में राष्ट्रभेदक होने से रोका है। उन्होंने भारत राष्ट्र के निवासियों से यह आशा की है कि वे अपनी सुविधा और अभ्यास के अनुसार चाहे जिस भाषा में बात करें और अपनी इच्छानुसार चाहे जिस धर्म अर्थात् ईश्वर की उपासना करें, किन्तु अपने समग्र राष्ट्र को अपने गृह के समान समझें और उसकी मिल-जुलकर देखभाल करें, जिससे राष्ट्र ऐश्वर्य-सम्पन्न हो सके।[7] वेदों में सम्पूर्ण भारत राष्ट्र की एक राष्ट्रदेवी की भी अवधारणा है। यह

---

3. द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्। ऋग्वेद, 1.164.33; द्यौर्व : पिता पृथिवी माता सोमो भ्राताऽदितिः स्वसा। वही, 1.191.6; उपहूता पृथिवी मातोप मां पृथिवी माता ह्वयताम्। यजुर्वेद, 2.10 तथा माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः, अथर्ववेद, 12.1.12
4. द्रष्टव्य यजुर्वेद, 10.14 तथा अथर्ववेद, 6.54
5. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्; आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधो महारथो जायताम्; दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्; निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु; फलवत्यो न ओषधय पच्यन्ताम्; योगक्षेमो नः कल्पताम्।। यजुर्वेद, 22.22 तथा– अभि वर्धताम्, पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ।। अथर्ववेद, 6.78.2
6. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
   देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।
   समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
   समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
   समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः।
   समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

   ऋग्वेद, 10.191.2-4, तथा द्रष्टव्य अथर्ववेद, 6.64.1-3
7. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
   नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
   सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां
   ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।। अथर्ववेद, 12.1.45

अमूर्तराष्ट्रशक्ति किं वा राष्ट्रचेतना का ही मानवीकरणात्मक मूर्तरूप है। राष्ट्रदेवी राष्ट्र के चारों वर्णों में अनुस्यूत रहती है; सौहार्द, सद्व्रत, शौर्य, ज्ञान तथा आरोग्य का विस्तार करती है, राष्ट्र की आर्थिक दशा में सन्तुलन बनाये रखती है और विविध ज्ञान की वृद्धि कराती है। यही वह शक्ति है, जो राष्ट्र को तेजस्वी (दुर्धर्ष) बनाती है; ज्ञान-सम्पन्न करती है; विविध प्रकार के आविष्कारों से युक्त करती है; राष्ट्रशक्ति सम्पन्न देश में खाद्य-पेय पदार्थों का अभाव नहीं होता है; जो राष्ट्र इस राष्ट्रदेवी किंवा राष्ट्रचेतना की उपेक्षा करते हैं, वे विनष्ट हो जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं है; यही राष्ट्र की सम्पदा का विनाश करने वालों के विरूद्ध क्षात्रशक्ति को शस्त्रास्त्रों से सम्पन्न करती है और राष्ट्र में आनन्द का सञ्चार करती है; राष्ट्र की धरती और आकाश के कण-कण में समाई रहती है; यह राजा और प्रजा सभी का हित कराती है; लोगों में राष्ट्र की रक्षा हेतु अपने राष्ट्रनायक के निर्माण की प्रेरणा भी यही देती है; इसका प्रादुर्भाव जनमानस से होता है; और इसका वेग झञ्झावात की तरह प्रचण्ड और व्यापक होता है।[8]

वेदों ने राष्ट्रिय चेतना का जो शङ्खनाद किया था, उसके अनुरणन से रामायण, महाभारत और पौराणिक वाङ्मय आपूरित है। महर्षि वाल्मीकिप्रणीत आदिकाव्य रामायण का प्रमुख उद्देश्य भारत को समृद्ध राष्ट्र तथा श्रीराम को उसके आदर्श सम्राट् के रूप में प्रतिष्ठित करना है। राष्ट्र के निर्माण में प्रजा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, अतः महर्षि की यह कामना रहती है कि सभी राष्ट्रनिवासी धर्मात्मा हों; सुशिक्षित हों; सत्यवादी हों; अपनी सम्पत्ति से सन्तुष्ट रहने वाले हों; सम्पत्तिशाली हों; संयमी हों; प्रसन्नचित्त हों; देवताप्रिय हों; कृतज्ञ हों; शूरवीर हों; पराक्रमी हों; दीर्घायु हों; स्त्री-पुत्र-पौत्रों से युक्त हों; परस्पर प्रीतिमान् हों; स्वच्छवेषभूषा वाले हों; राजा के हितेषी हों; जागरुक हों; नीरोग हों; हृष्ट-पुष्ट हों और उनमें किसी भी प्रकार का दुर्गुण न हो।[9] आदिकवि ने यह भी इच्छा व्यक्त की है कि राजा को सर्वदा अपने राष्ट्र की समृद्धि का संवर्धन करते रहना चाहिये; राष्ट्र सुरक्षा के लिए सैन्यादि की सुन्दर व्यवस्था करनी चाहिए; राष्ट्रिय संस्कृति का प्रचार-प्रसार करते रहना चाहिये; प्रशासन तथा न्याय की मान्य और पर्याप्त व्यवस्था रखनी चाहिये; अपने सदाचरण से अपनी लोकप्रियता बढ़ाते रहना चाहिये; राज्यव्यवस्था के लिए राष्ट्रभक्त सेनापति, राजदूत और मन्त्रियों की नियुक्ति करनी चाहिये; शत्रुपक्ष की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; शिक्षा, वाणिज्य और कृषि का समुचित तथा उत्तरोत्तर विकास करते रहना चाहिये; जनता से केवल उचित आयकर लेना चाहिये; राष्ट्रिय धन का दुरुपयोग नहीं करना चाहिये तथा अन्य अनेक गुणों से सम्पन्न होना चाहिये; उसे कर्कश, दुर्बुद्धि, अजितेन्द्रिय और स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिये तथा आपात रमणीय किन्तु अशुभ परिणाम वाले कार्यों को भूल से भी नहीं करना चाहिये।[10]

---

8. ऋग्वेद, 10.125 तथा अथर्ववेद, 4.30
9. वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 6.6-19, 7.14-16;
   अयोध्याकाण्ड, 3.51;34-41,55; 37.29; 100.27;
   उत्तर काण्ड, 41.17-20 तथा 99.11-14
10. वही, बालकाण्ड, 5.5-3; 6.1-28; 7.1-24; 77.24-25; अयोध्याकाण्ड, 3.38-46; 100.11-2 76; 109.9-36; अरण्यकाण्ड, 41.5-15; युद्धकाण्ड, 12.30-33; 63.5-20; 122.2-11; उत्तरकाण्ड, 39.3-28

भविष्यद्रष्टा महर्षि के राजा-प्रजा विषयक मनोरथ के पूर्ण होने से आसेतु हिमाचल पर्यन्त विस्तृत तथा सभी प्रकार के सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण भारत एक ऐसा राष्ट्र बना जिसके सम्राट् राम राष्ट्र के पर्यायवाची बन गये।[11] लङ्काविजय के पश्चात् राम का अयोध्या वापस आना देशप्रेम का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करता है।

महर्षि व्यासविरचित महाभारत को राष्ट्रिय चेतना का अजस्र स्रोत कहा जा सकता है। इसके प्रमुख पात्रों में अपने भारत देश और अपनी भारतीय प्रजा की रक्षा करने की भावना कूट-कूटकर भरी हुई है। इस आर्षकाव्य में अपने राष्ट्र की सुख-समृद्धि के लिए निरन्तर जागरूक राजा की प्रशंसा की गयी है।[12] राजाओं को राष्ट्र की रक्षा, सुरक्षा तथा आन्तरिक रक्षा आदि करते रहने का उपदेश दिया गया है तथा उन्हें यह निर्देश दिया गया है कि वे प्रजावर्ग की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति में निरन्तर सुधार करते रहे।[13] शरशय्यासीन भीष्म पितामह ने राजा युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हुए राजा और राष्ट्र के विषय में महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किया है तथा राजा को राष्ट्र की और राष्ट्र को राजा की रक्षा करने के लिए कहा है।[14] जो राजा राष्ट्र की रक्षा नहीं करता है, वह सुख और ऐश्वर्य से विहीन होता है।[15] सुरक्षित राष्ट्र शत्रुओं से अजेय होता है।[16] राजा को न क्लीब होना चाहिये, न दीर्घसूत्री।[17] कुल की रक्षा के लिए कुल के किसी एक व्यक्ति की हत्या निन्दनीय नहीं है और राष्ट्र कल्याण के लिए राजा या प्रजा के द्वारा की गयी कुल की हत्या अपराध नहीं है।[18] भेद राष्ट्रविनाश का कारण है[19], अतः राष्ट्रवासियों में एकता आवश्यक है। महाभारत में भारत देश और भारतीयता के प्रति आस्था और गौरव भाव बढ़ाने के उद्देश्य से समस्त भारत का प्रशंसापूर्ण वर्णन है। इस प्रसङ्ग में भारतवर्ष की नदियों तथा वहाँ के जनपदों का भी वर्णन प्राप्त होता है। उक्त वर्णन भारतवर्ष की गरिमा का सूचक है तथा पाठकों के मनःपटल पर भारतीयता के प्रति स्वाभिमान का भाव अङ्कित कर देता है।[20] कौरवों पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् महर्षि व्यास की आज्ञा तथा भगवान् श्रीकृष्ण की संस्तुति पाकर महाराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ किया था और पुनः अर्जुन की सहायता से भारतवर्ष के राजाओं और

---

11. न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति।। वही, अयोध्याकाण्ड, 37.29
12. महाभारत, आदिपर्व, 103.11; 104.44-45; 108.1-26; शान्तिपर्व, 67.1-17
13. वही सभापर्व, 5.17-129
14. वही, 5.17-129
15. राष्ट्रस्यारक्षमाणस्य कुतो भूतिः कुतो सुखम्। वही, वनपर्व, 157-19
16. राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते। वही, सभापर्व, 5.28
17. क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः। वही, शान्ति पर्व 8.5; न क्लीबो वसुधां युङ्क्ते। वही, 14.13; तथा, क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपद्यते। क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।। वही, भीष्म पर्व, 26.3
18. एकं त्यक्त्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम्।
कुलं हत्वा च राष्ट्रं च न तद्वृत्तोपघातकम्।। वही, शान्तिपर्व, 3.331
19. भेदो राष्ट्रविनाशाय, वही, आदिपर्व, 61.53
20. वही, भीष्मपर्व, अध्याय 3-12

महाराजाओं को जीतकर पाण्डव साम्राज्य को सुस्थापित और सुदृढ़ किया था।[21] सम्राट् युधिष्ठिर सम्पूर्ण भारतवर्ष पर शासन करते थे, इस इतिवृत्ति को महर्षि व्यास ने अधोलिखित पद्य में बताया है–

एवं भारतवर्षं स्वं राजा स्वर्गं महेन्द्रवत्।
शशास विष्णुना सार्धं गुप्तो गाण्डीवधन्वना।।[22]

प्रस्तुत पद्य में भारतवर्ष के विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'स्व' पद से जो आत्मीयता व्यञ्जित हो रही है, वह निश्चयतः देशवासियों को राष्ट्रप्रेम का पाठ पढ़ा रही है।

भारतीयता के प्रतीक पुराणों में भारत राष्ट्र की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। इनमें भूमण्डल के भारतवर्ष नामक इस आर्य देश की प्रतिष्ठा, रक्षा, सुरक्षा, शालीनता और समृद्धि के प्रति जनचेतना को प्रबुद्ध किया गया है, और यहाँ की संस्कृति, सभ्यता तथा यहाँ के ज्ञान-विज्ञान की महनीय राशि को महत्त्व प्रदान करके विश्व के समक्ष अपनी भारतीयता के प्रति आत्मगौरव प्रकट किया गया है।[23] ब्रह्म पुराण में जम्बूद्वीप का वर्णन करते हुये कहा गया है कि सागर से उत्तर दिशा में और हिमाद्रि से दक्षिण दिशा में भारतवर्ष की स्थिति है; इसमें जन्म लेने वाले 'भारती' कहे जाते हैं। इस देश का विस्तार नव सहस्र योजनों में है और यह स्वर्ग और मोक्ष की इच्छा रखने वालों की कर्मभूमि है।[24] महेन्द्रादि, सप्त पर्वतों, विभिन्न जातियों तथा वर्णों और सतलज आदि नदियों से समलङ्कृत[25] इस देश की महिमा का देवता भी गान करते हैं। उनकी दृष्टि में वे कृतार्थ तथा कृतकृत्य हैं जो इस पवित्र भारतभूमि में जन्म पाते हैं।[26] देवगण स्वयं भी देवत्व की समाप्ति पर भारतवर्ष में जन्म पाने की लालसा रखते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है, जहाँ लोगों को उनके सत्कर्मों का फल प्राप्त होता है।[27] भारत देश के समग्र गुणों का वर्णन शब्दों से परे है।[28] जो व्यक्ति भारत में जन्म पाकर भी सत्कर्मों से विमुख रहता है, वह वस्तुतः अमृत

---

21. वही, आश्वमेधिक पर्व, अध्याय 71-79
22. वही, 14.47
23. हरिमोहन दीक्षित, संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना, पृ. 85
24. उत्तरेण समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणे।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।।
नवयोजनसाहस्रो विस्तारश्च द्विजोत्तमाः।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च इच्छताम्।। ब्रह्मपुराण, 19.1-2 तथा विष्णुपुराण, 2.3.32
25. ब्रह्मपुराण, 19.3-25
26. गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः मनुष्याः।।
जानीम नो तत्र वयं विलीने स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धनम्।
प्राप्स्यन्ति धन्याः खलु ते मनुष्याः ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः।।
वही, 19.26-27 तथा विष्णु पुराण, 2.3.24
27. ब्रह्मपुराण, 27.65-77
28. प्राप्यते भारते वर्षे न चान्यत्र द्विजोत्तमाः।
कः शक्नोति गुणान् वक्तुं भारतस्याखिलान् द्विजाः।। वही, 65.78

कलश का त्याग कर विषपात्र खोजता है।[29] पुराणों में कुल पर्वतों, नदियों, जनपदों तथा जातियों के वर्णन से समग्र भारतवर्ष का एक ऐसा आकर्षक चित्र बनता है जो भारतीयों के अन्तःकरण में भारत के प्रति स्वाभिमान का भाव जागृत करता है। राष्ट्रचेतना के प्रबोधक पुराणों में भारत राष्ट्र की अखण्डता को सौभाग्य बताया गया है तथा देशभङ्ग को उसका दुर्भाग्य कहा गया है। गरुड़ पुराण के अनुसार वे व्यक्ति धन्य हैं जिन्होंने देशभङ्गजनित दुःखों का अनुभव नहीं किया है।[30] स्वाधीनता जीवन की सफलता है तथा पराधीनता जीवनमृत्यु है।[32] रामायण और महाभारत के समान पुराणों में भी राजनीति की पर्याप्त चर्चा है। यदि किसी राजा के राष्ट्र की प्रजा उसकी लापरवाही के कारण सङ्कट में पड़ती है; अथवा उसके अपने आचरण से पीड़ित होती है तो उसे चिरकाल तक नरक की यातना भोगनी पड़ती है।[33] राज्यलक्ष्मी उसी राजा का साथ देती है जिसे प्रजा का प्रेम प्राप्त रहता है।[34] भगवान् श्री ऋषभदेव के चरित वर्णन के प्रसङ्ग में उनके ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर इस देश का नाम पड़ा है, इस तथ्य का श्रीमद्भागवत पुराण में गौरव के साथ उल्लेख किया गया है।[35] पुराणकार का हृदयमन्दिर राष्ट्रचेतना के प्रदीप से कितना प्रज्वलित था, इसका अनुमान वराहपुराण के अधोलिखित श्लोकों से किया जा सकता है–

राष्ट्रं प्रवर्धतु विभो शान्तिर्भवतु नित्यशः।।
देवानां ब्राह्मणानां च मत्कानां कन्यकासु च।
पशूनां सर्वभूतानां शान्तिर्भवतु सर्वशः।।[36]

रामायण, महाभारत और पुराणों ने वेदों में अङ्कुरित राष्ट्रिय चेतना की जिस अमरलता को विकसित किया, उसके सुमनों से समग्र प्राचीन और आधुनिक लौकिक संस्कृत साहित्य सुवासित है। जिन प्राचीन साहित्यकारों की रचनाओं में राष्ट्र चेतना का स्वर गूँज रहा है, उनमें विशेष रूप से भास, कालिदास, विशाखदत्त, भवभूति और श्रीहर्ष उल्लेखनीय हैं। रामायण और महाभारत के कथांशों पर आश्रित भास के रूपकों को पढ़ने से राष्ट्र के प्रति आकर्षण, आत्मीयता और स्वाभिमान के भावों की अनुभूति होती है। प्रायः इन सभी रूपकों के भरत वाक्यों में भास ने अपने प्रबल राष्ट्रप्रेम का परिचय दिया है। इनमें भास ने हिमालय से लेकर सागरपर्यन्त विस्तृत अपनी भारतीय वसुन्धरा के एकातपत्र शासन की कामनायें की हैं; सभी प्रजाओं में सम्पत्तियों के निवास और विपत्तियों

---

29. सम्प्राप्य भारते जन्म सुकर्मसु पराङ्मुखः।
पीयूषकलशं त्यक्त्वा विषभाण्डं स मार्गति।। ब्रह्मनारदीय पुराण, 3.69

30. धन्यास्ते ये न पश्यन्ति देशभङ्गं कुलक्षयम्।
परचित्तगतान्दारान् पुत्रं कुव्यसने स्थितम्।। गरुडपुराण, पूर्वखण्ड, 115.3

32. स्वाधीनवृत्तेः साफल्यं न पराधीनवृत्तिता।
ये पराधीनकर्माणो जीवन्तोऽपि च ते मृताः।। वही, पूर्वखण्ड, 115.37

33. राष्ट्रपीडाकरो राजा नरके वसते चिरम्। अग्निपुराण, 223.7

34. जनानुरागप्रभवा राज्ञो राज्यमहीश्रियः। वही, 225.34

35. 5.4.9 तथा 5.7.3

36. वराह पुराण, 192.4.10-11

के विनाश की इच्छायें की हैं तथा देश के शत्रुओं का शमन चाहा है।[37] कालिदास ने भारत की 'उदाररमणीया पृथिवी'[38] के वर्णन में अपना अद्वितीय राष्ट्रप्रेम प्रदर्शित किया है। उन्होंने मेघदूत और रघुवंश में 'हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक के तथा अटक से लेकर कटक तक के समस्त भू-भाग को अपनी मातृभूमि समझकर उसका गुणगान किया है।'[39] उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त भारत के सर्वाङ्गीण रूप को देखने के बाद कोई भी विवेकशील व्यक्ति स्पष्ट उद्घोष कर सकता है कि कालिदास भारतभूमि का सबसे बड़ा राष्ट्रकवि है।[40] सम्पूर्ण भारत में कालिदास का जो ममत्व और अभिनिवेश है, उसके कारण विद्वानों को उनके किसी भी स्थान में जन्मसिद्ध करने के पक्ष में प्रचुर प्रमाण प्राप्त हुये हैं। कालिदास ने अपने भारत में देवों, मानवों तथा अन्य समस्त चेतन-अचेतन जगत् को समान आदर प्रदान किया है। भारत में जन्म पाने की देवताओं की पुराणोक्त लालसा को पूर्ण करते हुये कालिदास ने दुष्यन्तसखा देवराज इन्द्र को भारतभ्रमण का अवसर दिया है। और भगवान् विष्णु को रघुवंशी सम्राट् राम के रूप में प्रतिष्ठित किया है। देवतात्मा हिमालय का न केवल पृथिवी के मानदण्ड के रूप में चित्रण किया है,[41] अपितु उनका मानवीकरण करते हुये उनकी औषधप्रस्थ नामक राजधानी का भव्य वर्णन किया है।[42] भारत राष्ट्र तथा भारतीय संस्कृति के प्रति कालिदास का आकर्षण, आदर और उनकी निष्ठा का भाव वस्तुतः उनके पाठकों के तन–मन को राष्ट्र चेतना के रंग में रंग देता है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस में सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रति चाणक्य की शुभकामनायें तथा चन्द्रगुप्त के शुभचिन्तक के रूप में परिवर्तित अमात्य राक्षस की यह प्रार्थना कि चन्द्रगुप्त म्लेच्छों से आक्रान्त हुई भारतभूमि की चिरकाल तक रक्षा करते रहें[43], प्रकारान्तर से राष्ट्रिय चेतना की ही द्योतक हैं। भवभूति ने अपने नाटकों में आदिकवि वाल्मीकि के समान अपने आर्य देश (भारतवर्ष) तथा आर्य संस्कृति और सभ्यता के प्रति आस्था व्यक्त की है। महाबीरचरित में राम और रावण के युद्ध को उन्होंने आर्यों और अनार्यों का युद्ध माना है। आर्य देश के प्रतीक राम के युद्धोत्साह से भारतीयों में एक अदम्य उत्साह की लहर उठने लगती है और उनकी विजय को वे राष्ट्र की विजय मानने लगते हैं।[44] भवभूति ने महाबीरचरित[45] और उत्तररामचरित[46] में भारतीय भू-भागों का अत्यन्त भावुकता के साथ वर्णन किया

---

37. इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः।। (दूतवाक्यम्, 1.56); तथा द्रष्टव्य, बालचरित 5-20 और स्वप्नवासवदत्ता के भरतवाक्य; कर्णभार 1.25; अभिषेक नाटक, 6.25, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, 4.25 और अविमारक 6.21-22
38. अभिज्ञानशाकुन्तल, अङ्क 7
39. देवीदत्त शर्मा, कालिदास की कला और संस्कृति, पृ. 63
40. वही, पृ. 62
41. अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।।
कुमारसम्भवम्, 1.1
42. वही, 6.36-93
43. मुद्राराक्षस, 7.19
44. 6.24-63
45. 7.7-29
46. 1.23-33 तथा 2.13-30, द्रष्टव्य तृतीयाङ्क भी।

है। इनके पढ़ने से उत्तर तथा दक्षिण भारत के सभी भू-भागों के प्रति आत्मीयता के भाव पनप उठते हैं। भवभूति का प्रगाढ़ राष्ट्रप्रेम राम के अधोलिखित उद्घोष में संलक्षित होता है–

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।[47]

श्रीहर्ष का नैषधीयचरित महाकाव्य भी, जिसका प्रमुख उद्देश्य पाण्डित्य-प्रदर्शन है, राष्ट्रिय चेतना से अनुप्राणित है। दमयन्ती का स्वयंवर होना है। देवराज इन्द्र की दूती दमयन्ती के पास आती है और दमयन्ती को समझाती है कि वह देवराज इन्द्र का वरण करे। दमयन्ती की सखियाँ भी इस प्रस्ताव का समर्थन करती हैं,[48] किन्तु दमयन्ती इसे स्वीकार नहीं करती है। वह स्वर्गलोक की अपेक्षा अपने भारतवर्ष में रहना अधिक श्रेयस्कर समझती है। उसका कहना है कि सत्पुरुषों ने सभी देशों में भारत देश को उसी प्रकार श्रेष्ठ बताया है जिस प्रकार सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ होता है। भारत स्वर्ग से भी बढ़कर है, क्योंकि स्वर्ग में केवल पूर्व पुण्यों से उपार्जित सुख का उपभोग किया जाता है, नये धर्मकार्यों से और पुण्यार्जन का अवसर नहीं प्राप्त होता है, फलतः पुण्यों के क्षीण होने पर स्वर्ग लोक से विच्युत होना पड़ता है, पर भारतभूमि इसके विपरीत है। यहाँ मनुष्यों को पूर्व-पुण्योपार्जित सुखों के उपभोग के साथ अपने भविष्य को सुधारने का भरपूर अवसर प्राप्त होता है। अतएव वे धर्मकार्यों के अनुष्ठान से पुण्यार्जन कर सकते हैं।[49] श्रीहर्ष ने दमयन्ती के माध्यम से भारत देश की प्रशस्ति में यहाँ तक कहा है कि भारतभूमि तथा स्वर्ग में ठीक वैसा ही अन्तर है, जैसा शर्करा और सिकता में होता है।[50] दमयन्ती के स्वयंवर के अवसर पर भी श्रीहर्ष ने भारत की उज्जयिनी, काशी, काञ्ची आदि धार्मिक और सांस्कृतिक नगरियों के भावपूर्ण वर्णन से[51] अपना राष्ट्रप्रेम अभिव्यक्त किया है।

आधुनिक संस्कृत वाङ्मय को स्वातन्त्र्य पूर्व तथा स्वातन्त्र्योत्तर काल की दृष्टि से दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में अंग्रेज़ों के आधिपत्य तथा प्रदेशों में राजतन्त्र की प्रधानता से प्रायः राजप्रशस्तियों की रचना हुई है। राजाओं और राजवंशों के गुणों और

---

47. वही, 1.12
48. नैषधीयचरित, 6.76-87
49. वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु।
तत्राऽस्मि पत्युर्वरिवस्ययाऽहं शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः।।
स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च।
इष्ट्याऽपि तुष्टिः सुकरा सुराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे।।
प्रक्षीण एवाऽऽयुषि कर्मकृष्टे नरान्नतिष्ठत्युपतिष्ठते यः।
बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्पं धीरस्तमापातसुखोन्मुखं कः।। वही, 6.97-98, 100
50. साधोरपि स्वः खलु गामिताऽधोगामी स तु स्वर्गमितः प्रमाणे।
इत्यायतिं चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न ?।। नैषधीयचरित, 6.99
51. वही, 11.83-128

कार्यों के सम्बन्ध में अनेकानेक महाकाव्यों तथा खण्डकाव्यों की भी सर्जना हुई है।[52] इन काव्यों में उस काल और प्रदेश का इतिहास सुरक्षित है, स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय संस्कृत कवियों की निर्भय वाणी ने देशानुराग, देशभक्तों के सम्मान तथा स्वतन्त्रता की कामना से ओत-प्रोत साहित्य का प्रणयन किया था। उदाहरण के लिए देखिये–

स एव धन्यः स हि लोकमान्यः स एव पूज्यः स हि वन्दनीयः।
प्राणान् सशक्तिर्विगणय्य नैजान् भवेत् स्वदेशोन्नतितत्परो यः।।[53]

तथा,

येषां भुवो रौद्रपिनाकलेखा नेत्राणि भालानलजस्फुलिङ्गाः।
तर्जन्य उत्क्षत्रकुठारधारा जयन्ति ते राष्ट्रविमुक्तिवीराः।।[54]

राष्ट्रिय भावना को उद्दीप्त करने वाली स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व की लिखी गयी कृतियों में अम्बिका दत्त व्यास के शिवराजविजय, अखिलानन्द शर्मा के दयानन्ददिग्विजय, म० म० रामावतार शर्मा विरचित भारतगीतिका तथा भारतीयमितिवृत्तम्, पण्डिता क्षमाराव प्रणीत सत्याग्रहगीता, उत्तरसत्याग्रहगीता, शङ्करजीवनाख्यान, श्री तुकारामचरित, स्वराज्यविजय और श्रीरामदासचरित तथा हिन्दी जगत् में ख्यातिलब्ध पण्डित श्रीधर पाठक का 'भारताष्टकम्', 'श्रीगोखलेप्रशस्तिः' तथा उनकी कविताओं का सङ्ग्रह 'भारतगीत' उल्लेखनीय हैं। अम्बिकादत्त व्यास ने भारत राष्ट्र और उसकी स्वतन्त्रता के प्रति जनमानस में आत्मीयता और जागरूकता के भावों को भरने का भरपूर प्रयत्न किया है। अखिलानन्दशर्मा ने राष्ट्र समृद्धि की कामना की है[55] तथा देशवासियों को अधर्म से विमुख रहने की शिक्षा दी है।[56] रामावतार शर्मा ने भारतीयों को धार्मिक[57] और प्रान्तीय[58] भेदों को भुलाने के लिए कहा है, जिससे वे भारतदेश के सर्वाङ्गीण अभ्युदय में हाथ बँटा सकें।[59] क्षमाराव

---

52. विवरण के लिए द्रष्टव्य, दयानन्द भार्गव द्वारा सम्पादित आधुनिक संस्कृत साहित्य, पृ. 21
53. गिरिधर शर्मा नवरत्न, देशोन्नतिः, पद्य संख्या, 2
54. वही. पृ. 97
55. दुर्दशा दुर्दशां यातु सुदशाऽऽयातु भारतम्। दयानन्ददिग्विजय, 5.67
56. वरं विदेशेषु विशेषवासो वरं धनाभाववशेन भिक्षा।
परं स्वधर्माचरणादधर्मे वरं न पादार्पणमार्यजातेः।। वही, 15.57
57. अलं भारतीया मतानां विभेदैः
अलं देशभेदेन वैरेण चालम्।
अयं शाश्वतो धर्म एको धरायाम्।
न संभाव्यते धर्मतत्त्वेषु भेदः।। भारतगीतिका, 1
58. कलिङ्गाङ्ग-वङ्गान्ध्रद्राविडादीन्
उपाधीन्विहायैक्यमालम्य भूयः।
अये भारतीयाः पुरेवात्मरूपम्
लभध्वं यशश्चन्द्रशुभ्रं तनुध्वम्।। वही, 4
59. न सम्भाव्यते नेष्यते भोजनैक्यम्
न चान्यत्तथा बाह्यमैक्यं सुधीभिः।
हृदैकेन बुद्ध्यैकया सर्वयत्नम्
स्वदेशोदये भारतीयास्तनुध्वम्।। वही, 13

ने परतन्त्रता की निन्दा करते हुये[60] देशवासियों को शिक्षा दी है कि वे स्वार्थ का त्याग करें[61] तथा पारस्परिक एकता के द्वारा भारत को परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त करायें।[62] श्रीधर पाठक ने भारताष्टकम् तथा भारतगीत में भारतभूमि का जो स्तवन और चित्रण किया है, उसमें उनका राष्ट्रप्रेम प्रतिबिम्बित है। उदाहरण के लिए भारतगीत में संग्रहीत 'मातृभूः' का यह पद्य प्रस्तुत है जिसमें सुरसरितप्लावित तथा हिमाद्रिमण्डित भारतवर्ष का चित्ताकर्षक वर्णन है–

हिमनगभूषितमालां सुरधुनिजलधौतजानपदजालाम्
प्रकृतिविभूतिविशालां वन्दे त्वां त्रिदशकोटिजनपालाम्।
अभिनवजीवनपूर्णां परहिततूर्णां परार्थिपरिकीर्णाम्
साधितदीनोद्धरणां बाधितसर्वाधिसङ्घसंसरणाम्।।[63]

स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् सुभाष, तिलक, गाँधी, राजेन्द्र प्रसाद, जवाहर लाल नेहरू, लाल बहादुर शास्त्री, इन्दिरा गाँधी तथा राजीव गाँधी प्रभृति नेताओं, रामकृष्ण परमहंस, महर्षि अरविन्द, दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि समाजसुधारकों, शिवाजी, महाराणा प्रताप और भगत सिंह जैसे वीरों, वीराङ्गना झाँसी की रानी तथा देशसेवकों के जीवनचरितों का गान करने वाले शतशः काव्यों तथा नाटकों की रचना हुई है। इन कृतियों में राष्ट्रिय चेतना का अव्यवहित प्रवाह है, यह प्रदर्शित करने के लिए कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं। गोपाल शास्त्री के पाणिनीय नाटक में स्वतन्त्रता दिवस समारोह में आयोजित किये जाने वाली प्रभातभेरी और राष्ट्रध्वजोत्तोलन के कार्यक्रमों की चर्चा की गयी है। इस प्रसङ्ग में राष्ट्रध्वजविषयक यह गीत द्रष्टव्य है :

उन्नमन्भारतस्याद्य भाग्योदये नव्यभव्याकृतिर्गीयमानोन्नतिः।
चित्रचक्राङ्कितो राजमुद्राङ्कितो धूयतां धूयतां जन्मभूमिध्वजः।।
उन्मदैः शासकैः पादघातैश्चिरं क्षोभितः कोपितो देशकण्ठीरवः।
जृम्भते धीरगम्भीरनादैरसौ वन्द्यतां वन्द्यतामेष देशध्वजः।।
गान्धिना भारतीयोन्नतैर्मानवैः यः श्रमः संश्रितोविश्रुतोपक्रमः।
वर्णयंस्तत्कथामद्भुतां वेल्लितैः राजतां राजतां राज्यमान्योध्वजः।।[64]

शिवसागर त्रिपाठी के गान्धिगौरव का प्रस्तुत पद्य सर्वधर्म समभाव तथा राष्ट्रिय एकता की शिक्षा दे रहा है–

---

60. जीवन्तोऽपि न जीवन्ति परदास्यधुन्धराः।
पारतन्त्र्यमुदाराणां मरणादतिरिच्यते।। सत्याग्रहगीता, 1.36
61. स्वार्थत्यागात्स्वदेशार्थं नान्यच्छ्रेयो हि विद्यते। वही, 2.41
62. पारतन्त्र्याभिभूतस्य देशस्याभ्युदयः कुतः ?
अतः स्वातन्त्र्यमाप्तव्यमैक्यं स्वातन्त्र्यसाधनम्।। वही, 7.4
63. आधुनिक संस्कृत साहित्य से उद्धृत, पृ. 117
64. संस्कृत साहित्य में राष्ट्रिय भावना उद्धृत, पृ. 307

एको हि रामोऽथ मोहम्मदो वा
द्वावेव नित्यं हृदि सञ्जपामः।
परस्परं भेदकरा न मान्याः
गृह्णन्तु शिक्षां श्रुतिसम्मतां ताम्।।[65]

स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रिय जीवन की दो घटनायें अत्यन्त दुःखद रही हैं– 1962 में भारत पर हुआ चीन का आक्रमण तथा 1965 में पाकिस्तान का आक्रमण। दोनों युद्धों के समय देश के उत्साह तथा प्रतिरोध के बल का सुस्पष्ट बिम्ब अनेकानेक संस्कृत काव्यों में प्रतिबिम्बित हुआ है। स्वयं को भारतीयों का भाई बताने वाले पञ्चशील के सिद्धान्तों में विश्वास व्यक्त करने वाले विश्वासघाती चीन के आक्रमण के विरोध में भारतीय एक हो गये।[66] ऐसा कोई भारतीय न था, जिसने उस समय कुछ त्याग न किया हो।[67] भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपनी पत्नी के आभरण दे दिये।[68] पं. जवाहर लाल नेहरू को स्वर्ण से तौला गया।[69] गृहणियों ने वीरों को वस्त्र सिलकर भिजवाये, कृषकों ने अन्न दिया तथा शस्त्र निर्माताओं ने शस्त्र दिये।[70] 1965 में पाकिस्तान के राष्ट्रपति अय्यूब खान और उनके महत्त्वाकाङ्क्षी मन्त्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने मत्सरान्ध हो भारत पर इस इच्छा से आक्रमण किया कि वे लाहौर में प्रातराश लेकर दिल्ली में अपराह्णकालीन चाय पी सकेंगे। उन्हें अपने उधार लिये सैबरजेट विमानों और पैटन-टैंकों पर बड़ा गर्व था, किन्तु भारत के नैट विमानों तथा विजयन्त टैंकों की मार ने उन्हें ध्वस्त कर दिया।[71] दोनों रोमाञ्चकारी युद्धों के अवसर पर हुई भारत की दशा का यथार्थ तथा विस्तृत चित्र संस्कृत काव्यों में चित्रित है। ताशकन्द में हुई सन्धि और विजयी वीर श्री लालबहादुर शास्त्री के देहावसान का वर्णन भी अनेक काव्यों में उपनिबद्ध है।[72] 1972 में बांग्लादेश की क्रान्ति और मुक्ति का इतिहास भी संस्कृत कवियों की वाणी का विषय बना है।[73] 1999 के कारगिल युद्ध की विभीषिका और उसमें

---

65. 8.22
66. आधुनिक संस्कृत साहित्य, पृ. 32-33
67. न कश्चिदस्ति भारते ददाति यो न किञ्चन।
बहिष्कृतौ तु चीनिनां भवन्ति सर्वतत्पराः।। सुरेश चन्द्र त्रिपाठी, वीरोत्साहवर्धनम्, 6.2
68. दत्तमाभरणं प्रियायाः राष्ट्ररक्षाकोश एष वर्धतामिति वर्धताम्।
पुनः स्वीयमङ्गुलीयमपि विस्रष्टुमुन्मना स कञ्चित् साधुभृत्यै रोधितः।। रामजी उपाध्याय, राजेन्द्रस्य युद्धोद्योगः, आधुनिक संस्कृत काव्य, पृ. 43
69. अतोलयञ्जवाहरं सुवर्णभारराशिना।
क्वचित् क्वचिच्च दानिनो भवन्ति विश्वमानिनः।। वीरोत्साहवर्धनम्, 6.5
70. निर्मान्ति वस्त्राणि गृहस्थभार्याः शस्त्रास्त्रयानानि च लौहकाराः।
सेना जनेभ्यश्च सुखाय वस्तून्यन्नानि यच्छन्ति कृषीबलौघाः।। वही, 6.8
71. आग्नेयविस्फोटकरी प्रधाना या प्रेषिता पैटनटैंकसेना।
पराजिता सा विजयन्तटैंकैः स्वनाशमायासुः खेमकर्णे।। जनविजय, 4.53
72. द्रष्टव्य, रमेशचन्द्र शुक्ल, लालबहादुरशास्त्रिचरितम्, अनिल प्रकाशन, अलीगढ़, 1971 तथा लालबहादुरप्रशस्तिः।
73. द्रष्टव्य, रमेश्चन्द्र शुक्ल, बङ्गलादेशः, बेङ्कटरत्न, बङ्गलादेशविजयम् तथा रामकृष्णशर्माकृत बङ्गलादेशोदयम्, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1980

हुए भारतविजय की गाथा भी निस्सन्देह संस्कृत काव्यों का विषय बनेगी। वस्तुतः, 'संस्कृत का जागरूक कवि देश की हर धड़कन का अनुभव करता रहा है और उसकी भारती युग की हर भावना को शब्द देती रही है।'

संस्कृत ने भाषा के रूप में भी राष्ट्रचेतना को नैरन्तर्य प्रदान किया है। यह समग्र भारत राष्ट्र की सांस्कृतिक और धार्मिक भाषा है। यह उत्तर और दक्षिण भारत की एकता की कड़ी है। हम दक्षिण में हों या उत्तर में, पूर्व में हों या पश्चिम में, हमारे संस्कारों में वैदिक मन्त्रों तथा पूजा अर्चना में संस्कृत स्तोत्रों का पाठ अनिवार्य सा होता है, अर्चना पद्धति भी प्रायः एक सी होती है। यह सर्वविदित तथ्य है कि उत्तर क्षेत्रीय भारतीयों की श्री रामेश्वरम् के दर्शन की और दक्षिण क्षेत्र के भारतीयों की भगवान् विश्वनाथ के दर्शन की जन्मजात अभिलाषा होती है। संस्कृत भाषा भारतीयों की नैसर्गिक एकता का कारण है, क्योंकि उनकी अपनी भाषा (का मूल) संस्कृत ही तो है। दामोदर पण्डित ने अपने ग्रन्थ 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' में स्पष्ट कहा है– **'यानि एवं संस्कृतभाषायां सुप्-तिङन्तानि पदानि तान्येवाऽपभ्रंशेऽपि, न चार्थे मनागपि भेदः। केवलम् अक्षरेषु विपर्ययः, तद्वशाच्च कृतवेशनटीवाऽपभ्रंशच्छन्ना संस्कृतभाषा न लक्ष्यते।'**

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक युग में संस्कृत ने साहित्य और भाषा दोनों रूपों में भारतीयों के हृदय में राष्ट्रचेतना का सञ्चार किया है और उन्हें एकता के सूत्र में आबद्ध रखा है, परन्तु यह विडम्बना का विषय है कि जो भाषा विदेशों में समादृत हो; जिसमें विश्वप्रशंसनीय ऋग्वेद, रामायण, महाभारत आदि साहित्यग्रन्थ हों; जिसमें विश्ववन्द्य व्यास, वाल्मीकि, कालिदास जैसे राष्ट्र कवि हों; जिसमें प्रचुर शब्द राशि तथा अकथनीय शब्दनिर्माण क्षमता हो; जिसमें स्थिरता, देशव्यापिता, जगन्मान्यता, सार्वभौमिकता और वैज्ञानिकता जैसे गुण विद्यमान हों; जिसे निरन्तर विदेशी आक्रमणों से आहत भारत को एक बनाये रखने का श्रेय प्राप्त हो; जिसे राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का सम्नाम प्राप्त हो; जो हमारी राष्ट्रिय अस्मिता का विषय हो; उसकी अपने ही देश में उपेक्षा हो रही है।

काश्मीर शैवदर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और पराशक्ति

प्रो. रमाशंकर मिश्र

काश्मीर शैवदर्शन वैदिक धर्म को स्वीकार करते हुए अपने शुद्ध आगमिक स्वभाव को अक्षुण्ण बनाये रखता है। मोक्षप्राप्ति के लिए कश्मीर के शैवाचार्यों ने वैदिक उपाय की तुलना में कौलमार्ग, त्रिकमार्ग, स्पन्दमार्ग अथवा प्रत्यभिज्ञा सम्मतमार्ग आदि आगमिक उपायों की प्रतिष्ठा की है।

सम्पूर्ण शैवागम उत्तर तथा दक्षिण भारत के दार्शनिक विस्तार को अपने अन्तः में स्थापित करते हुए तीन प्रकार का वर्गीकरण प्राप्त करता है। दक्षिण भारत से सम्बद्ध दो परम्परायें हैं– वीर शैव और सिद्धान्त शैव तथा उत्तर में विशेषतया कश्मीर से सम्बद्ध काश्मीर शैवागमों की परम्परा है। ऐसी मान्यता है कि शिव के पञ्चमुखों-ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव तथा अघोर से पाँच शक्तियाँ आविर्भूत होती हैं। इन्हीं शक्तियों के सङ्घटन से भेद, भेदाभेद तथा अभेद दशाओं का आविर्भाव होता है। महेश्वर की भेद-प्रधान दश, भेदाभेद प्रधान अट्ठारह, और अभेदप्रधान चौंसठ दशायें स्वीकार की गयी हैं। परमशिव की भेद दशा में शिव, भेदाभेद दशा में रूद्र तथा अभेद दशा में भैरव रूप हैं। इनसे सम्बद्ध आगमों को शिवागम, रुद्रागम और भैरवागम कहा जाता है।

1. शिवागम –

परमशिव की दश भेददशाओं के आधार पर दश शिवागमों की प्रतिष्ठा है– कायिक, योगज, चिन्ता, कारण, अजित, सुदीप्तक, सूक्ष्म, सहस्र, सुप्रभेद और अंशुमान्।

2. रुद्रागम –

परमशिव की भेदाभेद दशा पर आश्रित रुद्रागमों की 18 संख्या बतायी गयी है– विजय, निःश्वास, पारमेश्वर, प्रोद्गीत, मुखबिम्ब, सिद्ध, सन्तान, नारसिंह, चन्द्रांशु, वीरभद्र, स्वायम्भुव, विरक्त,

कौरव्य, माकुट, किरण, गनजित और आग्नेय। इन दोनों वर्गों के अन्तर्गत 28 आगमों का आविर्भाव शिव के अलग-अलग मुखों से हुआ स्वीकार किया जाता है।

1. **सद्योजात –**

कायिक, योगज, चिन्त्य, कारण और अजित – ये पाँच शिवागम हैं।

2. **वामदेव –**

दीप्त, सूक्ष्म, सहस्र, अंशुमत् और सुप्रभदेव – ये भी पाँच शिवागम हैं।

3. **अघोर –**

विजय, निःश्वास, स्वायम्भुव, आग्नेय और वीरभद्र या वीर – ये पाँच रूद्रागम हैं।

4. **ईशान –**

रौरव, मुकुट या माकुट, बिमल, चन्द्रकान्त या चन्द्रांशु और बिम्ब या मुखबिम्ब – ये पाँच रुद्रागम हैं।

5. **तत्पुरुष –**

प्रोद्‌गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, प्रोद्‌गीत या सर्वोक्त, पारमेश्वर, किरण और वातुल – ये आठ रूद्रागम हैं।

भैरवागम –

शिव की अभेद दशा से 64 भैरवागमों का आविर्भाव माना जाता है। शिव के दक्षिणी वक्त्र का नाम 'योगिनी' है। जब इस मुख में अन्य चारों मुखों का लय होता हैं; तब भैरवागमों का आविर्भाव होता है। यह कौलमार्ग की अद्वय दशा से सम्बद्ध है, जहाँ शिव और शक्ति का ऐक्य स्वीकार किया जाता है। कौलमार्ग के इन 64 भैरवागमों का वर्गीकरण विभिन्न अष्टकों के रूप में प्राप्त होता है–

1. **भैरवाष्टक –**

स्वच्छ, चण्ड, उन्मत्त, असितांग, महोच्छूष्म तथा कंकालीश (8वें का नाम नहीं उपलब्ध होता है)।

2. यामलाष्टक –

ब्रह्म, विष्णु, शक्ति, रुद्र, आथर्वण, रूरू, वेताल और स्वच्छन्द।

3. माताख्याष्टक –

रक्ताख्य, लम्पटाख्य, लक्ष्मी, मत, चालिका, पिंगल, उत्फुल्ल तथा विश्वाद्य।

4. मंगलाष्टक –

भैरवी, पिचुतन्त्र, समुद्भव, ब्राह्मीकला, विजया, चन्द्राख्या, मंगला और सर्वमंगला।

5. चक्राष्टक –

मन्त्र, वर्ण, शक्ति, कला, बिन्दु, नाद, गुह्य और खचक्र।

6. शिखाष्टक –

भैरवी, वीणा, वीणामणि, सम्मोह, डामर, आथर्वक, कबन्ध और शिरश्छेद।

7. बहुरूपाष्टक –

अन्धक, रुरुभेद, अज, मल, वर्णकण्ठ, विडंग, ज्वालिन् और मातृरोदन।

8. वागीशाष्टक –

भैरवी, चित्रिका, हंसा, कादम्बिका, ह्रल्लेखा, चन्द्रलेखा, विद्युल्लेखा और विद्युन्मान्।

काश्मीर शैवदर्शन का विकास इन्हीं आगमों की प्रेरणा का परिणाम है। काश्मीर शैवाचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्त के स्रोत यही आगमशास्त्र हैं। इन शैवाचार्यों ने आगमशास्त्र को वेदादि शास्त्रों की अपेक्षा उच्चतर प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में वेदादि का आविर्भाव परमेश्वर ने सर्वसाधारण प्राणियों के हित के लिए किया है, किन्तु उसने कौल, त्रिक, स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा, क्रम आदि को अपने तीव्र अनुग्रह के पात्र बने हुये साधकों के हित के लिए प्रकट किया है।

'यतो यद्यपि देवेन वेदाद्यपि निरूपितम्।
तथापि किल संकोचभावायावविकल्पितः।।
संकोचतारतम्येन पाशवं ज्ञानमीरितम्।
विकासतारतम्येन परिज्ञानं तु बाधकम्।।[1]

---

1. तन्त्रालोक – 4.252-53

मुमुक्षुजन के लिए अद्वयशैवमार्ग ही सर्वोत्तम मार्ग है। परमशिव ने सर्वोत्तम अधिकारियों के लिए अभेद दृष्टि का आश्रय लेते हुए, मध्यम अधिकारियों के लिए भेदाभेदमयी दृष्टि का आश्रय लेकर तथा अवरकोटि के अधिकारियों के लिए भेदमयी दृष्टि का सहारा लेते हुए शैवी साधना का उपदेश किया है। ऐसी मान्यता है कि परमशिव की आज्ञा से द्वैत शैवमत का प्रवर्तन करने के लिए अमर्दक, द्वैताद्वैतमत को प्रवर्तित करने के लिए श्रीनाथ तथा अद्वैतशैवमत का प्रवर्तन करने के लिए त्र्यम्बक प्रकट हुए थे। काश्मीरशैवदर्शन के प्रवर्तन का मूल श्रेय इन्हीं त्र्यम्बकादित्य को है। यह भी मान्यता है कि त्र्यम्बकादित्य ने शैवदर्शन की एक और अद्वैतप्रधान अर्धत्र्यम्बक मठिका को अपनी पुत्री के द्वारा प्रवर्तित किया। ऐसा विश्वास है कि आचार्य अभिनवगुप्त ने उक्त चारों शाखाओं के तत्कालीन गुरुओं की उपासना करके चारों की साधना के रहस्य का साक्षात्कार किया था। अर्धत्र्यम्बक शाखा के तत्कालीन प्रधान गुरु जालन्धरपीठ (कांगड़ा) के निवासी महासिद्ध श्री शम्भुनाथ ने अभिनवगुप्त के समस्त संशयों को नष्ट किया था। ये शाखायें आचार्य अभिनवगुप्त (11वीं शताब्दी) के समय तक प्रचलित रहीं थी। सोमानन्द, उत्पलदेव, अभिनवगुप्त इस अर्धत्र्यम्बक मठिका के अपने–अपने समय के प्रधान गुरु थे। आगमों के अनुसार इस अद्वैतशैव दर्शन की विद्या के प्रवर्तक तथा प्रचारक अगस्त्य, दत्तात्रेय, दुर्वासा, परशुराम आदि सिद्ध पुरुष थे। इस कलियुग में परमशिव की प्रेरणा से दुर्वासा ने इस रहस्यमयी विद्या को त्र्यम्बकादित्य के द्वारा आगे बढ़ाया। पहले तो यह मठिका कैलास पर्वत के आस-पास तक ही प्रभावी रही, किन्तु बाद में पूरे कश्मीर मण्डल में इस दर्शन से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस दर्शन विद्या का आविर्भाव, प्रचार तथा प्रसार पूरी तरह से कश्मीर मण्डल में हुआ इसलिए इसे काश्मीर शैवदर्शन के नाम से कहा गया। इसका प्राचीन नाम त्र्यम्बक शैवशास्त्र है। वर्तमान युग के कुछ विद्वानों ने इस दर्शन को त्रिकदर्शन नाम दिया है। कश्मीर के शैवाचार्यों ने साधना की दृष्टि से कई मार्गों का निर्देश किया है, जिनमें बामाचार, दक्षिणाचार, कौलाचार, मताचार तथा त्रिक आचार प्रमुख हैं। इनमें त्रिक आचार को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। आचार्यों के अनुसार साधक अपनी योग्यता के अनुरूप किसी भी साधना के द्वारा साक्षात्कार कर सकता है। कहा जाता है कि आचार्य अभिनवगुप्त को गूढ़ रहस्यों की साक्षात् अनुभूति कौलाचार की उपासना से हुई थी। इस साधना के रहस्यों को उन्होंने अर्धत्र्यम्बक मठिका के गुरु श्री शम्भुनाथ से प्राप्त किया था। तन्त्रालोक, तन्त्रसार, शिवसूत्र, स्पन्दकारिका आदि प्रमुख ग्रन्थ इसी त्रिक आचार का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र हैं।

विकास –

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि काश्मीर शैवदर्शन के स्रोत अद्वैत शैव आगम हैं। सम्प्रति इन आगमों में कुछ ही आगम उपलब्ध हैं– **मालिनीविजयोत्तर, स्वच्छन्दतन्त्र, रुद्रयामलतन्त्र, विज्ञानभैरव, परात्रिंशिका** आदि। शैवागमों में द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत– तीनों सिद्धान्तों के बीज मिलते हैं। शिवसूत्र को भी इसी आगम की कोटि में रखा जाता है; क्योंकि भगवान् शिव ने स्वयं स्वप्न में वसुगुप्त को कैलास पर्वत पर इन सूत्रों का उपदेश दिया था। काश्मीर शैवदर्शन के विकास में तीन प्रमुख आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। इन आचार्यों की शैवी-साधना के

साक्षात्कार का परिणाम ही काश्मीर शैवदर्शन का विकास है। इस श्रृङ्खला में आचार्य सोमानन्दकृत **शिवदृष्टि**, आचार्य उत्पलदेवकृत **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका** तथा अभिनवगुप्त का विशालकाय ग्रन्थ **तन्त्रालोक** अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र में काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्त तथा साधना का बीज रहस्यमय रूप में उपलब्ध होता है। इस तन्त्र के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन आचार्य अभिनवगुप्त ने **मालिनीविजयवार्तिक** में किया हैं। **स्वच्छन्दतन्त्र** में जहाँ शैवशास्त्र के तत्त्वों का निरूपण किया गया है, वहीं **विज्ञानभैरव** में शैवी साधनाओं पर प्रकाश डाला गया है तथा परात्रिंशिका में शाम्भवी उपासना का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ पर **विवरण** नामक टीका में अभिनवगुप्त ने साधना के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है।

ईसा की नवीं शताब्दी में सर्वप्रथम वसुगुप्त को भगवान् शिव ने स्वप्न में शिवसूत्रों का दर्शन कराया था। इस आगम में शाम्भवी उपासना तथा शैवी साधना का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। काश्मीर शैवदर्शन के तत्त्वों का प्रतिपादन जिन शास्त्रों तथा ग्रन्थों में किया गया है, उनमें कल्लटकृत **स्पन्दकारिका**, सोमानन्दकृत **शिवदृष्टि**, उत्पलदेवकृत **ईश्वरप्रत्यभिज्ञा**, **सिद्धित्रयी**, अभिनवगुप्तकृत **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, परात्रिंशिकाविवरण, मालिनीविजयवार्तिक, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परमार्थसार, बोधपञ्चदशिका, परमार्थचर्चा,** क्षेमराजकृत **प्रत्यभिज्ञाहृदय, स्पन्दसन्दोह, पराप्रवेशिका, बोधविलास,** महेश्वरानन्दकृत **महार्थमञ्जरी,** शितिकण्ठकृत **महानयप्रकाश,** पुण्यानन्दनाथकृत **कामकलाविलास,** स्वतन्त्रानन्दनाथकृत **मातृकाचक्रविवेक;** वातुलनाथकृत **सूत्र,** चक्रपाणिनाथकृत **भावोपहार** आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इसी श्रृङ्खला में सत्रहवीं शताब्दी में साहिब कौलकृत **देवीनामविलास, (कल्पवृक्षप्रबन्ध, सच्चिदानन्दकन्दली, शिवजीवदशक** – अप्रकाशित) तथा 18वीं शताब्दी में **श्रीशिवोपाध्यायकृत श्रीविद्या** नामक ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

पराशक्ति

परमेश्वर की परमेश्वरता के दो रूप दिखाई पड़ते हैं – एक विश्वोत्तीर्णता तथा दूसरी विश्वमयता। परमशिव की विश्वोत्तीर्णता उसकी कूटस्थ स्थिति है तथा विश्वमयता उसकी स्पन्दता, स्फुरत्ता तथा ईश्वरता है। परमशिव की ये दोनों अभिव्यक्तियाँ ही शिव और शक्ति हैं। शिव न तो शक्ति से रहित हो सकता है और न भिन्न।

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्याभावानिच्छया कर्तुमीदृशान्।।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते।[2]

---

2. शिवदृष्टि, 3-2, 3

ऐसी मान्यता है कि शिव का इकार ही शक्ति है और शक्ति अर्थात् इकार के बिना शिव शवतुल्य हैं। दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं तथा समरस रूप और एक हैं। विश्व का प्रत्येक पदार्थ शिव-शक्तिमय है। शिवशक्तिमयता ही अभेद, भेदाभेद और भेद दशाओं में विस्तार को प्राप्त करती है। जैसे हिम से पृथक् शैत्य नहीं है तथा अग्नि से उष्णता पृथक् नहीं है, वैसे ही शिव से शक्ति पृथक् नहीं है। जैसे वह्नि की दाहकता शक्ति वह्नि से भिन्न नहीं है वैसे ही शिव से भिन्न शक्ति नहीं है। उस परम ज्ञान सत्ता में ही सम्पूर्ण सृष्टि का उदय होता है–

न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते।
केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भेऽयं प्रवेशने।।[3]

शक्ति को शिव का मुख कहा गया है। शिव की सामर्थ्य ही शक्ति है और शिव की शिवता भी वही है। पारमेश्वरी शक्ति के भिन्न-भिन्न व्यक्त रूप पतिप्रमाता हैं। शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सम्पूर्ण प्रपञ्च शिव की शक्तियों की अभिव्यक्ति का विकास है। समस्त विश्व शिव के प्रतिबिम्ब की तरह आभासित होता है। वह परमशिव अपनी अनन्त शक्तियों को प्रलयावस्था में अपने ही अन्दर सङ्कुचित कर लेता है। तब उन शक्तियों का प्रतिबिम्ब रूप आभास समाप्त हो जाता है। सृष्टि, स्थिति आदि समस्त कार्य परमशिव की शक्ति की अभिव्यक्ति है। साधना का समस्त व्यवहार शक्तिमय माना जाता है। **तन्त्रालोक** में साधना के व्यावहारिक स्वरूप के विवेचन में आचार्य अभिनवगुप्त ने शैव तथा शाक्त दोनों दृष्टियों का पर्याप्त आश्रय लिया है।

काश्मीर शैवागमों में परमशिवतत्त्व का निरूपण चित् शक्ति के रूप में किया गया है। **शिवदृष्टि** में शिवतत्त्व को विकास के क्रम में आनन्दशक्तिरूप तथा शक्तितत्त्व को इच्छाशक्तिरूप कहा गया है।

तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छक्तिमात्रको विभर्ति रूपमिच्छातः.........।[4]

कहीं-कहीं शिव को परतत्त्व मानकर उसे चित् शक्ति कहकर उसकी आनन्दरूपता को उसकी शक्ति कहा गया है–

तस्य च स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिः। तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः। सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः।[5]

आचार्य सोमानन्द ने शक्ति तत्त्व को इच्छा की अभिव्यक्ति कहा है। चिद्रूप परमशिव की आनन्दशक्ति ही उसकी शिवता है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया आदि पाँच शक्तियाँ शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धाविद्या से सम्बद्ध मानी गयी हैं–

चिदादिशक्तिप्राधान्यप्रथनात्मकशिवशक्तिसदाशिवेश्वरशुद्धविद्याख्यभूमिकोन्मीलनयुक्त्या।[6]

---

3. विज्ञानभैरव, 19
4. शिवदृष्टि, 1, 29, 30
5. तन्त्रसार, पृ. 6
6. परमार्थसार टीका, 46

ये चिद्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्तियाँ परमशिव की अन्तरंग तथा प्रमुख शक्तियाँ हैं। चित् तथा आनन्द का सामरस्य ही परमशिव का स्वरूप है, वह शिव और शक्ति का समरस है। इच्छा शक्ति उसका स्वभाव है तथा ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ उसके स्वभाव की परिणाम हैं। ये पाँच शक्तियाँ परमशिव के पाँच मुख हैं। ये पाँच मुख ईशान, तत्पुरुष, वामदेव, सद्योजात तथा अघोर के नाम से कहे गये हैं। ये शक्तियाँ परमशिव के अन्दर स्वभाविक रूप से स्पन्दित होती रहती है। इन अन्तरंग शक्तियों के स्पन्दन से उस परमेश्वर के अन्दर शिवतत्त्व से लेकर शुद्धाविद्या तक के तत्त्वों का उदय और लय होता रहता है। शिवनाथ से लेकर अनन्तनाथ तक के तत्त्वेश्वरों का उदय, लय और शाम्भव से लेकर विद्येश्वर तक के प्रमाताओं का उदय तथा लय भी उन्हीं शक्तियों के कारण होता रहता है।

विरूपाक्षपञ्चाशिका में विरूपाक्षनाथ ने परमशिव की पाँच शक्तियाँ निरूपित की हैं; जिनका सम्बन्ध सृष्टि के विकास, स्थिति, लय, तिरोधान तथा अनुग्रह से है जो परमशिव के पञ्च कार्य हैं।

परमशिव जब विश्व का प्रकाशन रूप कार्य करता है तो उससे सम्बद्ध शक्ति को 'भास्वती' कहते हैं। जगत् रूप सृष्टि को पोषित करने वाली शक्ति को 'ह्लादा' कहा गया है। सम्पूर्ण सृष्टि को प्रलय में संक्षोभण करने वाली शक्ति 'परिस्पन्दा' नाम से अभिहित की जाती है। समस्त सृष्टि को तिरोहित करने वाली शक्ति 'धूमावती' कही जाती है। सर्वत्र अनुग्रह के आयाम में जो व्याप्त है, उसे **'विभ्वी'** शक्ति कहा जाता है–

धूमावती तिरोधौ पुष्टौ ह्लादा च भास्वती भाने।
क्षोभे च परिस्पन्दा व्याप्तौ विभ्वीति शक्तयः पञ्च।।[7]

इन पाँचों शक्तियों के अलग-अलग आधार भी हैं। भास्वती को तेज में, ह्लादा को जल में, स्पन्दा को वायु में, धूमावती को पृथिवी में तथा विभ्वी को आकाश तत्त्व में स्थित बताया गया है–

धूमावती पृथिव्यां ह्लादाप्सु शुचौ भास्वती प्रथते।
वायौ स्पन्दा विभ्वी नभसि व्याप्तं जगत् ताभिः।।[8]

सम्पूर्ण जगत् इन शक्तियों से व्याप्त है। जगत् का व्यवस्थापन करने वाली जो विमर्शरूपा शक्ति है वह अपने धर्मी रूप प्रकाश का उपपादन करती है। यहाँ धर्म और धर्मी अभिन्न हैं। शिव और शक्ति, चन्द्र और उसकी चन्द्रिका, अग्नि और उसकी दाहकता, सिन्धु और उसकी तरंग तथा राहु और उसके शिर के समान अभिन्न हैं–

---

7. विरूपाक्षपञ्चाशिका। श्लोक, 26
8. वही, श्लोक 27

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव।।[9]

वाक्‌रूपा –

स्थूल से सूक्ष्म की ओर वह वाग्रूपा शक्ति चार प्रकार से वर्णित है– वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती तथा परा। वैखरी शक्ति कण्ठ स्थानीय है तथा स्थूल कही जाती है। इसकी अपेक्षा सूक्ष्म वाक्‌शक्ति मध्यमा कही जाती है, जिसका स्थान हृदय कहा गया है। इससे सूक्ष्मतर वाक्‌शक्ति को पश्यन्ती कहते हैं। इसका स्थान नाभिदेश बताया गया है। सूक्ष्मतम वाक्‌शक्ति को परा कहा जाता है। इसको मूलाधार निवासिनी कहते है। कुण्डलिनी साधना के योगी इस परावाक् को कुण्डलिनी स्वरूपा कहते हैं; जो षट्‌चक्र-भेदन के द्वारा सहस्रार में परमशिव से ऐक्य प्राप्त करती है। ये चारों शक्तियाँ चिदात्मारूपा ही हैं।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि चिति या चैतन्यात्मा विश्वोत्तीर्ण परमशिव ही हैं। शिवसूत्र में उस चिदात्मा के शरीर के रूप में विश्व को बताया गया है– विश्वं शरीरं। सम्पूर्ण विश्व में परमशिव उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार शरीर में प्राण। यह अस्मिता गृहक्षेत्र आदि विषय, शरीर इन्द्रिय और वायु आदि में विद्यमान है–

विन्दुं प्राणं शक्तिं मन इन्द्रियमण्डलं शरीरं च।
आविश्य चेष्टयन्तीं धारय सर्वत्र चाहन्ताम्।।[10]

यह चिति शून्य, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर आदि में व्याप्त है–

शून्ये प्राणेऽथवा बुद्धौ देहे वाहमिति स्फुरन्।[11]

इस चिति के स्वरूप के विषय में अभिनवगुप्त कहते हैं– 'चेतयति इत्यत्र या चितिः'। जो चेतनता का सम्पादन करती है वह चिति है। चिति वह है जो चेतन पद पर आरूढ है तथा चिद्रूपा है। क्षेमराज के शब्दों में–

"चितिरेव चेतनपदादवरूढा चैत्यसंकोचिनी चित्तम्।"

चिति से चित् की चेतनता प्रकट होती है। चिति को प्रत्यवमर्शात्मा कहा गया है। वह परावाक्‌रूपा है। अनन्यमुखप्रेक्षिणी होने के कारण अपने रस या स्वरूप की अवबोधिका वह स्वयं है। वह दूसरे पदार्थों को तो प्रकाशित करती है, साथ ही साथ वह स्वयं अपने को विमर्शगुण के कारण प्रकाशित करती है। वह स्वतन्त्र है। वह परमात्मा का ऐश्वर्य है। वह सदा स्फुरणशीला है।

---

9. बोधपञ्चदशिका
10. विरूपाक्षपञ्चाशिका, श्लोक 7
11. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ. 65

वह महासत्ता है। देश, स्थान या काल की सीमा से वह परे है। वह समस्त ब्रह्माण्ड का साररूप होने के कारण परमेष्ठी शिव का हृदय कही गयी है–

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परात्मनः।।
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः।।[12]

वह सदा अनस्तमित रहने वाली है, वह नित्या है। प्रत्यवमर्श के द्वारा विश्व का अभिलपन करने के कारण ही उसे वाक् कहा जाता है और पूर्णत्व के कारण वह परा है। अभिनव गुप्त के शब्दों में–

"वक्ति अभिलपति इति वाक् पूर्णत्वात् परा।"

आचार्य क्षेमराज ने उसे विश्व की सिद्धि अर्थात् सृष्टि का हेतु तथा स्वतन्त्र कहा है– **"चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः।"** अर्थात् सदाशिव तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व पर्यन्त समस्त विश्व के प्रकाशन या सृष्टि तथा स्थिति का हेतु है। इतना ही नहीं, वह संहार, तिरोधान तथा अनुग्रह का भी हेतु है। देश, काल, आकार आदि की सृष्टि इसी चिति से हुई है। सम्पूर्ण विश्व इसी चिति से अनुप्राणित है। वह व्यापक तथा नित्य उदित है। स्वच्छ तथा स्वतन्त्र होने के कारण भगवती चिति ही नाना प्रकार के अनन्त जगत् के रूप में आभासित होती है। वही प्रमाता, प्रमेय, प्रमाणमय जगत् का प्रकाशन करती है। इस स्वतन्त्र, अपरिच्छिन्न तथा स्वप्रकाशस्वरूपा चिति को सिद्ध करने के लिए नये-नये अर्थों का प्रकाशन करने वाला कोई प्रमाण समर्थ नहीं है। नील आदि वाह्य पदार्थ, सुख आदि आन्तरिक संवेदन, देह-प्राण आदि परिमित प्रमाता की सिद्धि या बोध ही उस चिति के अभिज्ञान में हेतु है। ज्ञेय तथा ज्ञाता का ज्ञान सभी देहधारियों के लिए सामान्य है, किन्तु योगियों की यह विशेषता है कि वे ज्ञेय और ज्ञाता के सम्बन्ध के विषय में सावधान रहते हैं। अर्थात् वे ज्ञेय-ज्ञाता को अभिन्न ही समझते हैं। यही बोध चिति की सिद्धि में हेतु है। चिति का देश-काल से परिसीमित न होना समस्त भेदवादों की अवास्तविकता को पुष्ट करता है। अपरिसीमित होने के कारण ही वह सम्पूर्ण की हेतु होती है। उसका परिज्ञान मोक्ष-प्राप्ति का सरल उपाय है और वही जीवन का परम फल है। वह देश और काल के विशेषणों से परिच्छिन्न इसीलिए नहीं है क्योंकि वह देश–काल का निर्माण करती है। यह चिति परमशिव का परम धाम है। वह परागति स्वरूपा है। वह पराकाष्ठा है। उसे परमशिव की विभूति संज्ञा से अभिहित किया जाता है–

सैवेह परमं धाम सैवेह परमा गतिः।
सैवेह परमा काष्ठा विभूतिः परमेष्ठिनः।।[13]

---

12. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 1.5.13-14
13. शिवपुराण, वा. सं., उ.।वं. 4.77

वह चिदात्मा एक योगी की भाँति बिना उपादान कारण के अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अपने ही अन्तस् में स्थित समस्त पदार्थ समूह का आभासन करती है–

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।।[14]

सम्पूर्ण आभासवैचित्र्य उस परमस्वामी के अन्तस् में अनभिव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है। यदि कार्यसमूह पहले से सूक्ष्मावस्था में परमसत्ता के अन्तस् में विद्यमान न हो तो उनकी अभिव्यक्ति के लिए परम सत्ता की इच्छा प्रवृत्त हो ही नहीं सकती है–

स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम्।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते।।[15]

वह चिति प्रकाश तथा विमर्शरूपा है। प्रकाश का स्वभाव ही विमर्श है। यदि प्रकाश को विमर्श से रहित माना जाय तो पदार्थों से प्रतिबिम्बित होता हुआ भी प्रकाश उसी प्रकार जड़ सदृश हो जायेगा जैसे स्फटिक आदि पदार्थ जड़रूप होते हैं–

स्वभावभवभासस्य विमर्श विन्दुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः।।[16]

ईश्वरता, कर्तृता, स्वतन्त्रता और चित्स्वरूपता– ये सब अहन्ता के पर्याय हैं। क्रिया की प्रधानता होने से वह कर्त्तृत्वरूपा है। ज्ञान की प्रधानता होने से वह ज्ञातृत्वरूपा है–

ईश्वरता कर्तृत्वं स्वतन्त्रता चित्स्वरूपता चेति।
एतेऽहन्तायाः किल पर्यायाः सद्भिरुच्यन्ते।।[17]

तथा–

कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः।।[18]

आत्मा चेतन है, उसका भाव ही चैतन्य है। वह चित् क्रियावाली है, इसलिए उसकी कर्तृता सिद्ध है–

---

14. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 1.5.7
15. वही, 1.5.10
16. वही, 1.5.11
17. विरूपाक्षपञ्चाशिका, 8
18. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 1.1.1

आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रियाचितिकर्तृता।
तात्पर्येणोदितस्तेन जड़ात्स हि विलक्षणः।।[19]

जो चैतन्य है वह क्रियाशील है, जो क्रियाशील है वह कर्तृत्वरूप है, जो कर्तृव्यरूप है उसी की स्वतन्त्रता भी सिद्ध है–

यस्य स्वातन्त्र्यमेव तस्यैव कतृसंज्ञा।

अपनी इच्छा से जगत् का आभासन करने के कारण ही उसकी स्वतन्त्रता प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार वह सृष्टि करने में स्वतन्त्र है, उसी प्रकार संहार करने में भी–

सृष्टिसंहारकारित्वं पारमैश्वर्यमेव च।
पूर्णेश्वरता वापि महाव्याप्तिः स्वतन्त्रता।।[20]

स्वतन्त्र इच्छा स्वरूपा चिति अपने द्वारा अपने में पूर्ण सृष्टि की रचना करती है। परतत्त्व की अद्वैत दशा में जो अनेकता विद्यमान है, वह व्यक्तरूप नहीं है, अपितु सूक्ष्म तथा अव्यक्त रूप है। यह चिति तत्त्व अनुत्तर है, परमदेव है, स्वातन्त्र्य है, चिन्मय है और एक है। चिति परासंविद्रूपा है। चिद्रूपता अहन्ता के स्वभाव को सूचित करती है। आत्मा चिद्रूप है जो अहन्ता का पर्याय है। इसीलिए शिवसूत्रकार के मत में चैतन्य ही आत्मा है और आत्मा ही चैतन्य है– ऐसा कहा गया है।

चैतन्य आत्मा का धर्म है। यह धर्मी आत्मा में ही रहता है, किन्तु दोनों में भेद नहीं है। आत्मा के क्रियाशील भाव को प्रदर्शित करने के लिए उसे चैतन्य की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः अन्तिम रूप से उनमें धर्म-धर्मी भाव भी नहीं है। उनमें सर्वथा ऐक्य है। ये धर्म और धर्मी के राहु और उसके शिर के समान भिन्न लगते हुए भी एक हैं–

'चैतन्यं चितिः चेतन आत्मा, इति राहोः शिर इतिवत् काल्पनिकम्ः वस्तुतः एकमेव सर्वम्।'[21]

कल्लट ने आत्मा को चैतन्य न कहकर आत्मा के स्वरूप को चैतन्य कहा है– **चैतन्यमात्मनो रूपम्।**

यह विमर्शस्वभाव वाली चिदात्मा शक्ति स्वयं ही अपने रस का वहन करने वाली है। उस अहन्ता में आदि से अन्त तक सभी वर्ण समूह समाहित हैं–

---

19. वही, 1.5.12
20. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ. 15
21. शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ. 4-5

प्रत्यवमर्शात्माऽसौ
चितिः स्वरसवाहिनी परा वाक् या।
आद्यन्तप्रत्याहृत–
वर्णगणः सत्यहन्ता सा।।[22]

जब चिदात्मा में ज्ञान की प्रधानता का बोध किया जाता है, तब वह प्रकाशात्मा कही जाती है, जब उसमें क्रिया की प्रधानता होती है, तब उसे विमर्शात्मा कहा जाता है। यदि उसे विमर्शरूप न माना जाय तो वह जड़ हो जायेगी और तब उसमें स्वतः को प्रकाशित करने का सामर्थ्य समाप्त हो जायेगा। प्रलयावस्था में वह विमर्शमय होने के कारण पुनः सृष्टि के समय क्षुभित होकर सृष्टि करने में समर्थ होती है। प्रत्यवमर्शात्मा को आत्मपरामर्श भी कहा जात है। आत्मपरामर्श पद से आत्मतत्त्व वाच्य है। इस प्रकार आत्मा, चेतना अथवा परामर्श अभिन्न हैं। चेतन ही विमर्श रूप है, क्योंकि दोनों में क्रिया की प्रधानता है– **चेतयति इति चेतनः, विमृश्यते इति विमर्शः, विमृश्यते परामृश्यते इदमिति विमर्शः प्रपञ्चः, इदमित्येवं परमात्मना सृष्टस्य जगतः प्रसिद्धपरामर्शः**[23]–

कल्पनातीत होने के कारण तथा काल को व्याप्त करने के कारण उसे 'महा' शब्द से अभिहित किया जाता है। परमात्मा शिव की शब्दमयी विभूति तीन प्रकार की कही गयी है– स्थूला, सूक्ष्मा, परा। स्थूला वह है जो श्रोतेन्द्रिय को प्रत्यक्ष सुनाई पड़ती है। 'सूक्ष्मा' केवल चिन्तन में आती है। जो चिन्तन की भी सीमा से परे हैं उसे 'परा' कहा गया है। यही शिवतत्त्व के आश्रित रहने वाली पराशक्ति है। इसे ही परावाक्, अनुत्तरा, परानाम्नी, पराप्रतिमा आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है। वह पृथिवी से विन्दुपर्यन्त के स्फुरण में क्रियाशक्ति की प्रधानता वाली अनुत्तर शक्ति के रूप में पश्यन्ती आदि रूपों में स्फुरित होती हुई 'परा' संज्ञा को प्राप्त करती है–

अनन्याप्रेक्षिता यास्य विश्वात्मत्वं प्रतिप्रयोः।
तां परां प्रतिमां देवीं संविदन्ते ह्यनुत्तरम्।।[24]

श्रुतियों में परा की अनेक शक्तियाँ वर्णित हैं। ज्ञान, बल, क्रिया वाली इस शक्ति से ही जगत् की सृष्टि होती है–

परास्याः विविधा शक्तिः श्रुतौ स्वाभाविकी श्रुता।
ज्ञानं बलं क्रिया चैव याभ्यो विश्वमिदं कृतम्।।[25]

यह बताया जा चुका है कि उस अहन्ता में आदि से अन्त तक सभी वर्ण प्रत्याहार के

---

22. विरूपाक्षपञ्चाशिका, 9
23. कामकलाविलास, पृ. 2 (टीका)
24. तन्त्रालोक भाग 2, पृ. 74
25. शिवपुराण, वा. संहिता, पू. खण्ड, 6.58

समान समाहित हैं। 'अहं' पद से अकार से लेकर हकार तक के सभी वर्णों का बोध होता है। अहं में ही सभी वर्ण प्रत्याहृत हैं–

स्फुटशिवशक्तिसमागमबीजांकुररूपिणी पराशक्तिः।
अनुत्तररूपाणुत्तरविमर्शलिपिलक्ष्यविग्रहा भाति।।"[26]

अकार से लेकर विसर्ग तक शिवतत्त्व की स्थिति मानी जाती है। 'क' से 'ङ' तक पृथिवी, अप्, तेज, मरूद्, व्योम– ये पञ्चमहाभूत सम्मिलित हैं। 'च' से 'ञ' तक गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द– ये पाँच तन्मात्रायें सम्मिलित की जाती हैं। 'ट' से 'ण' तक घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र– ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ समाहित की जाती हैं। 'प' से 'म' पर्यन्त मन, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति और पुरुष आदि तत्त्वपञ्चक विवक्षित हैं। य, र, ल, व के अन्तर्गत राग, विद्या, कला तथा काल तत्त्व को सम्मिलित किया जाता है। श, ष, स, ह, क्ष के अन्तर्गत, नियति, माया, शुद्धा विद्या, ईश्वर तथा सदाशिव तत्त्व को समाहित किया जाता है। अन्तिम दो तत्त्व शक्ति तथा शिव तो अभिन्न हैं जो सम्पूर्ण स्वर वर्णों में समाहित हैं।

काश्मीर शैवदर्शन का आभासवाद चिति तत्त्व के स्वभाव का परिणाम है। जहाँ अद्वैत वेदान्त में मायोपहित चैतन्य जगत् का स्रष्टा होता है और ब्रह्म का विवर्त रूप सम्पूर्ण जगत् माना जाता है, वहीं काश्मीर शैव दर्शन में चिति स्वयं अपने को सृष्टि में आभासित करती है। वहीं सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण दोनों हैं। अद्वैत वेदान्त में अपनी उपाधि की दृष्टि से ईश्वर उपादान कारण तथा चैतन्य की दृष्टि से निमित्त कारण बनता है। सृष्टि को विवर्त रूप मानकर उसे मिथ्या कहा जाता है, किन्तु काश्मीर शैवदर्शन में सृष्टि को मिथ्या नहीं, बल्कि वास्तविक या सत् कहा गया है; क्योंकि नाना आभास-वैचित्र्य में चिति ही अपने को आभासित करती है– सम्पूर्ण विश्व उसका शरीर है। वह अपनी ही भित्ति या शरीर पर विश्व का उन्मीलन करती है– **स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।**[27]

चिति अपने से अभिन्न होते हुए दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर के समान उससे भिन्न प्रतीत होने वाले विश्व का निर्माण करती है। पूर्णतः विद्यमान का प्रकटीकरण उन्मीलन है। अत एव यह सिद्ध है कि जगत् चिति के साथ एकात्मना अवस्थित है। शिवसूत्र में चिदात्मा को नर्तक की संज्ञा दी गयी है– **'नर्तक आत्मा। (शिवसूत्र)**

जैसे नट या नर्तक पुत्तलिकाओं में पर्दे के पीछे से गति उत्पन्न करता है, वैसे ही वह महान् नर्तक आभासवैचित्र्य की सृष्टि करता है। आचार्य क्षेमराज के अनुसार चिति अपने अन्दर जागरादि अवस्था तथा नाना प्रपञ्च का निगूहन करती है और अपनी ही स्पन्द लीला से अपनी ही भित्ति पर सम्पूर्ण प्रपञ्च को प्रकट करती है; अत एव वह नर्तक है–

---

26. कामकलाविलास, पृ. – 4
27. प्रत्यभिज्ञाहृदय, 2

'नृत्यति, अन्तर्निगूहति स्वस्वरूपावष्टम्भमूलं तत्र जागरादिनानाप्रपञ्चं स्वपरिस्पन्दलीलयैव स्वभित्तौ प्रकटयति इति नर्तक आत्मा।[28]

भट्ट नारायण इस संसार को एक नाटक मानते हैं। शिव ही उस नाटक का प्रारम्भ तथा अन्त भी करता है। इस नाटक को देखने वाली हमारी इन्द्रियाँ हैं– प्रेक्षकेन्द्रियाणि[29]

दर्पण को अपने अन्दर प्रतिबिम्ब को प्रतिभासित करने के लिए प्रकाश की अपेक्षा होती है जबकि चिति तो स्वयं ही प्रकाशैकघन है। वह स्वयं सबकी प्रकाशिका है। जैसे दर्पण का प्रतिबिम्ब दर्पण से भिन्न नहीं, उसी प्रकार यह विश्व उस अहन्ता से भिन्न नहीं है। जब चिदात्मा उसका उन्मीलन करती है, तब उसकी भिन्नवत् प्रतीति होती है। यह विश्व परस्पर सम्बद्ध ग्राह्य-ग्राहक के भेद से अनेक रूपों में भासित होता है– तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्।[30] उदाहरणार्थ – सदाशिव तत्त्व में अहन्ता की प्रधानता तथा इदन्ता की अप्रधानता से युक्त परापर विश्व की अवस्थिति है, यहीं मन्त्र महेश्वर नामक प्रमातृवर्ग भी है तथा उसके अधिष्ठातृ देवता श्री सदाशिव भट्टारक भी हैं। यह सब कुछ परमेश्वर की इच्छा से होता है।

चिति के संकुचित हो जाने पर विश्वमय चेतन भी संकुचित हो जाता है। विकास के क्रम में तो परम सत्ता प्रथमतः अवभासन की प्रक्रिया के द्वारा प्रकाश से अभिन्न अपने को व्यवहार रूप में चित् से पृथक् प्रस्फुरित करती है और चित् के रस के आस्वाद रूप समस्त तत्त्वों, भुवनों, पदार्थों तथा उनके प्रमाताओं के रूप में अपना विस्तार करती है। वट के बीज के समान चिति सम्पूर्ण विश्वस्वरूपा है– चिति संकोचरूपा चेतनोऽपि संकुचितविश्वमयः[31]

माया शक्ति के कारण कभी-कभी विश्वमय चिति के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता है अर्थात् उसका स्वरूप संकुचित सा प्रतीत होता है। सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो संकोच भी चित् रूप ही है क्योंकि वह चिदैकात्म्य रूप से प्रथमान होता है। चिति ही चेतन पद से अवरूढ होकर प्रत्यक्ष के विषयों द्वारा संकुचित होकर चित्त कहलाती है। जब वह अपने स्वरूप का गोपन करके संकुचित हो जाती है तब उसकी दो अवस्थायें हो जाती हैं। कभी-कभी वह संकोच को गौण करके और कभी-कभी संकोच को प्रधान करके चित् के प्राधान्य से प्रकट होती है। स्वातन्त्र्य स्वरूप ज्ञान, क्रिया तथा माया शक्ति रूप चिति शक्ति ही पशुप्रमाता की स्थिति में संकोच भाव के उद्रेक के कारण सत्त्व-रजस्-तमस् रूप चित्त के रूप में प्रस्फुरित होती है। अहन्ता व्यवहारदृष्ट्या आत्म तथा अनात्म का अवशासन करने वाली है। वह विश्व की आत्मा है। उसका स्वरूप प्रकाश है। प्रकाश से भिन्न वह नहीं है। जब विश्व प्रकाशित होता है तो वह स्वयं प्रकाशित होती है–

---

28. शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ. 89
29. शिवसूत्र, 11
30. प्रत्यभिज्ञाहृदय, 3
31. तदेव, 4

प्रकाशो मे निजरूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाहं भास एव हि।।[32]

इस प्रकार विच्छिन्नरूप इदन्ता तथा अविच्छिन्न रूप अहंता– इन दोनों की प्रतीति उसके आभास्य तथा आभासक रूप में होती है। वही तथाकथित सारे भेदों का आश्रय है। वह व्यापक है, एक है, अखिलतत्त्व समूह का कारण है, वह ज्ञान क्रिया रूप है तथा वही शक्ति से अभिन्न शिव तत्त्व है–

व्यापकमेकं नित्यं कारणमखिलस्य तत्त्वजातस्य।
ज्ञानक्रियास्वभावं शिवतत्त्वं जगदुराचार्याः।।[33]

जिस प्रकार समुद्र अपनी शक्ति से तरंगों का सम्भेदन तथा विभेदन करता है, उसी प्रकार वह अहन्ता इस जगत् का सर्जन तथा ध्वंसन करता है। वही चिदात्मा भोग्य, भोग्यसाधन तथा भोक्तृ रूप में विद्यमान है। विद्वानों ने उस अहन्ता को आधार भेद लक्ष्य से षोडशधा, नवधा, षोढ़ा और त्रिधा– इन रूपों में विभक्त किया है जो विभाग परमार्थतः एक ही है। जिस विमर्श के अंशमात्र वर्ण पद और मन्त्र– ये तीन शब्द हैं, उसी प्रकाश रूप धर्मी के भुवन, तत्त्व तथा कला – ये तीन अर्थ हैं। अत एव वह चिति शब्द-अर्थ-मय है। इस प्रकार शब्दाध्वा और अर्थाध्वा रूप में सम्पूर्ण विश्व स्थित है। जब उसमें विश्वोन्मुखी भाव की अनुपस्थिति रहती है, तब विश्व का निमेषण ही रहता है। विश्वोन्मुखी भाव की स्थिति में वह जगत् को उन्मिषित करती है। बिन्दु, माया, पृथ्वी, प्रकृति आदि विभाग तथा उनके भी उपविभाग उसी चिदात्मा में स्थित रहते हैं और उसकी स्वतन्त्र इच्छा से बाह्य रूप में प्रतिभासित होते हैं। प्रथम, मध्यम तथा उत्तम पुरुष परस्पर भिन्न प्रतीत होते हुए भी उस प्रत्यवमर्श से भिन्न नहीं हैं।

अहन्ता में अभिन्नरूपता या अक्रमता है। अहं रूप ज्ञाता, शक्तिरूप ज्ञान तथा त्रितयात्मकरूप ज्ञेय को विकल्प रूप समझती हुई ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय रूप वही है। जिस प्रमाता अर्थात् जीव को– यह नील है, यह पीत है– ऐसा भिन्न-भिन्न ज्ञान होता है, वह ज्ञेय से पृथक् आभासित होने वाला भिन्नवत् ज्ञाता जीव कहलाता है। यही जीव परमशिव के सम्पर्क से तद्रूप होकर आभासित होता है। अपने क्रम से सम्बद्ध ज्ञान में प्रवेश करने वाला तथा अंग रूप विषयों को जानने वाला ज्ञाता, ज्ञान की ओर उन्मुख होकर अहं में विश्रान्त होकर उसी के स्वभाव वाला हो जाता है। स्मरण से प्राप्त 'तत्' तथा अनुभव से प्राप्त 'इदम्' का एकीकरण करके 'तदिदम्' की आभासिका तथा अपोहिका वह स्वतन्त्र चिदात्मा ही है। यही प्रत्यभिज्ञा का सिद्धान्त है। अपोहन की अवस्था में शुद्ध महेश्वर में स्वात्ममात्र भाव स्फुरित होता रहता है–

---

32. शिवसूत्र वि. टीका, पृ. 7
33. तत्त्वप्रकाशिका, पृ. 24

असम्भावितान्यापोहे शुद्धे स्वात्ममहेश्वरे।
स्वात्ममात्रस्फुरत्तात्मा निर्विकल्पः स्वभावतः।।[34]

अर्थात् अपोहन् होने पर इदन्ता का भाव विगलित हो जाता है। कोई भी वस्तु व्यवहारावस्था में नहीं रहती। शुद्ध चैतन्य में निर्विकल्प रूप या स्वभाव रूप में केवल अहं का स्फुरण होता रहता है। अपोहन क्रिया के सम्पन्न होने के अनन्तर उस परम प्रकाश के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रहता है।

परमशिव में अन्तर्भूत भाव पदार्थों को भिन्न सा मानने से उस परमशिव की प्रतीति में अवरोध होता है। उसकी ऐक्य प्रतीति के कारण सारा भावजगत् उसमें वैसे ही स्थित है जैसे– समुद्र में स्रोत।

अस्तमितमर्थजातं भात्वा
भिन्नमिव रुद्धवद्भानम्।
मद्भानैकात्म्येन स्रोत
इवाब्धौ स्थितं हि मयि।।[35]

भेदज्ञानसम्पन्न अप्रबुद्ध प्रमाता को माया के कारण परमशिव में स्थित भुवन समूह उससे भिन्न से प्रतीत होते हैं, किन्तु भेदज्ञान संस्कारसम्पन्न प्रबुद्धकल्प प्रमाता को शुद्धा विद्या के कारण आन्तरिक संस्कार आदि भिन्न के समान लगते हैं। इस प्रकार परमसत्ता विश्वोत्तीर्णा है, विश्वमय है, एक है, नित्य है, विभु है, स्वतन्त्र तथा विमर्शमय है। वह कर्तृत्व तथा ज्ञातृत्व रूप है। शिवशक्ति के ऐक्य का प्राधान्य होने से इस सिद्धान्त को एकत्ववाद सिद्धान्त के नाम से अभिहित किया जाता है।

---

34. पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, पृ. 50
35. विरूपाक्षपञ्चाशिका, 40

THE GODDESSES IN ORISSA– AN OVERVIEW

Prof. G. C. Tripathi

It is a well-known fact that although the *Ṛgveda* is the oldest literary and religious monument of India, yet it does not represent or showcase the entire religious beliefs of that age. Being very specific in its purpose and nature as well as confined to and concerned with the religious beliefs and philosophical views of only the priesthood and the nobility of that age, the religious beliefs and practices of the common masses, of the lower strata of the society and the tribal population living in India in those times, obviously do not get reflected in it. There is no doubt about the fact that much of the Tāntrik practices prevalent in the medieval ages and even in modern times in India must have been in existence in those days as well, parallel to the sacrifices and similar religious practices. Existence of a number of religious symbols in the Indus Valley Culture, identified by the competent scholars as *liṅga*-s testify to the prevalence of god Śiva under this or in some other name as the Creator-father of the universe. The worship of this symbol was not confined to the boundaries of Indian culture only, but was widespread throughout the ancient world right up to Mesopotamia, Crete and Egypt.

Just as the Creator of the world can be conceived of as a father figure, one can conceive of this power as mother as well which might even be more natural. It is thus not unlikely that another particular symbol denoting mother Goddess was also in use for the sake of expressing reverence to the Divine Mother. It is even possible that such male and female symbols were united in one composite symbol which might have a similar shape like that of the present form in the *Śivaliṅgam* in the temples, the lower part of which is known as *Yonipīṭha* representing Pārvatī.

The first clear and unambiguous reference to the worship of mother goddess is found in the *Yajurveda*[1]. The *mantra* occurring in this text addresses

---

1. *Vaj. S.23.*18

the Goddess with three different vocatives, derived from one common source and all denoting "mother" *(Ambā, Ambikā, Ambalikā)*. The name of the goddess is Subhadrikā which means 'very gracious and she is said to be residing in Kampīla. It is very likely that this Kampīla is identical with the capital of South Pāñchāla, which exists even today as a small town near Kannauj. It is not insignificant that later the *Śakti* figure accompanying Jagannātha and standing between the two brothers is also known as Subhadrā although the Puranic Subhadrā, who is a sister of Kṛṣṇa, is not associated with the mother Goddess in any way.

In another reference occurring in the same Saṁhitā[2] Ambikā is mentioned as a Sister of Rudra "This is your share, O Rudra ! Enjoy it together with your sister Ambikā". This ambivalence of the female counterpart sometimes as sister and sometimes as wife of a male god considered to be the originator or creator of the world is quite common in religious beliefs, especially when it is related to the First pair of the creation. The First pair is born together either of its own or brought into existence by some higher power and can variously be conceived either as brother-sister twins or as husband-wife, the progenitor of entire future creation the *"jagataḥ pitarau"* - *Pārvati* and *Parmeśvara* of Kālidāsa[3]. The ambivalence of sister-wife relationship with the male counterpart is also quite prominent between Subhadrā and Jagannātha. Sometimes she is considered as the sister of Jagannātha - Kṛṣṇa and sometimes as his Wife or *Śakti*. The *Puruṣottama-māhātmya* of the *Skanda Purāṇa.* composed around 1300 C.E. says it in *clear* words :

Tasya śaktisvarūpeyaṁ bhaginī strīḥ prakalpitā (v. l. prakīrtitā) /

"Subhadrā is the Śakti of Him (Jagannātha), who is his sister but is also considered to be his wife".

The text of the *Mahāpuruṣavidyā*, however, composed between 1500 and 1520 C.E. candidly identifies Subhadrā with Ramā i.e. Lakṣmī and describes her as the Wife of Jagannātha - Viṣṇu In the sphere of Astrology, this sister-wife ambivalence is clearly seen in the visual depiction of the Zodiac sign of Gemini or *Mithuna*. Whereas in the western astrology they are depicted as brother-sister twins of tender age, the Indian texts describe them as an adult pair of husband and wife.

The second very authentic and clear reference to the mother Goddess as the basic source of all divine powers of the gods is found in the oft-quoted story occurring in the *Kena Upaniṣad* (Section 25) in which gods Vāyu, Agni and Indra are shown as working with the powers of the Goddess only. Mother Goddess Umā is the source of all divine energy and it is she who bestows this

---

2. *Vaj.S.3.57*, TS I.8.6. 1,2
3. *cf. Raghuvaṁśa* I.1

energy on the gods on the basis of which they function. The story yields a deeper meaning when analyzed properly. The Vedic language has two words to denote the divine beings. They are *Deva* and *Devatā* respectively. The first is masculine and second is feminine gender. The word *Deva* denotes god in general or any particular god. But his *divinity* i.e. divine powers and faculties, which are object of worship and with which he is capable of granting wishes of the worshipper is termed as *devatā*. It is not the *deva* per se who is an object of worship but the *devatā* or divinity i.e. the divineness in him. This is the reason why the *Anukramaṇī-s* of Vedas mention the name of the divine being (or even an object) praised in a particular hymn as *devatā* and not as *deva*. In other words the *Ṛṣi-s* do not praise a *deva* as such, but the *devatā* (divineness, the divine qualities) in that *deva*. They do not worship Indra as such but the *Indratā* of that god. This concept, I think, is the origin of the idea that the goddess in the god or the divine faculties in a god has been infused in him by an external power; here the Mother goddess Umā. It may also he remarked that the word *deity* in English is similarly derived from the Latin *deitās* which is also feminine in gender and is akin to *'devatā'* in its meaning. In all Tāntrik-Āgamic works describing the ritual for worship of the deities - whether male or female- the venerable or the worshipable aspect of the deity is always referred to in feminine gender as *devatā* and not as *deva*. For example, the texts describing the procedure of worship of Kṛṣṇa or Śiva would use such expressions as *devatām āvāhya*, *devatāṁ sampūjya, devatāyai nivedya and devatām visṛjya* etc. and not as *Devam āvāhya or devam sampūjya* etc. This shows clearly that the divine energy and faculty in a god is considered to be feminine and it is his real *Śakti* without which he becomes powerless. The same idea is developed further in the Tāntrik Buddhism, especially of Tibeten in which gods are always shown as being embraced by a female figure who is their *Śakti*. Without this female figure, they are considered to be devoid of any power and as such not capable of carrying out their functions. Umā of the Upaniṣad represents the combined or total force of cosmic divinity, which is distributed among the several gods according to the functions that they are supposed to carry out. Later, in the *Devī-Māhātmya* of the *Mārkaṇḍeya Purāṇa*, the gods are described as creating or re-creating the same Umā - now named differently - by putting their *Śakti-s* together.

This is the lineation of the *Śakti* as found in the texts of the uppermost strata of the ancient society. But the most realistic description of the various names, forms and shrines of the Mother Goddess is available in a very vivid form in the *Harivaṁs'a Purāṇa*.[4] It relates to the birth of the 7th child of Devakī born as female at the behest of Viṣṇu. This child is none other than the Yogamāyā or Nidrā of Viṣṇu. When the female infant is dashed against a rock

4. *Hari. P.*, II. 2 & 3

by Kaṁsa, it slips away from his hand and rising to the heaven changes herself into a goddess with four arms holding a trident, a sowrd, a lotus and a drinking bowl. The Purāṇa narrates further that the lady then departed South where she multiplied herself in many forms *(Bahurūpā)* as well as in amorphic symbols *(Virūpā)* and came to be worshipped on uncanny hilltops, river islands, mountain caves, dense forests and lonely deserted places by the Śabara-s (tribals), Barbaras (Barbarians) and the Pulindas (forest dwellers or hunters) etc. The verses following also mention that she always remains sorrounded by cocks, goats, rams (sacrificed to her) as well as by lions and tigers. "The people call her by the name goddess Vindhyavāsinī", the Purāṇa says further. *Harivaṁs'a Purāna* is datable in the pre-Christian era of first and second century. It is amazing that not much has changed in the popular form of the worship of Mother Goddess up to modern times, especially in Orissa. The goddess is worshipped all over Orissa by the tribals, by the people of the lower strata of the society and by the common masses in her *Virūpā* and *Bahurūpā* form in this very manner. Innumerable are her shrines all over Orissa (as elsewhere in India) and myriads are her names. Her shrines are located mostly in dense forests or on hilltops and the worship is conducted mostly to the accompaniment of meat and wine, at least on special occasions.

One may perhaps classify goddesses of Orissa into those of tribal or of classical origins, though such a classification may not be very exact and a lot of variations might be seen. The tribal goddesses, originated out of the religious beliefs of that particular strata of the society, are mostly *uniconic* and *amorphic*. They do not have any particular shape or form, i.e. to say that may sometimes have no form at all, and are mostly found to be worshipped as a *symbol* mostly made of stone or even a natural rock. This symbol is often smeared with vermilion mixed with ghee in order to give it an ochre-red look. Sometimes two silver eyes are fixed on the symbol which is, however, not mandatory. There are hardly any permanent structures around such *uniconic* deities. Every goddess of such a character has her own individual name, which may be an Oriya word or even a word of tribal language - sometimes semi-Sanskritised, sometimes left at such. The worship is performed by the tribal priest called *Dehuri* in his own traditional manner.

Then there is a second group of goddesses, which show a clear imprint of higher Hinduism or Vajrayāna Buddhism in their form. It is presumed that their icons are fashioned mostly to the specifications of the Tāntric texts, though many of the forms of these goddesses, their features and weapons etc. are not found to be mentioned in the texts at present available in Orissa. One good example of such a goddess is the Tāntric Vārāhī temple at the village Chaurasi in which the female Śakti of the boar incarnation of Viṣṇu is depicted as holding *Vajra* and fish in her hands. As another very nice example of this group may be

cited the image of Virajā Thakurānī situated off Banpur in a lonely region amidst sylvanic surroundings. The statue of the smiling goddess Virajā ('the immaculate one') in black chlorite is a gem of Orissan art, extremely graceful and charming. The goddess, in sitting posture with a height of approximately one metre, has four arms. With her two front or the main arms she is depicted as licking something with the little finger of her right hand out of a bowl held in her left hand. She is suggested to have been previously holding a trident in her right hand, which is presently pressed between the elbows of the right hand against her body. In her two upper hands she holds a rosary and a severed head respectively. The head of the goddess is set against the figure of an elephant whereas two delicate deer (gazelles) are shown at the bottom on either sides looking towards the goddess. She is sitting on a lotus, which is coming out of the navel of a male figure (not Śiva !) who is reclining on his left side.

It may be noted that her namesake the *Virajā* of Jaipur has totally different features and is depicted as *Mahiṣāsuramardinī*.

Then there are goddesses who were originally tribal or folk deities as their features show, but who have now received Sanskrit names as Bhagavatī or Paṭṭadevi, Raṅgadevī etc. They are half way towards getting totally Hinduised though they are still embedded in their special tribal rites and festivals. But a very special thing about them is that a metallic mask made either of brass or silver is fixed on their faces in order to bring out their specific facial features resembling Hindu goddesses. The practice is quite common in Orissan temples where the images of folk or tribal origin exist side by side with exquisitely worked out images sculpted according to the canons of Hindu *Śilpaśāstra*. The wooden statues of the trio of Jagannātha etc. also have hands and weapons etc. made of gold, which are fixed on the images on certain occasions, especially after their return from Gundicha during the *Rathayātrā* festival.

There are two very interesting features about the goddesses of Orissa, which are related to their worship and worshipper. The worshippers of the most of the Devī temples of Orissa, except those, which are highly brahmanised and have an image fashioned in classical form, belong to the caste of *Mālīs*, i.e. gardeners. Even the temples, which are semi brahmanised, also fall in the same category. I have been told that in all these temples, the original worshippers were priestesses, the Mālinīs (mālins), and not males. But as the time went on, the women found it difficult to carry on this function along with the performance of their duties in household and further the injunctions of purity-impurity etc. connected with women on certain days of a month, made it difficult for them to perform the worship in the temple regularly and punctually. Therefore, this function slowly got delegated to their husbands.

The second interesting fact about these goddesses is that none of them

has any special *Mantra-s* of their own for their worship and all of them are worshipped uniformly with the *Mantra* of *Vanadurgā* in a very specific manner appropriate to a goddess who is believed to be the *'Ruler of the forests'*. They are also decorated with flowers and leaves brought from jungles much like the Diana of the Roman pantheon. Vanadaurgā is not the same as Vanadevī or Vanadevatā, whose origin can perhaps be traced back to a Vedic hymn dedicated to *Araṇyānī*[5] and who is sometimes mentioned (often in plural also) in our Sanskrit literature. Like Diana who is a huntress moving around with a bow and a quiver, the Vanadurgā has also a tough nature. In her *Mantra* she is addressed as *puruṣi* - a manlike lady. It is very unusual word - formed with the addition of a feminine suffix to the word *puruṣa* - man. The *Mantra* of Vanadevī is in fact a small prayer addressed to her in *Anuṣṭubh* metre which may roughly be translated as follows : "Wake up O Man-lady ! Why are you sleeping ? There is danger around me. Whether it is possible or impossible (I don't know) but Durgā, noble lady, ward it off me ! Hail thee". The *Mantra* is thus more a magical formula than a prayer and the character of this sylvanic Durgā shows a mixture of the traits of Hinduistic Durgā with those of a furious tribal goddess.

The tribal goddesses have always made an upward movement in the Orissan society. It is mentioned in the traditional history of Keonjhar state ruled by the Bhanjas - who trace their origin from the egg of a peahen and who rule over a state mainly inhabited by Bhuiyan tribals, that the traditional deities of the Bhuiyans were five goddeses whose names are now quoted as Andharī, Paṭṭadevī, Raṅgadevi, Tāriṇī and Daṇḍadevī, Shrines of all these deities were originally located amidst cluster of trees in the forest. Their duplicate shrines are still there in the palace of the Rājā of Keonjhar. Of these goddesses Tāriṇī is supposed to be the *Rāṣhṭradevatā* of Keonjhar. Her shrine was originally located, only 38 years ago - in 1970 under a tree with a small unhewn, uniconic image of the goddess. However, when I happened to visit Keonjhar in the year 2000, I was amazed to find a magnificent modern temple with a beautiful gateway erected in her honour exactly at the place where the shrine had previously stood. The tree was no more there, it was perhaps withered out but the image - the same one - was exactly at that spot covered with a metallic face-mask representing features very much similar to those of Durgā of higher Hinduism. The image sat in a round pitch under open sky with no pavilion over it. The area around the pitch was covered with floor tiles. There was also a well laid out garden around, but all permanent structures were built away from the sanctum sanctorm.

The name Tāriṇī of the goddess means 'one who ferries across (the ocean of *Saṁsāra - bhavasāgara* or the ocean of miseries). It is a word of the

---

5. *RV, X.146*

same meaning and of the same origin as Tārā, the second *Mahāvidyā* of the Hindu Tantra and the most popular female deity of the Buddhists, considered to be Śakti, consort of Avalokiteśvara Padmapāṇi. The Tāriṇī of Keonjhar is deemed to be a highly compassionate goddess, much like the Bhuddhist Tārā whose beautiful images belonging to 8th - 11th century are found all over Orissa, especially in its ancient centers of Vajrayāna Buddhism like Ratnagiri and Lalitagiri. A number of such Buddhist images - especially of Tārā have been appropriated by the Hindus and converted into Hindu goddesses.

The best example of this phenomenon is the image of the goddess - as she is now called - Maṅgalā in Kakatpur, some 50 km. North-west of Puri on the river Prāchi. This temple and the goddess Maṅgalā are now inextricably woven in the Jagannatha cult. When the periodical renewal of the wooden statues takes place after every 12-19 years, it is the goddess Maṅgalā who directs the tribal priests of the Jagannātha temple (the Daitas) in a dream which way to proceed to collect the Neem-wood for the deities. In the year when the *Navakalevara* is due to take place, the party of the Daitas and the Brahmins leave on Akśayatṛitīyā day, first of all for the temple of Maṅgalā and sleep inside the temple in order to receive instructions from her.

In 1971 when a German group was working on the Religion and Culture of Orissa, some inquisitive German scholars entered the unguarded temple of Maṅgalā, which is not open for foreigners. When some priests came to know about this, they drove them away and washed the whole sanctum with water to remove the pollution. On this occasion, the deity who is usually heavily covered with only her face visible to the devotees was also undressed and given a purificatory bath. Though belonging to that group, I happened to arrive a little later in the temple when the washing was going on. I was, therefore, very lucky to see the image of the deity in an uncovered state and was surprised to see a Buddhist Tārā before me. She was sitting in the well-known *Laitāsana* on a lotus throne with her right leg hanging down and the left one bent and placed on the throne. In one of her hands she held a half-bloomed lotus with a long stalk and in the other a disk-like article, totally round which the priest described as full moon, but which looked like rosary to me. Asked about the founder and the origin of the image, the priest told that the legend was that the statue was found in the riverbed of the Prāchi river and that it is *svataḥ saṁbhavī* (came into being out of itself).

Maṅgalā is not the only goddess who is thus linked with Jagannātha. In fact much strongly linked with this Vaiṣṇava deity representing Kṛṣṇa is the goddess Vimalā whose shrine stands in the back of the main temple on the right side of the deity. It is considered to be a highly powerful *Tāntrika Siddhapīṭha*. The chief Brahmin priests of the Jagannātha Temple are Śaktas and the Vimalā

is their Iṣṭadevī. The Tāntrika texts describe Jagannātha as a form of Bhairava and the goddess Vimalā as his Bhairavī.

Vimalā Bhairavī Yatra Jagannāthastu bhairavaḥ./

Vimalā is the only godess in the Vaiṣṇavite Jagannātha temple whom animal sacrifice is offered on three days in a year - on the *Śaptamī*, *Aṣṭamī* and *Navamī* of the *Navarātra* of *Śarad*. On each one of these days one ram is offered to her and the meat is distributed among the Brahmin priests whose share is clearly defined by the tradition.

The rather extraordinary importance of Vimalā in the Jagannātha Cult can also be ascertained from the fact that the *Naivedya* or *Prasāda* offered to Lord Jagannatha has to be re-offered to goddess Vimalā, when the *Pūjā* is over. A small portion of every article offered to Jagannātha is taken in a large dish to the temple of Vimalā and offered there to the goddess with appropriate *Mantra*. It then returns to the temple of Jagannātha and the *Prasāda* is now termed as *Mahāprasāda*. Portions of it are dropped in the *Prasāda*, which has remained in the sanctum in order to convert that too into *Mahāprasāda*.

There are eight Śambhus and eight Śāktis in the Puri Town situated in all the eight directions around the main Temple who are believed to guard and protect the Śrīkśetra. There are also eight main regional Śāktipīthas including Vimalā in Orissa which enjoy maximum popularity as the seats of goddess and they are :

Carcikā in Bānki
Sāralā in Jankada
Virajā in Jagpur
Hiṅgulā in Talcher
Śambhalī in Sambhalpur
Vimalā in Puri
Bhagavatī in Banpur
Maṅgalā in Kakatpur

These are, so to say, the queen goddesses of Orissa ruling over a particular area assigned to them under a feudatory system. On certain occasions of the year, the less important goddesses of the region having mainly local following pay a visit to their queens where they are received with great honour. It is not the main image which is moved out of the temple but its representative, 'the moving image' or the *Calantī partimā* as they call it. And the most noteworthy and absolutely unique part of the story is that this *Calantī Partimā* is not in the form of an icon but in the form of a bamboo pole or a long wooden log usually made of Śāla tree ! This movable "image" is usually kept in the sanctum of the goddess at other times and also receives worship along with

the main worshipable image. On festive occasions, this log or bamboo pole is wrapped up with new and colourful cloth stripes, decorated in other manners as well and usually gets a bell tied to it. The priest then performs a special *Pūjā* invoking the goddess to get transferred to the pole and to reside there for the time being. This pole or log in now considered as the body of the goddess and is carrịed with great reverence by the devotees on their shoulders to the ruling goddess of that area. There it is placed - usually hung horizontally, with strings in the *Janamaṇḍapa* connected with the sanctum representing the audience hall of the queen. With many goddesses thus arrived on visit, a lot of festivities take place in the main temple for usually three days after which the subsidiary deities are given warm farewell. What I want to underline here is the unique phenomenon of the change of the abode of the goddess, this ambivalence from stone to wooden pole and back to the stone - iconic or nuiconic. It needs a strong faculty of imagination of abstraction to conceive of the goddess as residing sometimes in the icon and sometimes in a wooden log and it proves that it is not a gross idolatry that these simple people practise, but something much higher, since for them it is not the idol which is the goddess but an abstract, subtle divine substance which is present there at its will and which can move out and mainfest itself elsewhere too.

That the Orissan people are really capable of such type of philosophical abstraction is again proved by the shape of *Sudarśana Cakra* placed on the sanctum of Jagannātha temple which is simply a wooden log - about one metre long, wrapped up in red cloth. It is not round, it is long and one should really have a strong sense of abstraction to imagine it as the *Sudarśanacakra* of Viṣṇu.

If one were to trace the history of the wooden logs as gods or goddesses, one would perhaps land in jungles inhabited by tribals who worshipped mother goddess and made her image simply from a tree stem, carving out only the head and other facial features. Later when such goddesses are in the upper strata of Hindu Society, a proper shrine is erected for them and very often the wooden image is replaced in the sanctum by a stone image, but the wooden symbol does not lose its importance and is used as movable image. One of the most glaring and convincing examples of this phenomenon is the image of the goddess *Śtambhīśvarī* in the town of Sonepur. The goddess is in the form of a pillar with only head at its upper end. No hands are available or shown. *Śtambhīśvarī* is the most venerated goddess in the Western Orissa and it has a very long history. The Bhanja rulers of this region belonging to 9th to 10th Century especially Raṇabhanjadeva II very frequently used the adjective *Stambheśvarīlabdhavaraprasādaḥ* : i.e. the one who enjoys the grace or is favoured by the goddess *Śtambhīśvarī*. *Śtambhīśvarī* of Sonepur is worshipped as *Durgā - Bhuvaneśvarī* and the *Subhadrā* of the Jagannāha Temple is so similar in appearance to *Śtambhīśvarī* that she appears to be a

replica of the latter. Further, the *Kuladevī* of the Keonjhar branch of the Bhanjas is called *Daṇḍadevī* "goddess of log" which proves that her original form was also that of a log although later it has been replaced by a stone image. The Rājā and the chief priest bow their heads only before this goddess and before none else.

After the extinction of the *Sūryavaṁśa Gajapati* dynasty due to Muslim invasion from Bengal in 1564 C.E. and with the establishment of a new Bhoi dynasty in 1590, Orissa opens up much more towards Bengal and North India. The tribal goddesses slowly came to occupy back seat, classical Hinduism takes deeper roots and images of Durgā get prominence. Every important ruler of Orissa, gets an image of *Kanakadurgā* ('Durga- made of gold') fashioned for his private temple in his palace and the worship is conducted with Sanskrit *Mantra-s* in purely brahmanical manner. The worship has the purpose of destroying the enemies of the king. King Rāmacandradeva, the first ruler of the Bhoi dynasty also gets a manual of the worship of Durgā composed by his court Pandit Vardhamana which is the most authoritative work on the worship of Durgā composed by his court Pandit Vardhamāna which is the most authoritative work on the worship of Durgā in the Tāntrik manner of Orissan variety. This work, named *Durgotsavacandrikā*, composed in chaste Sanskrit is work of rare scholarship which wonderfully registers the details for the procedure of worship of *Durgā* in its classical Orissan version. Orissa has gradually come away from the tribal version of its Mother goddess and the tradition has slowly been Sanskritised, but in most cases it has wonderfully preserved some of the ancient traits belonging to the Cult as well, and in some other, it has blended these tribal traits very nicely with the traits of Pan-Indian Sanskrit tradition.

हैमवती विद्या

प्रो. बृजेश कुमार शुक्ल

प्राचीन भारतीय–वाङ्मय का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि भारत में विज्ञान अपनी चरम-सीमा पर था। प्राचीन भारत में रसायन-शास्त्र का विशद उल्लेख प्राप्त होता है। इस रसायन-शास्त्र को धातु-विद्या अथवा रसायन-विद्या के नाम से भी जाना जाता था। इस विद्या के अन्तर्गत स्वर्ण आदि धातुओं का ज्ञान, धातुओं के मिश्रण से अनेक धातुओं का निर्माण तथा कासीस आदि उपधातुओं के गुण-दोषों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन प्राप्त होता है। ताम्रादि धातुओं से स्वर्ण का निर्माण हैमवती विद्या के नाम से जाना जाता है। इस रस-विद्या के प्रथम आचार्य नागार्जुन माने जाते हैं। रस-सिद्धान्त, जिसमें स्वर्ण तथा चाँदी बनाने की विधियों का प्रयोग है, का प्रथम प्रवर्तन नागार्जुन ने ही किया था। उल्लेख मिलता है कि आठवीं शताब्दी में सरहभद्र ने नागार्जुन को एक विशेष स्थान पर प्रेषित किया था तथा वह वहाँ से स्वर्ण-निर्माण की प्रक्रिया सीख कर आये थे। तत् पश्चात् उन्होंने गुप्त रीति से इस विद्या का प्रचार-प्रसार किया था।

कौटिल्य ने **अर्थशास्त्र** में रस-विद्ध स्वर्ण का वर्णन किया है। ईसा के 300 वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में भी यह विद्या थी।[1] प्रसिद्ध भारत आगन्तुक अल्बरूनी ने भी स्वर्ण निर्माण की कला का उल्लेख किया है। आचार्य नागार्जुन से रस-सिद्धान्त को प्राप्त करके अन्य आचार्यों ने केवल कीमियागीरी या स्वर्ण रजत निर्माण तक ही प्रवीणता नहीं प्राप्त की, अपितु वे इन धातुओं को विभिन्न प्रकार से भस्म आदि के द्वारा मानव-शरीर पर भी प्रयोग करने लगे तथा इससे अनेक रोगों को दूर करने का साधन निकाला था।

ताम्र आदि धातुओं से स्वर्ण-निर्माण की विद्या को **'हैमवती विद्या'** तथा चाँदी के निर्माण को **'राजवती विद्या'** कहा जाता था। इन विद्याओं को गुप्त रखने का निर्देश दिया गया है।[2] रस-शास्त्र के ग्रन्थों में यह वाक्य लिखा मिलता है कि यह हैमवती विद्या पुत्र को भी नहीं देनी चाहिए।

"एषा हैमवती विद्या पुत्रायाऽपि न दीयते।"

स्वर्ण निर्माण की इस अद्‌भुत विद्या को बौद्ध आचार्यों ने भी अपनाया तथा इससे वे आश्रमों का खर्च चलाते थे। नाथ सम्प्रदाय के आचार्य भी इस विद्या में निष्णात थे। इन आचार्यों ने अपनी

---

1. भारतीय रस-शास्त्र, आचार्य पं. विश्वनाथ द्विवेदी, पृ 74
2. रसविद्या ध्रुवं गोप्या मातृगुह्यमिव ध्रुवम्।
   भवेद् वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या स्यात्प्रकाशनात्।। योग-तरङ्गिणी-22

गुरु-शिष्य परम्परा में हैमवती विद्या का उपदेश दिया था। हिन्दी-भाषा के कतिपय नाथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में स्वर्णनिर्माण की प्रक्रिया का वर्णन गुप्त भाषा में किया गया है। जैन आगम ग्रन्थों में हैमवती विद्या गुप्त भाषा में यत्र-तत्र उपलब्ध होती है। इससे ज्ञात होता है कि यह विद्या जैन साधुओं को भी ज्ञात थी। दरिद्रता से रहित करने का उपाय सिद्ध रस (पारद) था जैसा कि **'रसरत्न–समुच्चय'** में उल्लेख आया है– **"सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दारिद्रयमिदं जगत्।"**

बीसवीं शताब्दी में लक्ष्मी-नारायण के मन्दिर में महात्मा गाँधी के समक्ष 18 किलो रस-विद्ध स्वर्ण का निर्माण किया गया था। इसे काशी के श्याम शास्त्री ने बनाया था। यह लक्ष्मी नारायण मन्दिर, दिल्ली के स्तम्भ पर लिखित है। आज के समृद्ध रसायन-विज्ञान में कदाचित् हैमवती विद्या (स्वर्ण निर्माण की कला) की सिद्धि वैज्ञानिकों ने प्राप्त करने की चेष्टा नहीं की है। यहाँ ताम्र धातु से स्वर्ण निर्माण का शास्त्रीय विवेचन अपेक्षित है–

ताम्र धातु से स्वर्ण के निर्माण की प्रविधि

रस शास्त्र के ग्रन्थों में तथा तान्त्रिक वाङ्मय में ताम्र से स्वर्ण-निर्माण का वर्णन अनेकत्र प्राप्त होता है। **बृहन्नीलतन्त्र** में ताम्र से स्वर्ण बनाने के लिए पारद की भस्म निर्मित करने का विधान है। सर्वप्रथम पारद को अष्टादश संस्कार करके शुद्ध करें। तत्पश्चात् हाथी के मूत्र तथा बैजयन्ती (Eachynomene sesban) की जड़ से पारे को खूब घोटें। इसके बाद उसे लवण के मध्य में रख कर कण्डों की आग में गजपुट के द्वारा फूँक दें। पुनः इसे वासा (अडूसा) तथा कनेर (Nerium odorum soland) के रस से घोट कर पीपल के पत्रों में रख कर 1½ फुट गड्ढा खोद कर उसे हल्दी तथा गोबर से लीप दें। उस गड्ढे में उक्त पारे को गजपुट में पुनः फूँकें तो यह भस्म तैयार हो जाती है, जिससे स्वर्ण का निर्माण किया जा सकता है।[3] इसके बाद ताम्र, सीसा तथा पीतल के पत्रों को लेकर एक में घोटे। तत्पश्चात् चार फुट गहरा गड्ढा खोद कर कण्डों की आग में इन द्रव्यों को सात दिन तक भस्म करें। तदनन्तर निकाल कर तौल कर लौह के पात्र में रखे और इसे तपाकर द्रव रूप में परिणत करें। इस द्रव्य की आधी उक्त पारद की भस्म उसमें डालें तथा क्रमशः मातुलुङ्ग (Citrus medica), अडूसा तथा कण्टकारी (Solanusm Xanthcarpum) के रस को डाल-डाल कर उक्त द्रव्य को द्रवित करें और तन्त्र में कथित मातङ्गी देवी के मन्त्र का दश हजार जप करें तो निश्चित रूपेण उक्त ताम्रादि द्रव्य स्वर्ण में परिवर्तित हो जाते हैं।[4]

---

3. सार्धहस्तप्रमाणेन गर्तं कृत्वा तु देशिकः। हरिद्रागोमयेनाथ लेपयेत् परमेश्वरि।।
ततस्तु गजमूत्रेण भस्म कुर्याद् यथाविधि। वैजयन्त्याश्च मूलेन तथा सिद्धरसेन च।।
करीषकेण देवेशि भस्मीकुर्याद् विधानतः। शुद्धसूतं समादाय मङ्गले वासरे निशि।।
उर्ध्वाधो लवणं दत्त्वा भस्मीभवति तत्क्षणात्। अश्वत्थपल्लवेनैव संयुक्तं परमेश्वरि।।
सूतभस्म भवत्येव परेशि नात्र संशयः। अश्वदन्तेन देवेशि वाजिमारेण चैव हि।।
संयुक्तं सूतं तत्रत्यं भस्मीभवति तत्क्षणात्। बृहन्नीलतन्त्र 21.12–17

4. अथ वक्ष्ये महेशानि तत्त्वसारं पुरातनम्। येन विज्ञानमात्रेण कुबेर इव जायते।।
ताम्रसीसकमेतत्तु पित्तलं चापि यत्नतः। चतुर्हस्तप्रमाणं हि गर्तं कृत्वा तु साधकः।।
सरलं भस्म कुर्याच्च विवर्जाङ्गारसंयुतम्। करीषमर्धसंयुक्तं ताम्रस्योपरि पूरितम्।।
तापयेत्परमेशानि दिनानि सप्त चैव हि। ततः परमं महेशानि उत्तोल्य यत्नतः शिवे।।
द्रवीभूतं तथा ताम्रं येन जायेत सुन्दरि। तदर्धं च रसं तत्र दद्यात् प्रयतमानसः।।

'बृहद्योगतरङ्गिणी' में ताम्र से स्वर्ण निर्माण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ताम्र-पत्र को लेकर तीन बार उसे गन्धक से मारण करे तथा दो बार स्वर्ण से उसका मारण संस्कार करें। तत्पश्चात् उसे गलाकर उसमें एक मासा हरिताल (Yellow Sulphide of arsnic) का सत्त्व मिलाने से 8/16 भाग स्वर्ण बन जाता है। इसी के बराबर शुद्ध स्वर्ण पिघलाकर इसमें मिलायें तो सम्पूर्ण भाग स्वर्ण में बदल जाता है।[5]

उक्त ग्रन्थ में ताम्र से स्वर्ण निर्माण करने की दूसरी विधि का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है– पारद एक भाग, पीत खर्पर (Yellow Zuice carbones calamine) को दो भाग खरल में तब तक घोटे जब तक पारद विलीन न हो जाय। फिर जम्बीर (Citrus acida) के रस तथा गुड़ से युक्त करके खूब चिकनी पिष्टी बनाये। इस पिष्टी को धूप में सुखाकर आक (मदार) के दूध की दश भावना दें। पुनः इसमें एक भाग टङ्कण (Borax) मिला दें। तत्पश्चात् तीन भाग ताम्र के साथ मूषा (अन्धमूषा)[6] में तेज़ अग्नि के द्वारा फूँक दें तो ताम्र स्वर्ण में बदल जाता है।[7]

'बृहद्योगतरङ्गिणी' में ही ताम्र से सुवर्ण बनाने की विधि का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है– दोनों कपास अर्थात् छोटे तथा बड़े कपास के बीज, मदार के बीज, धतूर के बीज तथा छोटी कटेरी (Solanum Xanthcarpum) और बड़ी कटेरी के बीज तथा कनेर (Nerium odorum soland) के बीज पीस कर मदार के दूध की सात भावना दे। पुनः सरसों के तेल की सात भावनायें दें। तत्पश्चात् इसके बराबर गन्धक मिलाकर लोध्र (Symplocas racemosa) के रस में पीसे। इसमें दिव्य औषधियों[8] को डाल कर वस्त्र से बाँध कर वज्र कपरौटी करके मुख से एक लोहे की नलिका लगाये। नलिका का मुख एक पात्र में रखना चाहिए। अग्नि देकर उक्त औषधियों का तेल निकाल लें। इस तेल को ताम्र के पत्रों पर लगाकर तपाये, तो कई बार तपाने से ताम्र पत्र में 7/16

विजावरसकेनैव अटरूषरसेन च। सिंहिकारसकेनाथ युक्तं कुर्यान्महेश्वरि।।
ततश्च स्वर्ण जायेत सत्यं सुरगणार्चिते। मूलमन्त्रस्य जाप्येन सिद्धयत्येव न संशयः।।
सहस्रदशजापेन सिद्धयत्येव न संशयः।। बृहन्नीलतन्त्र 21.1–9

5. त्रिवारं गन्धकहतं ताम्रं हेमद्वयोरिदम्। सत्त्वं तालस्य माषैकं योजयेत्सर्वकामदम्।।
अष्टवर्णं भवेद् हेम ताम्रगन्धकमारितम्। एतयोर्दीयते रम्यं जायते काञ्चनं शुभम्।।
बृहद्योगतरङ्गिण्यां पृ. 272

6. भूसी की राख दो भाग, बाँबी की मिट्टी 1 भाग, लोहे की किट्ट 1 भाग, सफेद खड़िया का चूर्ण 1 भाग तथा इन सबके बराबर मनुष्य के कटे हुए बाल लेकर बकरी के दूध में तीन घण्टे खरल करें। इसके बाद गाय के स्तन के समान एक मूषा (पात्र) का निर्माण करके सूर्य के आतप में सुखाएं। यह मूषा (पात्र) गहरी तथा मध्य में छिद्र युक्त होनी चाहिए। इसे अन्धमूषा कहते हैं।

7. पारदः पलमेकः स्याद् द्विपलं पीतखर्परम्। सम्मर्दयेद् दृढं तावद् रसो यावत्प्रलीयते।।
पुनर्जम्बीरनीरेण गुडेन च समन्वितम्। शोषयेच्चातपे पिष्ट्या श्लक्ष्णं कृत्वा च धार्यते।।
अर्कदुग्धस्य दातव्या भावनास्ता यथा तथा। अस्य कल्कस्य सिद्धस्य भाग एकस्य टङ्कणः।।
ताम्रभागत्रयं दत्त्वा धास्यतामन्धमूषया। सुवर्णं दिव्यतेजः स्यात्कुङ्कुमादतिरिच्यते।।
वही

8. सोमकला, पद्मिनी, अजगरी, गोनसी, त्रिजटा, ईश्वरी, भूतकेशी, रुदन्ती, बृद्धमुण्डी, लशुनी, शम्बरा, बाराही, जातकी, अशोक, छत्रा, नागिनी, पुन्नागपली, देवी, वज्रबल्ली तथा चित्रक इत्यादि 64 औषधियों का नाम दिव्यौषधि है। हिन्दी मन्त्रमहार्णव (मिश्रभाग) पृ० 139

भाग शुद्ध स्वर्ण आ जायेगा।[9]

'मन्त्रमहार्णव' में ताम्र से स्वर्ण बनाने की विधियों का वर्णन किया गया है। उनमें से एक विधि यह है कि पारा को लेकर तुलसी-पत्र के रस में खूब घोटे। जब पारा दाना-दाना हो जाये, तो उसे नर चमगादड़ के कमर में कुमारी कन्या के हाथ से काते सूत्र के द्वारा निम्नलिखित मन्त्र पढ़ते हुए बाँध दें– **"ॐ मोहनपारा अनतदुवारा काज करै हमारा जो अग्नि ऊपरथी जाये तो गुरुगोरखनाथ की आन"।**

पुनः इस पारे को चमगादड़ के मुख में रख कर कण्ठ तक पहुँचा दें। तत्पश्चात् मुख तक उसे कपड़मिट्टी करके खूब सुखा दें। पुनः इसे शराव (प्याले) सम्पुट में बन्द करके गजपुट में फूँक दें। इतनी अग्नि दें कि चमगादड़ की अस्थियाँ भी जल कर भस्म हो जायें। इसके लिए चार-पाँच दिन तक अग्नि जलाना होगा। जब स्वाङ्ग-शीतल हो जाय तो पारे की भस्म निकाल लें। पुनः ताम्र को गलाकर उसमें थोड़ी सी भस्म डाल दें तो वह ताम्र (Copper) स्वर्ण बन जाता है।[10]

इसी ग्रन्थ में ताम्र से स्वर्ण निर्माण के सम्बन्ध में एक अन्य विधि का वर्णन इस प्रकार किया गया है– तबकिया हरिताल, हलदिया तथा जहरपारा प्रत्येक 15-15 ग्राम लेकर धृतकुमारी के रस में डेढ़ घण्टे खरल करें। पुनः टिकड़ी बनाकर शराव (प्याले) सम्पुट में रखकर 100 ग्राम सीप के चूने से उसको बन्द करके कपड़ मिट्टी करें। तत्पश्चात् 2½ किलो कण्डों में इसे फूँक दें। स्वाङ्ग शीतल होने पर निकाल लें। इसे तपाये हुए ताम्र पर डालें तो ताम्रपत्र स्वर्ण बन जाता है।[11]

'मन्त्रमहार्णव' में ताम्र से स्वर्ण बनाने की तीसरी विधि का वर्णन इस प्रकार किया गया है– जङ्गली सुअर के गले का मांस 1½ किलो, तबकिया हरिताल ½ किलो पीस कर मिलायें। इसे किसी पात्र में भरकर मुख ढक कर 40 दिन तक घूरे में गाड़ दें। उसमें पीतमुख वाले कीड़े पड़ जायेंगे। इन कीड़ों को निकाल कर बोतल में भरे, तथा भाप के ऊपर बोतल को धीरे-धीरे गरम करें तो ये कीड़े पानी हो जायेंगे। इस पानी को ताम्र पत्र पर लगाकर अग्नि में कई बार तपावें तो ताम्र-पत्र स्वर्ण में बदल जाता है। यहाँ सुअर के मांस के स्थान पर प्रथम प्रसूता गाय के पहले

---

9. कार्पासद्वयबीजानि रविबीजानि यानि च। धत्तूरकस्य बीजानि बृहत्योश्च द्वयोस्तथा।
करवीरस्य बीजानि समभागनि कारयेत्। पिष्ट्वा वज्रदृढं शुद्धमर्कदुग्धेन सप्तधा।।
भावयेत् सर्षपांस्तैलभक्तं पश्चाच्च गन्धकम्। कृतसूदं पुनः पिष्ट्वा व्रजं लिप्त्वा प्रयत्नतः।।
औषधानि मयोक्तानि पुरा प्रोक्तानि यानि च। क्षेपणीयानि तद्बन्धस्योपरि प्रमितानि च।।
वस्त्रसम्मार्जनैर्गाढमयः शूलिकया च तत्। निवध्यते ततः पश्चादयसोऽपि शलाकया।।
प्रोतयित्वा भृशमिमामग्निं तत्र च कारयेत्। तदधो भाजनं धृत्वा ज्वलमानात्तदौषधात्।।
तैलं गन्धकसम्पीतं भाजने निपतत्पधः। तेन वै चार्कपत्राणि परिलिप्तानि वह्निना।।
तावन्ध्येव पुनस्तप्ट्वा पुनरग्नौ परिक्षिपेत्। भवन्ति तानि रम्याणि सुवर्णं सप्तवर्णकम्।।
—बृहद्योगतरङ्गिणी पृ. 272–276

10. हिन्दी मन्त्रमहार्णव पृ. 139

11. वही

या दूसरे दिन के दूध को भी लिया जा सकता है। कुछ आचार्यों के मत से हरिताल के स्थान पर आमलासार गन्धक भी डाला जा सकता है।[12]

'दसवेयालिय' जैन आगम में ताम्र से स्वर्ण बनाने की एक गुप्त विधि का वर्णन इस प्रकार आया है– धतूर (काले) के रस में पारे को और स्वर्ण को लाल अगस्त के रस में तथा ताँबे को बङ्ग में मिला कर मर्दन करें। पुनः इन सबको पीली देवदाली के रस में इतना मर्दन करें कि द्रव रूप में हो जाय। यह रस ताम्र या चाँदी को पिघलाकर उसमें डाले तो स्वर्ण बन जाता है।[13]

'बृहद् रसराजसुन्दर' में ताम्र से स्वर्ण निर्माण की विधि का इस प्रकार वर्णन उपलब्ध होता है– गन्धक से शुल्ब[14] का मारण करें तथा उसके बराबर हिङ्गुल (Cinnabar) मिलाकर बिजौरे (Citrus Medica) के रस से खरल करें। इसे सीसे के पत्रों पर लेप कर तीन पुट देने से सीसे की सिन्दूर के समान लाल भस्म हो जायेगी। ताम्र को गला कर इसमें उक्त भस्म का प्रक्षेपण करें तो स्वर्ण निर्मित हो जाता है।[15]

'काकचण्डीश्वरकल्पतन्त्र' में अङ्कोल–कल्प के सन्दर्भ में ताम्र से स्वर्ण-निर्माण की चर्चा करते हुए कहा गया है कि अङ्कोल के तेल से पारे का मर्दन करें तथा पुट-पाक करने से पारे का बन्धन हो जाता है। इस पारद को निष्क मात्र लेकर पिघले हुए ताम्र में डाले तो स्वर्ण बन जाता है।[16]

इसी ग्रन्थ में लाङ्गली–कल्प के प्रसङ्ग में भी ताम्र से स्वर्ण निर्माण की विधि का वर्णन प्राप्त होता है– लाङ्गली (कलिहारी) की जड़ को गन्धक के साथ घोटें तथा इसी में पारे का मर्दन करें। तत्पश्चात् इसे ताम्र के पत्रों पर लेप करके गजपुट में अग्नि प्रदान करें तो ताम्रपत्र स्वर्ण में परिवर्तित हो जाते हैं।[17]

इसी प्रकार रुदन्ती-कल्प के प्रसङ्ग में श्री ताम्र से स्वर्ण-निर्माण की प्रविधि बतलायी गयी है– पारद, सीसा, माक्षिक (Pyrites), मनःशिला (Realgar), गन्धक, हरिताल (Orpimemt), इन सब को गाय के मूत्र में पीसे, तत्पश्चात् रुदन्ती के रस से सवा घण्टे मर्दन करें। इस लेप

---

12. वही, पृ० 139–140
13. धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा सज्जमो तवो। देवावितं नमं सन्ति जस्स धम्मे सया अणो।
    धम्मो-पारा, मंगल-सोना, मुक्किट्ठं-ताम्बा, अहिंसा-कथीर (बंग), सज्जमो-लाल अगस्तिया, तवा-काला धतूरा देवावि-पीली देवदाली। रसशास्त्र, पृ. 95
14. माक्षिक के साथ दश बार मारा गया ताँबा अथवा नीलाञ्जक के साथ सात बार मारण संस्कार से युक्त ताम्र को पुनः अपने स्वरूप में यदि लाया जाय तो इसे शुल्ब कहते हैं।
15. गन्धकेन हतं शुल्बं दरदेन समं कुरु। मातुलङ्गरसे पिष्ट्वा त्रिपुटान्म्रियते फणी।।
    सिन्दूराभं भवेन्नागं ताम्रं भवति काञ्चनम्।। बृहद्रसराजसुन्दरम् पूर्वखण्ड-पूर्वभाग, पृ. 51
16. तत्तैलमर्दितः सूतः पुटे बन्धत्वमाप्नुयात्।
    तन्निष्कमात्रं विन्यस्तस्ताम्रः स्वर्णत्वमाप्नुयात्।। काकचण्डीश्वर कल्पतन्त्रम् पृ० 22
17. तस्यामूलं तु सङ्गृह्य गन्धकं च तथैव हि। रसेन सह सम्मर्द्य ताम्रपत्राणि लेपयेत्।।
    दद्याद् गजपुटं स्वर्णवर्णत्वं यान्ति तानि च।। तत्रैव, पृ० 41

के द्वारा ताम्र के पत्रों को लेप करके मूषा यन्त्र में रखकर खैर (कत्थे) की लकड़ियों की अग्नि से तपायें तो ताम्रपत्र स्वर्ण में बदल जाता है।[18]

श्रीनित्यनाथसिद्धविरचित रस-रत्नाकर के रसायन-खण्ड में वज्र-सुन्दरी गुटिका के सन्दर्भ में लिखा है कि वज्र सुन्दरी गुटिका के सेवन करने वाले व्यक्ति के मल से लिप्त ताम्र-पत्र को तपाने से दिव्य स्वर्ण की प्राप्ति होती है।[19]

'मन्त्रमहार्णव' में लिखा है कि गन्धक के तेल से लिप्त ताम्रपत्रों को तपाने से ताम्र-पत्र स्वर्ण में परिवर्तित हो जाते हैं।[20]

'पारद-संहिता' में लिखा है कि 10 ग्राम रस-कर्पूर को लेकर बिजौरा नीबू के मध्य में रखकर मुलतानी मिट्टी से कपड़मिट्टी करें। इस प्रकार सात कपरौटी करके 1 किलो कण्डों में फूँक दें। इस तरह तैयार रसायन को ताम्रपत्र पर तपा कर डालें तो ताम्र स्वर्ण में बदल जाता है।[21]

इसके अतिरिक्त अभ्रक, मैनशिल (Realgar) बराबर-बराबर लेकर इन दोनों के बराबर शुद्ध पारद लेकर घोट लें। पुनः इसी के बराबर गन्धक लेकर कच्छप यन्त्र[22] में गन्धक का जारण[23] करें। इसी प्रकार चौगुनी गन्धक का जारण करना चाहिए। इस जारण कर्म में चार दिन का समय लगेगा। इस प्रकार निर्मित रसायन 1 रत्ती लेकर तपाये हुए ताम्रपत्र (1 तोला या 10 ग्राम) पर डालने से ताम्रपत्र स्वर्ण में परिवर्तित हो जाता है।[24]

'दत्तात्रेय तन्त्र' में लिखा है कि हरिताल (Orpiment), लाल गन्धक[25] (Red Sulphur) तथा मैनशिल (Realgar) को बराबर-बराबर लेकर लाल वर्ण की गाय के मूत्र में 11 दिन तब तक खरल करें जब तक शुष्क न हो जाय। इन 11 दिनों में निम्नलिखित मन्त्र का 11 हजार जप करना चाहिए– **"ऊँ नमो भगवते रुद्राय स्वर्णादीनामीशाय रसायनस्य सिद्धिं कुरु कुरु फट् स्वाहा।"**

---

18. रसनागौ समौ दत्त्वा माक्षिकं च मनःशिलाम्। गन्धकं तालकं चैव पिष्ट्वा मूत्रे विनिक्षिपेत्।
रुदन्त्याश्च रसेनैव मर्दयेद् घटिकात्रयम्। तेनैव ताम्रपत्राणि लेपयेच्च विचक्षणः।।
मूषामध्ये क्षिपेत् पश्चाद् ध्मानं खदिरबह्निना। कुर्यात् स्वर्ण जायते च निर्बीजं दोषवर्जितम्।।
काकचण्डीश्वरकल्पतन्त्रम्, पृ. 47
19. तदुद्भवमलैर्लिप्तं ताम्रं तु धमनेन हि। जायते कनकं दिव्यं सत्यं शङ्करभाषितम्।।
रसायनखण्ड, उपदेश 3 पृ. 21
20. हिन्दी मन्त्रमहार्णव मिश्र-भाग पृ. 140
21. 'तन्त्र-त्रिकाल' मासिक पत्रिका अप्रैल, 1990, पृ. 4
22. एक प्याले में पारद तथा गन्धक भर कर दूसरे प्याले के द्वारा उसे ढक दें। सन्धि स्थानों पर चिकनी मिट्टी का लेप करके कपड़ मिट्टी करें और इसे सुखा लें। यही कच्छप यन्त्र है जिसे गजपुट में अग्नि दी जाती है।
23. कच्छपयन्त्र में पारद के बराबर गन्धक लेकर गजपुट में अग्नि संस्कार करना जारण कहलाता है। इसे बार-बार खोल कर पुनः गन्धक डालकर पारद के साथ छः गुनी गन्धक जलानी चाहिए।
24. 'तन्त्र-त्रिकाल' मासिक पत्रिका (अगस्त 1990), पृ. 4–5
25. चतुर्धा गन्धकः प्रोक्तो रक्तः पीतः सितोऽसितः। रक्तो हेमक्रियासूक्तः पीतश्वेतौ रसायने।
व्रणादिलेपने श्वेतः कृष्णः श्रेष्ठः सुदुर्लभः।।

बारहवें दिन उस द्रव्य का गोला बनाकर उस पर लाल वस्त्र लपेटे और चार अङ्गुल मोटी मिट्टी का लेप करके सुखाये। तत्पश्चात् पांच हाथ प्रमाण का गहरा गड्ढा खोद कर ऊपर नीचे फ्लाश (Butia frondosa) की लकड़ियाँ रखकर मध्य में गोले को रखें। इस प्रकार अग्नि जला कर भस्म बनायें। जब स्वाङ्गशीतल हो जाय तो गोले को निकाल कर निर्मित रसायन एक शीशी में रख लें। इस रसायन को 1 रत्ती तपाये गये 10 ग्राम ताम्र के पत्र पर डालने से स्वर्ण की प्राप्ति हो जाती है।[26]

उपर्युक्त रसायन के सन्दर्भ में **'तन्त्र-त्रिकाल'** मासिक पत्रिका में लिखा है कि साधारणतया ताँबे को तपा कर यदि रसायन डाला जायेगा तो, उसमें स्वर्ण मात्रा कम होगी। अतः अधोलिखित विधि से ताम्र को खूब लाल करना चाहिए तब इस पर रसायन डालने से शुद्ध स्वर्ण प्राप्त होगा। सर्वप्रथम कलमी शोरा तथा नौसादर और लाल फिटकरी तथा सुहागा समभाग लेकर पीसकर गाढ़ा घोल बना लें। इस घोल को ताम्र पत्र पर लगा कर तेज आग में तपायें तथा चूने के पानी में बुझा लें। ऐसा 25 बार करने से ताम्र पत्र गहरे रक्त वर्ण का हो जाता है। इस ताम्र पत्र को तपाकर उक्त रसायन डालने से ताम्र-पत्र स्वर्ण में बदल जायेगा।[27]

मेरे विचार से जहाँ-जहाँ ताम्र पत्र को तपाकर रसायन डालने की बात कही गयी है वहाँ उपर्युक्त विधि से ताम्र-पत्र का संस्कार करना चाहिए।

'दत्तात्रेय तन्त्र' के अनुसार उपर्युक्त रसायन की सिद्धि वन प्रदेश अथवा निर्जन शिवालय के समीप करना चाहिए। साधक शुक्लपक्ष में बलवान् चन्द्रमा के योग में **'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्पुष्टिवर्धनमुर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्'** इस वैदिक मन्त्र का दस हजार जप करे तथा 11 ब्राह्मणों को 11 दिन तक अथवा जब तक रसायन सिद्ध न हो जाय तब तक भोजन करायें।[28] इस प्रकार यह विधि तन्त्र में लिखित होने के कारण तान्त्रिक अनुष्ठान से समन्वित है।

'रसजलनिधि' नामक ग्रन्थ में ताम्र से स्वर्ण निर्माण की कई विधियों का वर्णन किया गया है। उसमें एक विधि का वर्णन इस प्रकार है– गन्धक 10 टङ्क लेकर गाय के घृत के साथ गलायें। इसे पाँच बार गला-गला कर घृतकुमारी के रस में डालें। पुनः इसे तीन टङ्क नौसादर

---

26. अथाग्रे कथयिष्यामि रसायनविधिं परम्। कुबेरतुल्यो भवति यस्य सिद्धौ नरो भुवि।।
गोमूत्रं हरितालं गन्धकं च मनःशिलाम्। समं समं गृहीत्वा तु यावच्छुष्कं तु कारयेत्।।
गोमूत्रं रक्तवर्णाया गन्धकं रक्तवर्णकम्। एकादश दिनं यावद्रक्ष्यं योगेन वै शुचिः।।
गोलं कृत्वा द्वादशेऽह्नि रक्तवस्त्रेण वेष्टयेत्। चतुरङ्गुलमानेन मृदं लिप्त्वा विशोषयेत्।।
पञ्चहस्तप्रमाणेन भूमौ गर्तंतु कारयेत्। फ्लाशकाष्ठलौष्ठैस्तु पूरयेद् द्रव्यमध्यगम्।।
अग्निं दद्यात् प्रयत्नेन स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत्। ताम्रपत्रे सुसन्तप्ते तदभस्म तु प्रदापयेत्।।
गुञ्जैकं तत्क्षणात् स्वर्णं जायते ताम्रपत्रकम्।। (दत्तात्रेयतन्त्र 13.1–7)

27. 'तन्त्रत्रिकाल' मासिक पत्रिका (सितम्बर 1990), पृ. 5

28. अरण्ये निर्जने देशे शिवालयसमीपतः।
शुक्लपक्षे सुचन्द्रेऽह्नि प्रयोगं साधयेत् सुधीः। त्रम्बकेति च मन्त्रस्य जपं दशसहस्रकम्।।
प्रत्यहं साधको विप्रान् भोजयेद् रुद्रसम्मितान्। यावत्सिद्धिर्न जायेत तावदेतत्समाचरेत्।।
(दत्तात्रेय तन्त्र, 13.7-9)

मिलाकर पीस कर सुखायें। तत्पश्चात् पाँच तोला (50 ग्राम) कालीमिर्च को पीस कर जल मिलाकर कई बार इसकी भावना उक्त गन्धकचूर्ण में देनी चाहिए। पुनः इस गन्धक को सुखाकर चने के समान गोलियाँ बाँधें। तत्पश्चात् स्वर्ण को पिघला कर क्रमशः एक-एक गोली उसमें डालनी चाहिए। इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ स्वर्ण में बदल जायेगा। यदि ताम्र को पिघला कर इसमें 1/10 भाग उक्त गन्धकादि द्रव्य डालें तो ताम्र में 1/4 भाग स्वर्ण आ जाता है।[29]

ताम्र से स्वर्ण निर्माण की एक दूसरी विधि का वर्णन इसी ग्रन्थ में इस प्रकार है– शुद्ध गन्धक को 21 बार नीबू के रस में भावना दे-दे कर आतप में सुखायें। पुनः मुर्गी के अण्डे में स्थित पीले द्रव से उक्त गन्धक में चार बार भावना दें। तत्पश्चात् महीन ताम्र के पत्रों को लेकर उन पर उस गन्धक का लेप करें और पुटपाक के द्वारा तपाकर जल में बुझालें इसी प्रकार गन्धक से लिप्त करके जल में बुझाने का कार्य सात बार करना चाहिए। ऐसा करने से इसमें तीन भाग चाँदी तथा एक भाग ताँबा रह जाता है। पुनः इसको मूषा यन्त्र में रख कर पुटपाक करें तो ताम्र भाग क्षीण होकर 7/16 भाग स्वर्ण आ जाता है। इसमें यदि 12/16 भाग शुद्ध सुवर्ण मिला दें तो सम्पूर्ण मिश्रण शुद्ध स्वर्ण में बदल जाता है।[30]

इसी प्रकार ताम्र से स्वर्ण निर्माण की एक और विधि का वर्णन 'रसजलनिधि' में इस प्रकार लिखा गया है– मैनशिल (Realgar), माक्षिक (Pyrites), सीसा, पाषाणभेद (Coleus amboinicus), लाजवर्त्य, प्राचीन लौह पर लगा हुआ मल, हिङ्गुल (Cinnabar), खर्पर (Zuice Carbones Calamine), तूतिया (Copper Sulphate) तथा पीत कासीस (Yellow Ferrus Sulphate) इन सब को बराबर मात्रा में लेकर खरल में खूब मर्दन करना चाहिए। पुनः इसी के बराबर गन्धक मिलाकर दो मूषा यन्त्र (कच्छपयन्त्र) में जारण करें। इसी प्रकार षड्गुण (छः गुनी) गन्धक का जारण करना चाहिए। इस प्रकार निर्मित रसायन की 1 रत्ती मात्रा लेकर गलाये हुए 10 ग्राम ताँबे में डालने से 4/16 भाग शुद्ध स्वर्ण बन जाता है अथवा 8/16 भाग शुद्ध सुवर्ण

---

29. दशटङ्कमितो गन्धो घृतेन सह गालितः। कन्यकाद्रवमध्ये तं निक्षिपेद्वारपञ्चकम्।।
अस्मिन् शुद्धे दृढे गन्धे त्रिटङ्कनवसारकम्। मारिचानि च पिष्टानि पञ्चतोलानि वारिणि।।
निक्षिप्यते तदा वारि दत्ता दत्ता विभाव्यते। गन्धकः शोष्यते पश्चाद्वद्धश्चणकसम्मितः।।
गलद्हेम्नि शनैर्दद्याच्छनैर्गन्धं शनैः शनैः। ताम्रं पूर्व शनैर्योज्यं गन्धभागो दशात्र च।।
सर्वसञ्जायते रम्यं हेमरक्तं च निर्मलम्। तोलके माषकं दद्यादेकं वर्णचतुष्टयम्।।
रसजलनिधि, प्रथमखण्ड, पृ. 324-325

30. निम्बूरसेन सद्गन्धं भावयेच्छुद्धमातपे। एकविंशन्मिताभिस्तं भावनाभिः समन्ततः।।
कुक्कुटाण्डद्रवेणामुं चतुर्वेलं विभावयेत्। अथ ताम्रस्य पत्राणि सुसूक्ष्माणि दृढानि च।।
कर्त्तव्यानि च गन्धेन तेन लेप्यानि तानि च। पुटनीयानि तान्यग्नौ निधाप्यन्ते पुनर्जले।।
विलेप्याथ विलेप्याथ गन्धकेन पुनः पुनः। सप्तबेलमिदं कर्म कृत्वा कृत्वा पुनः पुनः।।
तानि विध्माप्य वै गाढ़ गृह्यते ताम्रमुत्तमम्। अरुणादित्यसङ्काशं निर्दोषं तारमुद्धरेत्।।
तारे टङ्कत्रये देयं टङ्कमेकं शुभं रविः। पुद्यते ताम्रमेवैतद्यावत्ताम्रक्षयो भवेत्।।
घर्षितं च पुनस्ताम्रं दृश्यते सप्तवर्णिकम्। तत्र हेम द्वादशांशमन्यन्मेलय चोत्तमम्।।
हेम सञ्जायते सर्वं रम्यं चैव सुखप्रदम्। रसजलनिधि प्रथमखण्ड, पृ. 335

निर्मित हो जाता है।[31] यह अर्थ यहाँ स्पष्ट नहीं है।

उपर्युक्त स्वर्ण निर्माण के विषय में लिखा है कि भोग करने हेतु स्वर्ण-निर्माण वंश नाश का हेतु है, अतः ऐसी अवस्था में स्वर्ण निर्माण नहीं करना चाहिए। दरिद्रता के निवारण हेतु ही यह आचरण करना चाहिए। स्वर्ण-निर्माण करते समय ब्रह्मचर्यपूर्वक भक्तिभाव से गन्ध, पुष्प, नैवेद्य आदि के द्वारा तर्पण से नित्य भैरव, योगिनियों तथा गुरु का पूजन करना चाहिए।[32]

इसके अतिरिक्त ताम्र को हिङ्गुल (Cinnabar) के द्वारा तीन बार मारण करके जीवित करें, जिससे ताम्र कालिमारहित, भारी तथा पीत रक्त कान्ति वाला हो जाता है। तत्पश्चात् खर्पर (Zuice carbones calamine) लेकर त्रिफला (आँवला, हरड़ तथा बहेड़ा) के जल से भावना[33] दें तथा सेहुड़ (थूहर) के दूध से खूब घोटे। तत्पश्चात् उक्त ताम्र को मूषा में खर्पर के मिश्रण के साथ रखकर अग्नि दें तो ताम्र स्वर्ण में परिवर्तित हो जाता है।[34]

'रसजलनिधि' (द्वितीय खण्ड) में ताम्र से स्वर्ण बनाने की एक और सरल विधि प्रस्तुत की गयी है– हरिताल (Yellow Sulphide of arsenic) को लेकर रुदन्ती के स्वरस से खूब मर्दित करें तथा इसे ताम्रपत्र पर लेप करके अग्नि में तपायें तो ताम्र पत्र स्वर्ण बन जायेगा।[35]

'मातृकाभेदतन्त्र' के पञ्चम पटल में पारद की भस्म के निर्माण का विधान बतलाया गया है जिससे ताम्र को स्वर्ण में परिवर्तित किया जा सकता है। पारद-भस्म निर्माण की विधि इस प्रकार है– साधक पारद को लेकर पत्थर के बर्तन में रखे तथा नवाक्षर मन्त्र (ॐ ऐं ह्रीं क्लीं नमः) का अष्ट सहस्र जप करें। तत्पश्चात् पारद को स्वयम्भू[36] रक्त से रञ्जित लाल कपड़े में बाँध कर मिट्टी के दो पात्रों के मध्य रखकर स्वयम्भू रक्त से सिञ्चित सूत्र के द्वारा यत्नपूर्वक बाँध कर

---

31. शिला माक्षिकनागाश्च कर्पूरमणिकाः समाः। राजावर्त पुराणस्य लोहस्य तनुजं मलम्।।
देहस्थमरुजं ग्राह्यं लोहे लग्नं च यद्भवेत्। दरदं खर्परं तुत्थं पीतकाशीशमर्दितम्।।
मूषायां धमनं कुर्यात् सुदृढं गन्धकं क्षिपेत्। षड्गुणं जारयेन्मूषे शनैरेनं शनैः शनैः।।
उपर्यन्या भवेन् मूषाऽप्येवं जारणपद्धतिः। अष्टवर्णे सुवर्णे तद् रसगुञ्जा प्रदीयते।।
एकतोलेऽपि ताम्रे तद्गालिते शीघ्रमुत्तमम्। वर्धते कनकं सत्यं महावर्णचतुष्ट्यम्।।
रसजलनिधि, प्रथमखण्ड, पृ. 337

32. भोगाय स्वर्णकार्यं तु वंशनाशाय कल्पते। कार्यमेतत् परित्याज्यं दारिद्रये हि समाचरेत्।।
पूजयेद् भैरवं तदा सततं गुरुमर्चयेत्। सततं योगिनीवृन्दं ब्रह्मचर्येण नित्यशः।।
गन्धपुष्पादिनैवेद्यतर्पणैर्भक्तिभावतः।। वही, प्रथम खण्ड पृ. 337

33. किसी द्रव्य में किसी औषधि विशेष के रस को डाल कर घोटना और छाया में पुनः शुष्क करने की क्रिया का नाम भावना है। यह क्रिया कई बार उस द्रव्य में की जाती है।

34. दरदेनाहतं ताम्रं त्रिवारं जीव्यते रविः। कालिमारहितं शश्वद्गुरुपीतारुणच्छविः।।
अथ खर्परमादाय भाव्यते त्रिफलाम्भसा। पुनः सेहुण्डदुग्धेन तावता मूषिकां कुरु।।
दीयते तत्र तत्ताम्रं विमुद्रय ध्मायते भृशम्। ताम्रतो हेम जायेत राजयोग्यं निरन्तरम्।।
रसजलनिधि, प्रथम खण्ड पृ. 345

35. रुदन्तीस्वरसेनैव मर्दयेद् हरितालकम्। ताम्रपत्रं प्रलेपेन दिव्यं भवति काचनम्।।
बही, द्वितीय खण्ड, पृ. 194

36. विवाहरहिता कन्या प्रथमं पुष्पसंयुता। तच्छोणितं महेशानि स्वयम्भु नात्र संशयः।।
मातृकाभेदतन्त्र, 5.28

यव (जौ) धान्य से निर्मित मद्य के जल में मिट्टी मिला कर उस पर लेप करें और धूप में सुखायें। तत्पश्चात् अग्नि में डाल कर भस्म बनायें। इसमें अष्टमी तथा नवमी की रात्रि में अग्नि नहीं देनी चाहिए। अथवा मिट्टी के पात्र में पारद (Mercury) को रखकर नागबल्ली (ताम्बूल) के रस से शोधन करें। तत्पश्चात् घृतकुमारी के रस से मर्दन करके पारे को शुद्ध करना चाहिए। इसके बाद काली तुलसी तथा घृतकुमारी के रस से खरल करके धतूरे के फल के मध्य में रखकर कपरौटी करके अग्नि में फूँके। इस प्रकार पारद की भस्म बनानी चाहिए।[37] फिर 'हौं' मन्त्र का 1008 बार जप करके पार्थिव शिव लिङ्ग की पूजा करनी चाहिए और 10 ग्राम शुद्ध ताम्रपत्र को अग्नि में गला कर मिट्टी के पात्र में रखकर उक्त पारद–भस्म को 1 रत्ती लेकर उस ताम्र में डालें तो वह स्वर्ण बन जाता है।[38]

यहाँ स्वर्ण के निर्माण में पारद भस्म के योग में तान्त्रिक-पूजा, मन्त्र-जप आदि का वर्णन किया गया है अन्यथा नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं।[39] इस प्रकार ताम्र से सुवर्ण निर्माण की अनेक विधियों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया गया है, जो विभिन्न ग्रन्थों में उद्धृत हैं।

इस शोध पत्र में हैमवती-विद्या का सैद्धान्तिक पक्ष ही प्रस्तुत किया गया है। वैज्ञानिक आधार पर यदि उपर्युक्त सिद्धान्तों (विधियों) का अवलोकन करके प्रयोग किये जायें, तभी इस विद्या के अध्ययन की प्रामाणिकता की परीक्षा की जा सकती है। रसायन-विज्ञान के विद्वान् यदि प्राचीन भारतीय हैमवती-विद्या का सम्यक् आलोचन करके इसका प्रयोगात्मक रूप प्रस्तुत करें तो भारतीय विज्ञान के क्षेत्र में एक अत्युत्कृष्ट उपलब्धि हो सकेगी।

---

37. आनीय पारदं देवि स्थापयेत्प्रस्तरोपरि। तस्योपरि जपेन्मन्त्रं सर्ववन्द्यनवात्मकम्।।
साष्टसहस्रं देवेशि प्रजपेत्साधकाग्रणीः। स्वयम्भुपुष्पसंयुक्ते वस्त्रे चारुणसन्निभे।।
संस्थाप्य पारदं देवि मृत्पात्रयुगलेशिवे। पुष्पयुक्तेन सूत्रेण बध्नीयाद् बहुयत्नतः।।
मुक्तिधाराजलेनैव धान्यस्य परमेश्वरि। लेपयेद् बहुयत्नेन रौद्रे शुष्कं च कारयेत्।।
पुनश्च लेपयेद् धीमान् ततो वह्नौ विनिक्षिपेत्। अष्टमीनवमीरात्रौ क्षिपेन्नैव सुरेश्वरि।।
अथवा परमेशानि मृत्पात्रे स्थापयेद्रसम्। वल्लीरसेन तद्द्रव्ये शोधयेद् बहुयत्नतः।।
घृतनारीरसेनैव तथैव शोधनं चरेत्। एवं कृते तु गुटिकां यदि स्याद् दृढबन्धनम्।।
धुस्तूरं च समानीय मध्ये शून्यं च कारयेत्। कृष्णाख्यतुलसीयोगे तथा घृतकुमारिका।।
एवं कृते वह्नियोगे भस्मसाज्जायते किल। भस्मयोगे भवेत्स्वर्णं धनदायाः प्रसादतः।।
मातृकाभेदतन्त्र, 5.17–25

38. एतन्मन्त्रं महेशानि गजान्तकसहस्रकम्। जपित्वा पूजयेत्पश्चात्पार्थिवं शिवलिङ्गकम्।।
ततः परीक्षा कर्त्तव्या शृणु मत्प्राणवल्लभे। शुद्धताम्रं वह्निमध्ये मृत्पात्रे तोलकंमितम्।।
द्रवीभूते च ताम्रे च गुञ्जामातं क्षिपेद् यदि। तत्क्षणे परमेशानि स्वर्णं भवति निश्चितम्।।
वही, 5.36–38

39. वही, 5.1–15

आचार्यरुय्यकप्रतिपादितं रसस्वरूपम्

प्रो. दशरथ द्विवेदी

संस्कृतसाहित्ये पाण्डित्यमाचार्यरुय्यकस्य प्रसिद्धमेवास्ति। ख्रिस्तीयद्वादशशतक मध्यार्धे (1125-1175 ई०) लब्धजन्मा रुय्यकः यस्यापरनाम रूचक इत्यपि लभ्यते काव्यालङ्कार-सारसङ्ग्रहविवृतिकारात्स्वजनयितू राजानक-तिलकादेव साहित्यशास्त्रमधियज्ञ इति तद्वचना-देवावधार्यते।[1] तत्प्रणीत-द्वादशग्रन्थेषु पञ्चैव प्रकाशमाप्ताः। ते च सन्ति-सहृदयलीला, साहित्य-मीमांसा, काव्यप्रकाशसङ्केतः, अलङ्कारसर्वस्वम्ः, व्यक्तिविवेकव्याख्यानञ्च। अपरे च सन्ति नाटक-मीमांसा, अलङ्कारानुसारिणी, अलङ्कारमञ्जरी, अलङ्कारवार्तिकम्, श्रीकण्ठस्तवः, हर्षचरितवार्तिकम्, वृहती च।[2] अलङ्काररसवृत्तिरूपकादीनाम् रूय्यकविवेचितमतानामत्र विवेचनं नाभीष्टं नः। रुय्यकस्यालङ्कारशास्त्रे विशेषतश्चालङ्कारेऽवदानं प्रख्यातमेवास्ति। नूतनालङ्कारपरिणामोल्लेख-विचित्रास्ते तेनैवाविर्भाविताः। तस्य सूत्रानुसारिविवेचनं सर्वातिशायि इति जयरथप्रभृतयः मन्यन्त एव।[3] अलङ्काराणां वर्गेषु कक्षाविभागस्तेनैव प्राङ्निरूपितस्स च शब्दालङ्कारणां पौनरुक्तयवर्गे-ऽवस्थापनमर्थालङ्काराणाञ्च साधर्म्यविरोधश्रृङ्खलादिवर्गेषु चाष्टसु। वैशिष्ट्यञ्चास्येदृग्यद्विधाधर-विद्यानाथविश्वनाथपं०राज-जगन्नाथप्रभृतयः प्रसिद्धकाव्यशास्त्रकाराः अलङ्कारनिरूपणे तस्यैव सरणिमवलम्बन्ते।[4] प्रसिद्ध-संस्कृतटीकाकारा मल्लिनाथ-कुमारस्वामि-राघवभट्टप्रमुखाः निरूपणी-येस्वलङ्कारेषु रुय्यकमतमेव प्रमाणत्वेनोपाददते। साहित्यमीमांसादिमतमनादायैवात्र केवलं सर्वस्व-व्यक्तिविवेकव्याख्यानयोः रसप्रक्रिया दीयते।

नास्ति संशीतिलेशोऽपि यद्राजानकः रुय्यकः ध्वनिसमर्थकोऽस्ति। यद्यपि प्रारम्भिक-रचनासु सोऽभिधावादित्वेनैव समक्षमायाति परञ्च प्रौढिमाप्तः सर्वस्व-व्यक्तिविवेकव्याख्यानप्रभृतिषु ग्रन्थेषु तस्य ध्वनिवादिता स्पष्टीभवति।[5] ध्वनिवादित्वेन प्रधानेषु त्रिषु वस्त्वलङ्काररसध्वनिषु रसध्वनिरेव प्राधान्येन

---

1. ज्ञात्वा श्रीतिलकात्सर्वालङ्कारोपनिषत्क्रमम्।
   काव्यप्रकाशसङ्केतो रूचकेनेह लिख्यते।। का० प्र० सं० मङ्गलम्
2. सर्वस्वे तत्तत्स्थानानि, जयरथस्य च टीकात्र विमर्शिणी द्रष्टव्या।
3. न परैरीदृंशि सूत्राणि कृतानि। विमार्शिणी पृ. 3
4. द्रष्टव्याः – एकावली, प्रतापरूद्रयशोभूषणम्, साहित्यदर्पणम्, रसगङ्गाधरप्रभृतय काव्यशास्त्रग्रन्थाः।
5. द्रष्टव्यात्र– सर्वस्वस्यालङ्काररीतिवक्रोक्तिभुक्त्यनुमानखण्डनरीतिः ध्वनिविवेचनपरम्परा च, पृ० 1-22 तथा च व्यक्तिविवेकव्याख्यानस्य पृष्ठाः 63,69, 71, 73, 99, 108, काव्यप्रकाशटीका च।

काव्यस्यात्मा[6] वस्त्वलङ्कारध्वनी च सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येत[7], इति ध्वनिकाराभिनवगुप्तयोः मतमुरीकुर्वन् रुय्यकः यत्र-तत्र रसनिरूपणं करोति यच्च अभिनवगुप्तानुसारि विद्यते न क्वापि प्रथमं केनापि प्रकाशतां नीत इति तदेवात्र निबध्यते सङ्क्षेपेणैव। रुय्यकग्रन्थेषु प्राप्तस्थानास्त एवांशा अत्र प्रस्तूयन्ते।

अलङ्कारसर्वस्वेऽलङ्कारप्रजापतिभामहादीनां मतं दूषयित्वा रुय्यकः निरूपयति– 'अस्ति तावद्व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जनाव्यापारः। ....तत्रोत्तमो ध्वनिः।[8] अनेन व्यञ्जनाव्यापारः, ध्वनिः काव्यात्मा, ध्वनेर्भेदास्तेषूत्तमो रसध्वनिरिति सर्वमेव रुय्यकस्याभिमतमिति सिद्ध्यति। समासोक्त्यलङ्कारप्रस्तावे तात्पर्यादिशक्तिनिरासपूर्वकं रुय्यकः रसस्य यत्स्वरूपमागूरयति तत्तु सुस्पष्टम्, सूक्ष्मं हृद्यञ्चास्ति। तद्यथाः – 'यतो रसो न तात्पर्यशक्तिज्ञेयः। नाप्यनुमानविषयः। न शब्दाभिधाव्यापारेण वाच्यीकृतः। न लक्षणागोचरः। किन्तु विगलितवेद्यान्तरत्वेन परिहृतपारिमित्यो व्यञ्जनलक्षणापूर्वव्यापारविषयतो ऽनुकार्यानुकर्तृगतत्वपरिहारेण सहृदयगत इति प्रसर्पत्तात्पर्यैरित्यादिपदै रस एव प्रतीयते।[9] अभिनव गुप्तादीनां मतमत्र निभालनीयम्। न प्रतीयते यदयं कोऽप्यलङ्कारकारः रसं निरूपयति प्रत्युत् ध्वनिविवेचकः कश्चित्।[10]

सर्वस्व एव रसवदाद्यलङ्कारनिरूपणे रसादीनां स्वरूपं व्याचिख्यासुः राजानकः रुय्यकः वक्ति–, विभावानुभावव्यभिचारिभिः प्रकाशितो रत्यादिश्चित्तवृत्तिविशेषो रसः। भावो विभावानुभावाभ्यां सूचितो निर्वेदादिस्त्रयस्त्रिंशद्भेदाः। देवतादिविषयश्च रत्यादिर्भावः। तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च। आभासत्वमविषयप्रवृत्त्यानौचित्यात्। तत्प्रशम उक्तप्रकाराणां निवर्तमानत्वेन प्रशाम्यदवस्था। ....सम्यगेवावोचत् – "औ" एषामुपनिबन्धे क्रमेण रसवदादयोऽलङ्काराः। रसो विद्यते यत्र निबन्धने व्यापारात्मनि तद्रसवत्। प्रियतरं प्रेयोनिबन्धनमेव द्रष्टव्यम्। एवमूर्जो बलं विद्यते यत्र, तदपि निबन्धनमेव। अनौचित्य प्रवृत्तत्वादत्र बलप्रयोगः। समाहितः परिहारः। स च.........प्रशमापरपर्यायः[11]।, अत्रापि लोचनकारः दर्शनीयः। रुय्यकस्योक्तविवेचनं न ध्वनिवादिविवेचनातिरिक्तम्। अभिनवगुप्तः सम्यगेवावोचत् '–औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भावः, अनौचित्येन तदाभासः, रावणस्येव सीतायां रतेः। यद्यपि.......... तदसौ शृङ्गाराभासः। तदङ्गो भावाभासश्चित्तवृत्तेः प्रशम एव प्रक्रान्ताया हृदयमाह्लादयति।[12] एवमत्र काव्यप्रकाशादयोऽपि ग्रन्थाः द्रष्टव्याः।[13]

---

6. ध्व०, 1.1,
7. अभिनवभारती पृ० 50, ध्व०, पृ० 51
8. अलं० सं० पृ० 1-16, तु० ध्वन्यालोककाव्यप्रकाशादयः ग्रन्थाः।
9. अलं० सं० पृ० 158
10. यस्तुं स्वप्नेऽपि न स्वशब्दवाच्यो न लौकिकव्यवहारपतितः किन्तु शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभाव-समुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणाव्यापाररसनीयरूपो रसः, ... रसध्वनिः, ... स एव मुख्यतयात्मा। लोचनं पृ० 50, तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतन-व्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादि सोदरव्यपदेशनिरूपितः। तत्रैव, पृ० 60। ....अलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकोचर्वणा-गोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारः......... स्थायिविलक्षण एव रसः। अ०भा० पृ० 46 अ० र० सि० तु० का० प्र०, रसगंगाधरादिग्रन्थाः।
11. अलं० सं० पृ० 344-46, तत्रैव सञ्जीवनी च।
12. लोचन, पृ० 79-80,
13. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः। तदाभासाः अनौचित्यप्रवर्तिताः। का० प्र० 4.35.36

शब्दार्थात्मनि काव्ये ध्वनिव्यपदेश-खण्डनविषयकं व्यक्तिविवेककारस्य मतं दूषयन् आचार्यरुय्यकः व्यक्तिवादिनः सिद्धान्तं समर्थयन् यद्विवेचनं करोति तत्तस्य रसस्वरूपविवेकपद्धतिः व्यक्तिविवेकव्याख्याने सुतरां स्पष्टी भवति। अविकलं तदत्र प्रस्तूयते– 'व्यक्तिवादिनो व्यङ्ग्यत्वाभ्युपगमे ऽयमभिप्रायः। इह विभावादिस्वभावनिमित्तप्रतिपत्तिकालनिमित्तिनो रसादेः प्रतिपत्तिर्नास्ति, निमित्तिनो निमित्तमुखप्रेक्षित्वेनः, ततो गम्यत्वं नोपपद्यते। गम्यत्वं पुनर्बाधमेवेति तावद्भवतो ऽनुमानवादिनः परमार्थः। न चैतदस्माभिरपह्नूयते घटप्रतीपादौ व्यक्तिविषये तथादर्शनात्। किन्तु व्यङ्गाभिमतस्य रसादेर्यदा प्रतिपत्तिर्जायते, तदा व्यञ्जकविभावादेः प्रतिपत्तिर्ननिवर्तते तत्सहभावेन रसादेः प्रतीतेः'।

"व्यञ्जकप्रतीतिकाले हि नियमेन व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति नास्माकमाशयः। व्यङ्ग्यप्रतीतिकाले तु नियमेन व्यञ्जकप्रतीतिर्भवत्येव"।

"निमित्त निमित्तिभावश्च नाङ्गीकृतो ऽस्माभिः। केवलं सोऽन्यादृशो गम्यगमकभवप्रयोजको, यत्र गम्यस्य गमकोपरागो न प्रतीयते। अन्यादृशश्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावप्रयोजको यत्र प्रत्याय्यस्य प्रत्यायकोपरागप्रतिपत्तिः। तेन नास्ति रसादीनां व्यङ्ग्यत्वे विप्रतिपत्तिः।

'यदपि विभावादीनां रत्यादीनां च कृत्रिमत्वमाश्रित्यानुमानमेव समर्थितम्। औपमानिकं च व्यङ्ग्यत्वं स्थापितम्। तदप्यसमीचीनम्। यतः सहृदयानामेव चर्वयितृत्वाच्चर्वणानुप्राणत्वाच्च रसस्य तद्गत्वेन रसस्वरूपं निरूपणीयम्। न रसादिरनुकार्यस्थः, नानुकर्तृस्थः, केवलं देशकालप्रकृत्य-वस्थाप्रकृतिनियमावत्रोटनेन साधारण्येन प्रतीतेः। रामानुकर्त्रौरपि तमानुप्रवेशात् तद्गतत्वेनापि व्यपदेशो नातीवासम्बद्ध।'[14]

अनेन रस प्रतीतिर्न निमित्तनिमित्तिभावे विभावादीनां, न च व्यङ्ग्यप्रतीतिकाले रसस्य व्यञ्जकस्य सर्वथा तिरस्कारः, न च रसः अनुकर्तृस्थ, न चानुकर्ता नानुभवतीति रुय्यकस्यामिप्रायः।

रत्यादीनां रसानां विभावादीनाञ्च कृत्रिमत्वम्। रसस्यौपचारिकं व्यङ्ग्यत्वमनुमेयत्वञ्चेत्यादि-महिमभट्टशङ्कुकादिमतं खण्डयन्नाचार्यरुय्यकः रसस्य ध्वनित्वमित्यादि प्रतिपादयति। अभिधालक्षणाभ्यामन्यद् व्यञ्जनमप्यर्थानां भवतीति व्यञ्जनाभ्युपेयेत्यपि तेन तत्रैवावादि।[15] 'भम धम्मिअ' इत्यादौ च विरोधिव्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्य प्रकाशकतया असत्यत्वेनापि तेन व्यक्तिवाचोयुक्तिः समीचीना, न च महिमतर्कोऽत्रावधेय, इत्यपि तत्रैव रुय्यकोक्तिः रसविवेके द्रष्टव्या।[16] तत्रैव रसस्यानुमानत्वे विमतिमुद्घाटयन् आचार्यः व्यनक्ति –

---

14. व्यक्तिविवेकव्याख्याने, पृ० 62–63

15. स्थायिनो रसत्वे नीरसानां च रसचर्वणाभावे सद्भाविवासनात्मकरत्यादिस्थायिभावानां चर्वणैकगोचराणां रसत्वमित्यास्माकीनो राद्धान्तः। न च तत्र रत्यादीनां रसानां कृत्रिमत्वम्। नापि कारणादीनां साधारण्येन प्रतीते-र्विभावादिव्यपदेश्यानां वस्तुसद्भावित्वात् कृत्रिमत्वम्। ....तस्माद्विद्यमान एव वासनात्मा रत्यादिः स्थायिभावो विभावादिभिः सम्बन्धस्मरणादिव्यवधानमन्तरेण व्यंक्त इति स्थितौ मुख्यमेव व्यङ्ग्यत्वं रसस्य नौपचारिकं नाप्यनुमेयत्वम्। एवं भावादीनामपि ज्ञेयम्। ......ततश्च रसादौ व्यङ्ग्यत्वमनवद्यमेव।.... इह शल्दस्यामिधालक्षणाभेदेन द्विविधो व्यापारश्चिरन्तनैरभ्युपगतः। ...तत्र व्यापारान्तरभम्युपेयम्।.....रसादौ च व्यञ्जनमुपपादितम्। तन्त्रैव व्यक्ति-विवेक व्याख्याने पृ. 63

16. 'भम धम्मिअ', इत्यादौ तु विरोधिव्यङ्ग्यप्रतीतिकाले वाच्यस्य कथं प्रतीतिः नैष दोषः। तत्रापि प्रकाशकतया। ततोऽसत्येनापि प्रतीतिसद्भावाद ...व्यङ्ग्यत्वं नासमसङ्ग्यसं किञ्चित्... इति व्यक्तिवाचोयुक्तिरेव लौकिकी समीचीनेति। तत्रैव पृ० 64

'न काव्ये कदाचिद् दृष्टान्तस्य प्रयोगो दृश्यते। तत् कथमत्रानुमानसमर्थनम्। .....तर्कानुमानं तु कर्कशन्यायरूपतया प्रवृत्तं तर्कस्य कर्कशतामुद्भावयति। काव्ये तद्वैपरीत्यात् सहृदयानामधिकारात् न व्याप्त्यादिमुखेनानुमानप्रदर्शनसमर्थनम्।[17]

आस्मिन्नेव क्रमे ध्वनिलक्षणान्तर्गत 'विशेष'पदग्रहणं' ध्वनिकारस्य व्यर्थमिति महिमभट्टमत-निराकरणप्रसङ्गे रुय्यको काव्यस्य भेदान् ध्वनिभेदांश्च सुव्यक्ततयावेदयति।[18] महिमस्य काव्यविशेषोद्भावितदूषणं दूषयन्नेव काव्यवैशिष्ट्यं यन्निरूपयति रूय्यकः तदपि रसपरमेव। तद्यथा काव्यस्य वैशिष्ठ्यं स्वरूपकृतं रसकृतं वेति पक्षद्वयम्। रसस्यापि वैशिस्ठ्यं चमत्कारातिशयकृतं वा भेदान्तरकृतं वा रसरहितसुन्दरशब्दार्थापेक्षाकृतं वा वस्तुमात्रादिव्यङ्ग्यरूपकृतं वा, अङ्गीभावकृतं वेति पक्षपञ्चकम्।

..........इत्थं च न स्वरूपकृतं नापि रसकृतं काव्यस्य वैशिष्ठ्यम्'[19]

रसस्त्वनुभूतिमात्रगम्यः। अनुभूतिरपीयं आस्वादरूपानन्दरूपा च। रसज्ञानं रसेनैव विज्ञानवाद इव सः स्वानुभूतिमात्रैकगम्य इति रुय्यकस्याशयः।[20]

स्थायिनामपि व्याभिचारित्वादिसर्वमेतद् यत्तेनागादि तत्सर्वं ध्वनिकारसमर्थितमेवास्ति।[21] तत्रैव द्वितीये काव्यस्वरूपमपि सोऽगादीत्। तद्यथाः – 'न च शास्त्रादिवदर्थप्रतीत्यर्थं शब्दमात्रं प्रयुज्यते सहितयोः शब्दार्थयोस्तत्र प्रयोगात्। साहित्यं तुल्यकक्षत्वेनान्यूनातिरिक्तत्वम्।[22] एवमेव व्यक्तिविवेकव्याख्यानेऽलङ्कारलक्षणम् काव्ये न तस्य सम्बन्धः, सर्वस्ववदलङ्कारकक्षाविभाग इति सर्वमेव रुय्यकः अधिकारिध्वनिवादिजन इव नितरां निरूपितवान् येन तस्य ध्वनिवादिता स्पष्टी भवति। एवं पूर्वविधिप्रदर्शितसंक्षिप्तविवरणेन रुय्यकः रसस्वरूपमागूरयति सर्वं तद् ध्वनिसमर्थकाभिनवानुसारि हृद्यञ्चावलोकनीयम् मम्मटादौ।

---

17. तत्रैव, पृ० 69
18. लक्ष्ये च द्विविधं काव्यं दृश्यते मुख्यं गौणं च। तत्र मुख्यं यत्र व्यङ्ग्यचस्य प्राधान्यं, शिष्टं गुणीभूतव्यङ्ग्यादि गौणम्। उभयं च ग्राह्यम्। ....सर्वस्यैव काव्यस्य रसमयत्वं न गुणीभूतव्यंग्यादिसदभाव इति चेन्न। अस्पुटरसस्याङ्गभूतरसस्य वा कावास्य विद्यमानत्वात्। यत्रह प्राधानेन स्फुटोऽङ्गी रस प्रतीयते तत्र ध्वनित्वमन्यत्र तु काव्यान्तरत्वम्।.........यतश्चास्फुटरसस्यापि काव्यस्य सम्भवस्ततो ध्वनेर्भेदत्रयमुपपद्यते। अस्फुटरसे हि काव्ये वस्त्वलङ्कारध्वनी। स्फुटाङ्गीभूतरसे तु रसध्वनिः। तत्रैव पृ० 108।
19. तत्रैव, पृ० 99
20. भावानां विभावानुभावव्यिभिचारिणां संयोजनया व्यङ्ग्यो व्यक्तिवादिना तथात्वेनाभिप्रेत इह दर्शने तूपचरित-व्यङ्ग्यभावः तयाभूतः सन् परसंवित्तिगोचरः लोकोत्तरायाः प्रतीतेरभिन्नोऽपि साकारतया विषयत्वेन स्फुरन् आस्वादस्वभावः। तत्रैव पृ० 71
21. स्थायिनामपि व्यभिचारित्वं भवतीति। यथा-रतेर्देवादिविषयाः हासस्य शृङ्गारादौ, शोकस्य विप्रलम्भ शृङ्गारादौ, क्रोधस्य प्रणयकोपादौ, विस्मयस्य वीरादौ। उत्साहस्य शृङ्गारादौ, भयस्याभिसारिकादौ, जुगुप्सायाः संसारनिन्दादौ, शमस्य कोपाभिहतस्य प्रसादोद्गमादौ। तत्रैव पृ० 73,
22. तत्रैव, पृ० 311, तु०व० जीवितम्।

तिब्बती विनय परम्परा में शयनासन-वस्तु

प्रो० शेरब राल्डी

शयनासन से सम्बद्ध वस्तु भिक्षुसंघ के लिए एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसमें प्रणाम करने की विधि और भिक्षुसंघ के प्रति विहार के निर्माण की विधि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

श्रावस्ती के गृहपति का नाम दत्त था। उसके पास कुबेर के समान सम्पदा थी। उसकी पत्नी ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम सुदत्त रखा गया। वह बालक बड़ा हो गया। वह दान देने में बहुत रुचि रखता था। एक दिन उसने पिताजी का सोने का भाण्डार भी देखा। उसके बड़े होने पर उसके पिता की मृत्यु हो गयी। वह बालक स्वयं धन दौलत का मालिक बन गया। वह अनाथ लोगों को सदैव दान देता था। इसलिए उसका नाम अनाथपण्डीक पड़ गया।

एक दिन वह मगध की राजधानी राजगृह गया। वहां उसे एक मित्र से ज्ञात हुआ कि भगवान् बुद्ध राजगृह में ही विहार कर रहे हैं। बुद्ध का नाम सुनते ही उनके रोम खड़े हो गये। फिर भी उसने पूछा कि बुद्ध का अर्थ क्या है ? तो ज्ञात हुआ कि शाक्य वंश के राजकुमार राजगृह त्याग कर प्रव्रजित होकर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त हुए हैं। तब उसने पूछा कि संघ क्या है ? उन्हें बतलाया गया कि भगवान् के अनुयायी जो प्रव्रजित लोग हैं उनके समूह को संघ कहते हैं। तब उसने पूछा कि बुद्ध इस समय कहां हैं ? उसे बतलाया गया कि इस समय वह शीतल वन में विहार कर रहे हैं। फिर उसने पूछा, क्या मैं उनके दर्शन कर सकता हूँ ? मित्र ने कहा कि उस रात यहाँ रुक कर दूसरे दिन सुबह दर्शन कर सकते हैं। बुद्ध का नाम याद करते-करते उसको रात भर नींद नहीं आयी।[1]

दूसरे दिन उजाला होने से पूर्व अपने मित्र को लेकर वन्य जानवरों की चिन्ता न कर श्रद्धापूर्वक शीतल वन में भगवान् के पास पहुँचे। भगवान् के पास पहुँच कर उनके उपदेश सुनकर श्रोतागण सज्ज्ञान को प्राप्त हुए। उसने भगवान् से अनुरोध किया कि वह संघ के साथ श्रावस्ती पधारें, वह उसके तथा संघ के लिए श्रावस्ती में विहार बनवा देगा। ऐसा कहने पर भगवान् ने उसे स्वीकार कर लिया। भगवान् से उसने कहा कि इस कार्य के सम्पादन के लिए एक भिक्षु दीजिए। तो भगवान् ने शारिपुत्र को इसके साथ जाने को कहा। शारिपुत्र के कुछ न कहने पर उसे स्वीकार कर लिया।

---

1. विनय वस्तु, पृष्ठ–187
   ऽदुल-ग्लिङ् ब्लो-ग्सल् ग्शोन्-नु, पृष्ठ – 164

तरुण युवक गृहपति सुदत्त श्रावस्ती वापस आया। उसे चिन्ता हुई कि विहार के लिए भूमि चाहिए। श्रावस्ती में उसने उपयुक्त भूमि की तलाश की। उसे राजकुमार जेत का उद्यान बहुत पसन्द आया। वह उसी में भगवान् बुद्ध तथा उनके संघ के लिए विहार बनाना चाहता था। अस्तु, वह राजकुमार जेत के पास गया और उससे उद्यान भूमि देने के लिए प्रार्थना की। कुमार द्वारा उद्‌देश्य पूछे जाने पर उसने कहा कि वह भगवान् बुद्ध के लिए विहार बनाना चाहता है। लेकिन जेत कुमार ने अस्वीकार करते हुए कहा कि, यह तो उद्यान के लिए है। फिर भी दो-तीन बार गृहपति के कहने पर अन्त में उस कुमार ने कहा कि, 'हे गृहपति ! यदि लेना ही चाहते हो तो उद्यान भूमि के धरातल को स्वर्णमुद्राओं को बिछाकर ढक दो। यही इस भूमि का मूल्य होगा।' अनाथपिण्डक ने कहा कि स्वर्णमुद्राओं से भूमि ढक देने पर पूरी भूमि उसकी हो जायेगी। उस कुमार ने अपनी बात को बदलते हुए कहा कि मूल्य उसने तो तय नहीं किया है। अनाथपिण्डक इस विवाद को न्यायालय में ले गये। न्यायालय ने गृहपति अनाथपिण्डक के पक्ष में निर्णय दिया।

अतः गृहपति ने अपने कोष से घोड़ों, बैलगाड़ियों आदि से स्वर्णमुद्रायें मंगायीं और स्वयं अपने हाथों उन्हें उद्यान भूमि पर बिछाना शुरू किया। केवल कुछ ही भाग शेष बचा था, बाकी सभी भूमि पर मुद्रायें ही बिछी हुई थी। जेत कुमार को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि गृहपति इतना धन क्यों व्यय कर रहा है। उसे यह विश्वास हो गया कि भगवान् बुद्ध तथा उनका संघ निःसन्देह इस धनराशि से अधिक मूल्यवान् होगा। अस्तु, जेतकुमार ने भगवान् के प्रति उस गृहपति की अगाध श्रद्धा को देखकर शेष भूमि दान में दे दी। तब गृहपति ने भगवान् और संघ के लिए विहार बनाना आरम्भ किया।[2]

उस समय तीर्थिक लोगों ने कहा कि यह शहर उनके लोगों के लिए है और राजगृह गौतम के लिए है। लेकिन गृहपति ने कहा कि उन लोगों ने यह शहर बांट भी लिया हो तो भी उसकी धन-दौलत बांटी नहीं गयी है। इसलिए वह वहीं पर विहार बनायेगा। इस विवाद को लेकर राजा के पास जाना पड़ा। राजा ने गृहपति के पक्ष में न्याय करके विहार बनाने की अनुमति दे दी, परन्तु तीर्थिकों ने कहा कि उन्हें बनाने नहीं देंगे, जब तक गौतम के परम शिष्य उन लोगों के साथ प्रतियोगिता न करें। अगर जीत जायेंगे तो वह लोग बनाने देंगे। यह शर्त गृहपति ने स्वीकार कर ली।

यह घटना शारिपुत्र से कही। शारिपुत्र ने कहा– हम लोगों के लिए सातवें दिन का समय निश्चित किया जाय। समय आने पर एक विशाल स्थान पर आसन बिछवाया, तो उसी बीच शारिपुत्र ने आसन पर बैठकर हजारों लोगों को धार्मिक कार्य के लिए एकत्रित किया। भिन्न-भिन्न स्थानों से तीर्थिक एकत्रित हुए। उसी बीच शारिपुत्र और तीर्थिकों के मध्य धार्मिक बल प्रतियोगिता हुई, जिसमें शारिपुत्र विजयी हुए। तीर्थिक और उनके अनुयायी भी उनकी शरण में आकर प्रब्रजित होकर बाद में अर्हन्त हुए।

---

2. विनय वस्तु – पृष्ठ – 197 (तीसरा खण्ड)
ऽदुल्-टिक ज़ि-मइ ओद्-सेर् लेग्स्-बृशद् लुङ्-रिग्स् ग्र्या-मछ़ो – द्वितीय खण्ड – 207
ऽदुल्-गलिङ् ब्लो-ग्सल् ग्शोन्, पृष्ठ – 166

श्रावस्ती के लोग परम्परागत रूप से अन्य प्रान्तों से अधिक कठोर होते थे। शारिपुत्र ने अपनी सिद्धि से एक लौह का आदमी बनाकर निरीक्षक के रूप में रखा। मजदूर लोग लौहपुरुष को बहुत परेशान करते थे, परन्तु उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। बाद में उस व्यक्ति की सहनशीलता के व्यवहार से प्रभावित होकर वहाँ के लोग सम्पूर्ण रूप से भगवान् के अनुयायी हो गये। उसके पश्चात् शारिपुत्र द्वारा विहार के लिए भूमि नापने वाली रस्सी को एक तरफ पकड़ कर दूसरी ओर गृहपति सुदत्त को पकड़वाया। नापते समय शारिपुत्र मुस्कराये। वैसे शास्ता और श्रावक बिना कारण मुस्कुराते नही है। इसलिए उससे गृहपति ने मुस्कुराहट का कारण पूछा। शारिपुत्र ने कहा कि जिस प्रकार वह रस्सी पकड़ कर विहार बनाने के लिए भूमि नाप रहा है, उसी प्रकार तुषित में भी इस समय एक विहार बनाया जा रहा है। अनाथपिण्डिक को इससे अत्यधिक श्रद्धापूर्ण प्रसन्नता प्राप्त हुई और वह भूमि नापने में पुनः लग गये। इस विहार बनाने के पुण्य से अनाथपिण्डिक का भाग्य अधिक बढ़ता गया। उन्होंने सोलह महाविहारों तथा अन्य आठ छोटे-छोटे विहारों को बनवाया।

विहारों के पूर्ण हो जाने पर सेठ अनाथपिण्डिक ने शारिपुत्र से तथागत भगवान् को श्रावस्ती लाने के लिए अनुरोध किया। गृहपति ने तथागत के आगमन के लिए भव्य प्रबध किया। मार्ग में औषधियों का प्रबन्ध किया गया। भगवान् बुद्ध चारों पारिषदों[3] के साथ श्रावस्ती पधारे। उस समय कौशल महाजनपद के राजा ने सम्मान और श्रद्धापूर्वक श्रावस्ती नगर में भगवान् बुद्ध का स्वागत किया। पुष्पवृष्टि भी की गयी। तब भगवान् ने अपने लिए निर्मित आसन को ग्रहण किया। जेतकुमार ने सोचा कि शास्ता द्वारा उसके नाम से इस विहार का नामकरण किया जाता तो कितना अच्छा होता। ऐसा सोचने पर शास्ता उसकी इच्छा को जान गये। अस्तु, भगवान् ने इस विहार का नाम जेतवन अनाथपिण्डिक धर्म तथा मण्डप रखा। यह देखकर जेतकुमार ने भगवान् के प्रति अत्यधिक श्रद्धावान् होकर चारों दिशाओं में चार प्रकार की धातुओं से चार द्वारों को बनवाया। इस प्रकार जेतवन महाविहार का प्रारम्भ हुआ था।[4]

थेरवादी विनय परम्परा के अध्ययन से प्रतीत होता है कि विहारनिर्माण और उसका सामान्य विधान श्रावस्ती के जेतवन महाविहार के पूर्व हो चुका था। उसके सम्बन्ध में इस प्रकार वर्णन मिलता है। विनय-पिटक के अनुसार एक समय भगवान् बुद्ध राजगृह के वेणुवन कलन्दक-निवास में विहार करते थे। उस समय तक भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए शयनाशन (विहार बनाने का) विधान नहीं किया था। भिक्षु लोग जहाँ तहाँ जंगलों में वृक्षों के नीचे, पर्वतों के ऊपर गुफाओं आदि में विहार करते थे। उसी समय एक बार राजगृह नगरश्रेष्ठी (नागरिक राजकीय पदाधिकारी) पूर्वाह्ण अपने उद्यान में गया। श्रेष्ठी ने उन भिक्षुओं को जंगल से ईर्यापथ से युक्त होकर निकलते देखा। उनको देखकर श्रेष्ठी का चित्त प्रसन्न हो गया। तब राजगृह के श्रेष्ठी वहाँ गये जहाँ वे भिक्षु थे और जाकर उन भिक्षुओं से बोले, 'भन्ते! यदि मैं विहार बनवाऊँ, तो क्या आप लोग मेरे विहार में निवास करेंगे' ? भिक्षुओं ने कहा, 'गृहपति! भगवान् ने विहारों का विधान नहीं किया है। तो भन्ते भगवान् से पूछ कर मुझे कहना'। भिक्षुओं ने भगवान् से यह कहा।[5]

---

3. चार परिषद् – 1. भिक्षु, 2. भिक्षुणी, 3. उपासक, 4 उपासिका
4. ऽदुल्-ग्लिङ् ब्लो-ग्सल् ग्शोन्-नु, पृष्ठ 168
5. विनयपिटक, पृष्ठ 452

'भगवान्! राजगृह के श्रेष्ठी विहार बनवाना चाहते हैं। भन्ते क्या करना चाहिए' ? भगवान् ने इस सम्बन्ध में धार्मिक कथा कहकर भिक्षुओं को सम्बोधित किया और भिक्षुओं को पांच प्रकार की अनुमति दी।

1. विहार, 2. अड्ढयोग (गरुड की तरह टेढ़ा मकान), 3. प्रासाद, 4. हर्म्य (ऊपर का कोठा) और 5. गुहा[6]

शयनाशन वस्तु को और अधिक स्पष्ट करने के लिए इसे दो भागों में विभाजित करके अध्ययन प्रस्तुत किया गया है–

1. प्रणाम करने की विधि।
2. शयनाशन के निर्माण की विधि।

1. प्रणाम करने की विधि– एक समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में ठहरे हुए थे। उस समय एक दूसरे स्थान पर बहुत से भिक्षु एकत्रित हुए। बहुत से उपासक इन भिक्षुओं के पास दर्शन के लिए आये। उपासकों ने पूछा, 'हम लोग आप लोगों में किस को प्रणाम करें' ? भिक्षुओं ने कहा, 'जो (भिक्षु) सबसे पहले बोले उसे प्रणाम करो'। किसी ने कहा कि जो पहले खड़ा हो तो उसे हाथ जोड़ना। ऐसा सुनकर उपासक दुविधा में पड़ गये कि कौन सी विधि सही है, कौन सी नहीं। उन उपासकों ने अवसर पाकर इस समस्या को तथागत के सामने रखा। इस भ्रम को दूर करने के लिए भगवान् ने प्रणाम करने की विधि इस प्रकार बतायी।

'सबसे पहले प्रणामकर्ता को अपने दोनों पांवों, दोनों हाथों और सिर (पांच अंगों) को भूमि का स्पर्श कर घुटनों के बल बैठना चाहिए और प्रणाम करना चाहिए। इसे पञ्चाङ्ग प्रणाम करते हैं। प्रणाम करने की दूसरी विधि में प्रणाम करने वाला घुटनों के बल उटकुरुवा बैठ कर प्रणाम करता है। इसे उकुट्टिका प्रणाम कहते हैं।[7]

प्रणामयोग्य पात्र– पांच लोगों को प्रणाम किया जा सकता है– भिक्षु, भिक्षुणी, शिक्षामाणा, क्रमशः श्रामणेर और श्रामणेरी। क्रमशः प्रतिमोक्ष, शीलयुक्त भिक्षु को प्रब्रजित श्रामणेर प्रणाम करता है। ज्येष्ठ भिक्षुणी को कनिष्ठ भिक्षुणी और श्रामणेरी प्रणाम करती हैं। शिक्षामाणा को श्रामणेरी द्वारा प्रणाम किया जायेगा। इस प्रकार क्रमशः प्रणाम करने से सद्धर्म का विकास तथा संवर की सुरक्षा होती है, लेकिन यह वरिष्ठता-प्रणाली आयु के आधार पर मान्य है। यदि प्रणाम करते समय अंधेरा हो तो बिना शरीर झुकाये, बिना भूमि स्पर्श किये प्रणाम करना चाहिए। भिक्षु लोग यदि एक जगह एकत्रित हों तो सबको एक साथ प्रणाम करना चाहिए। इसको 'संघप्रणाम' कहा जाता है। प्रब्रजित, गृहस्थ, स्त्री-पुरुष, वृद्ध-युवक आदि सभी लोगों के द्वारा भगवान् को प्रणाम करना चाहिए। किसी ने संघादिसेस जैसा बड़ा पाप किया हो तो उसे प्रणाम नहीं करना चाहिए। आधा शरीर नीचे करके

---

6. चार प्रकार की गुहाएं होती हैं – ईंट की, पत्थर की, लकड़ी की और मिट्टी की गुहाएं।
7. विनय सूत्र, पृष्ठ 94, विनय वस्तु – पृष्ठ 199
ऽदुल्-टिक ठ्रि-मई ओद्-सेर् लेगस्-बशद लुङ्-रिगस् ग्र्या-मूछो, पृष्ठ 201
ऽदुल्-ऽग्रेल् रिन्-फ्रेङ्, पृष्ठ, 396

लेटे समय और दातून करते समय भिक्षु को प्रणाम नहीं करना चाहिए। नग्न होकर किसी को प्रणाम नहीं करना चाहिये।

2. शयनासन निर्माण की विधि[8]— कोई भी भिक्षु विहार बना सकता है। विहार की निर्माण-विधि इस प्रकार है :

विहार की भूमि को चार भागों में बांटकर पूर्व के भाग में गन्धकूटी बनायी जाती है। विहार की आकृति यदि चौकोर हो तो श्रेष्ठ मानी जाती है। चौकोर के तीनों भागों में कमरा और आंगन बनाया जा सकता है।

दायक द्वारा संघ के लिए और किसी विशेष भिक्षु के लिए शयनासन बनाने की अनुमति दी जा सकती है। यदि संघ के लिए कोई दायक हो तो उसको शहर के बाहर उचित स्थान पर शयनासन बनाने की अनुमति दी जा सकती है। पानी आदि के उपयोग के लिए कुंआ वहीं पर बनाना चाहिए। वासनायुक्त स्त्रियों से बचाव के लिए उसे चहारदिवारी से घेर देना चाहिए। यदि कोई स्त्री आदि पानी लेने के लिए आये तो कुंये के मध्य दीवार बना देना चाहिए।

विहार में जितने भिक्षु रहते हैं उन भिक्षुओं के भोजन करने के पश्चात् जो सामग्री शेष रह जाती है, उसे भोजन के लिए देने पर दोष नहीं है। विहार के टूटने पर उसकी मरम्मत करने तथा सफाई आदि का कार्य संघ द्वारा किया जा सकता है। उस मरम्मत के कार्य हेतु किसी दायक की सहायता ली जा सकती है। दायक न मिलने पर संघ की सम्पत्ति द्वारा जितना कार्य पूरा हो सके, उतना कार्य कराना चाहिए। भिक्षु को स्वयं उसके लिए कार्य करना चाहिए। विहार को सदैव साफ-सुथरा रखना चाहिए। दायक द्वारा श्रद्धापूर्वक किसी व्यक्ति अथवा कुछ भिक्षुओं को दिये हुए धन को विहार के लिए नहीं माना जाता है।

विहार से बाहर आते समय उसके द्वार को बन्द कर देना चाहिए। विहार की देख-भाल कने के लिए रक्षक भी रखना चाहिए। रक्षक के खाने की व्यवथा न होने पर उसकी भी व्यवस्था करनी चाहिए। किसी बाहरी व्यक्ति को विहार में तब तक न आने देना चाहिए जब तक यह विश्वास न हो जाये कि वह चोर, डकैत आदि नहीं है। इसके निश्चय के लिए रक्षक विहार की छत पर जाकर पूछें कि उसका नाम क्या है ? पिता का नाम क्या है ? कहाँ से आया है ? सन्तोषजनक उत्तर न मिलने पर विहार के द्वार को नही खोलना चाहिये।

विहार में यदि छत न हो तो आग या धुंआ नहीं करना चाहिए। गन्दी जमीन पर आग नहीं जलाना चाहिए। आग को इधर-उधर ले जाने के लिए चिमटा का प्रयोग करना चाहिये। चिमटा न होने पर लकड़ी आदि का प्रयोग करना चाहिए। विहार को प्रतिदिन साफ करना चाहिए। यदि विहार बहुत बड़ा हो और एक ही दिन में साफ न किया जा सकता हो तो महत्त्वपूर्ण स्थानों को साफ कर लेना चाहिए। महीने की आठ और चौदह तिथि को घंटा बजाकर संघ को एकजुट होने के समय प्रवारणा स्थान पर पानी का छिड़काव करना चाहिए। साफ करने के पश्चात् हाथ-पाँव

---

8. ऽदुल-ऽग्रेल् रिन्-फ्रेङ्, पृष्ठ 367 – 400

को धोकर, शरीर के पसीने को पानी द्वारा साफ करना चाहिए। त्रिरत्नों (बुद्ध-धर्म-संघ) के नाम पर झाड़ू लगाकर साफ करना और लीपना चाहिए।

गन्धकुटी, चैत्य इत्यादि की छाया के ऊपर नहीं जाना चाहिए। महीने की अष्टमी और चतुर्दशी तिथियों के दिन शयनासन का निरीक्षण करना चाहिए। भिक्षु लोगों को अपने-अपने शयनासन पर पानी से छिड़काव करना चाहिए। उसे लीपना चाहिए। बिस्तर इत्यादि गन्दे होने पर उसे बहते हुए पानी से धोना चाहिए। सम्पूर्ण रूप से शयनासन साफ होने पर बिस्तर लगाना चाहिए। श्रद्धापूर्वक विहार की टूटी दीवारों या भागों की इच्छा हो तो मरम्मत की जा सकती है। आंगन में आसन नहीं लगाना चाहिये।

एकान्त में रहने वाले भिक्षु सुरक्षा की दृष्टि से कुत्ता रख सकते हैं। प्रातःकाल उठकर विहार, चैत्य आदि के आस-पास कुत्ते ने अगर मल-मूत्र त्याग किया हो, तो उसे साफ करना चाहिये। कुत्ते ने कहीं विहार की भूमि को खुरच डाला है तो उसे समतल करना चाहिए। कुत्ते को भोजन के लिए अपने पात्र में बचे हुए भोजन को दे देना भिक्षु का कर्तव्य है, परन्तु उस भोजन को विहार, चैत्य आदि की सीमा के बाहर जाकर देना चाहिए।

विहार का उपयोग प्रब्रजित लोगों के रहने के लिए किया जाता है। विहार के प्रांगण के अन्दर पेड़-पौधे लगाना चाहिए और पानी के लिए उचित स्थान पर तालाब को बनाना चाहिए। दायक द्वारा संघ को दिये हुए धन आदि को विहार बनाने के लिए मजदूरों को मजदूरी और भोजन आदि के लिए प्रबन्ध करना चाहिए। मजदूरों के रहने के लिए कमरे आदि दिये जा सकते हैं। मजदूरों के लिए आवश्यक मात्रा में भोजन खरीदा जा सकता है।

विहार में कार्य करने वालों के लिए यदि वहाँ भोजन नहीं है तो पास के विहार से भोजन लाया जा सकता है। भिक्षुओं के लिए विहार पांच से सात तल तक और भिक्षुणियों के लिए विहार तीन से पांच तल तक बनाया जा सकता है। आवश्यकतानुसार छोटे विहार को बड़ा करना हो तो किया जा सकता है। लेकिन चैत्य, प्रतिमा आदि को तोड़ना मना है। प्राचीन स्तूप आदि को तोड़कर उसकी मरम्मत करना मना है, परन्तु बिना तोड़े उसकी मरम्मत की जा सकती है और उसे विशाल बनाया जा सकता है। प्राचीन स्तूप, प्रतिमा आदि को पानी से बचाने के लिए छतरी को तोड़ कर बनाने में दोष नहीं है।[9]

भगवान् बुद्ध की जातक आदि कथाओं और चित्रों और भगवान् के जो उपदेश दीवारों पर अंकित है, उनकी मरम्मत के लिए यदि उनको पोंछना चाहें तो पोंछ सकते हैं, क्योंकि उसे पुनः पूर्ण रूप से स्पष्ट और आकर्षक बनाने में दोष नहीं होता है। चैत्य आदि विहार प्रारम्भ करके सम्पन्न न करने पर संघादिसेस का दोष माना जाता है। यदि संघ के लिए दायक विहार आदि आधा बनाकर छोड़ दें तो पुनः भिक्षुओं द्वारा उसको पूर्ण किया जाना चाहिए। उसको पूर्ण करने के समय सर्दी में भोजन के पश्चात् और बसन्त ऋतु में भोजन से पहले कार्य करना चाहिए।

---

9. विनय क्षुद्रक वस्तु, पृष्ठ 152

पात्र आदि साफ करने के समय कोई अन्य कार्य नहीं करना चाहिए। भिक्षु लोग विहार बनाने के कार्य के बाद स्नान आदि करके भोजन के लिए जायेंगे। भिक्षुलोग यदि भोजन के पश्चात् विहार बनाने का कार्य करेंगे तो उसके पश्चात् प्यास मिटाने के लिए पानी, शर्बत पी सकते हैं तथा हाथ-पैरों में मालिश करा सकते हैं।

भिक्षु या संघ के निवास के लिए जो कमरे बनेंगे उनके ऊपर छज्जा, खिड़की तथा जाली बनायी जा सकती है। खिड़की छज्जायुक्त होनी चाहिए। कमरे के बाहर आँगन भी बनाया जा सकता है। ईंटों की फर्श उसके ऊपर हो सकती है अथवा तख्ता भी बिछाया जा सकता है। तख्ते के ऊपर स्तम्भ खड़ा किया जा सकता है।

विहार की दीवारों पर चित्र अंकित करने के लिए नीला, पीला, लाल, सफेद रंगों का प्रयोग किया जा सकता है। प्रब्रजित द्वारा भी विहारों की दीवारों पर चित्र अंकित किये जा सकते हैं। द्वार के पास छः लोकों से युक्त चक्र बनाया जाता है। छः लोकों में 1. सुरलोक, 2. असुरलोक, 3. मनुष्यलोक, 4. पशुलोक, 5. प्रेतलोक और 6. नरकलोक हैं। उस चक्र के बीच में राग के लिए मुर्गा, द्वेष के लिए सर्प और मोह के लिए सुअर का चित्र बनाया जाता है। चक्र की अन्तिम सीमा के अन्दर प्रतीत्यसमुत्पाद[10] की बारह कड़िया अंकित की जाती है।

विहार की दीवारों पर तथागत की जीवनी, जातक कहानियां, मारविजय, चमत्कार और शास्ता के अनुयायी अर्हन्तों के चित्र आदि बनाये जा सकते हैं। लोगों को अनित्य भाव को समझाने के लिए जन्म, रोग, मृत्यु और वृद्ध का विवरण अंकित किया जाता है, जिससे रोग सांसारिक दुःख और संसार की अनित्यता को समझ कर धर्म की ओर उन्मुख हों।

एक समय, कौशल राजा ने अपनी मां के न रहने पर, अपने शोक को समाप्त करने के लिए मां के आसन को संघ को दे दिया। बाद में राजा विहार में आया और उसे देखकर उसे दुःख हुआ। इसलिये इस प्रकार की वस्तुएं दायक द्वारा देने पर, उसके सामने नहीं रखना चाहिए। भिक्षु लघु आसन रख सकता है। भूमि ऊंची नीची होने पर उसको समतल करके ही आसन लगाना चाहिए। एक आसन पर तीन से अधिक भिक्षु नहीं बैठ सकते हैं। यदि वह लघु आसन है तो एक से अधिक को नहीं बैठना चाहिए। उपसम्पदा के तीन साल पूरा न होने तक अन्य ज्येष्ठ उपसम्पदा सम्पन्न के आसन पर नहीं बैठा जा सकता है। यदि किसी घर में एक ही आसन है तो उपाध्याय के साथ एक ही आसन पर बैठा जा सकता है, परन्तु उपाध्याय का सम्मान करते हुए श्रद्धापूर्वक रहना चाहिए।

गृहस्थ के साथ कभी भी एक आसन पर नहीं बैठा जा सकता है। संघ का आसन गन्दे स्थान के निकट नहीं लगाना चाहिए। भिक्षु लोगों को संगीतशालाओं, वेश्यालयों, मदिरालयों, राजमहल और कसाइयों के घरों में नहीं रहना चाहिए। भिक्षुणियों को एकान्त में विहार बनाकर नहीं रहना चाहिए। वे शहर के अन्दर ही स्थान बनाकर रह सकती है। वे खुली जगह में नहीं रह सकती

---

10. बारह प्रतीत्यसमुत्पाद इस प्रकार है

1. अविद्या, 2. संस्कार, 3. विज्ञान, 4. नामरूप, 5. षडायतन, 6. स्पर्श, 7. वेदना, 8. तृष्णा, 9. उपादान, 10. भव, 11. जाति, 12. जरा–मरण

हैं। भिक्षुणियों को चौराहे पर नहीं रहना चाहिए। भिक्षुणियों को हमेशा अपने शरीर को वस्त्रों से ढक कर रखना चाहिए। भिक्षुणियों को दोनों बाहें ढके बिना किसी गृहस्थ के घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। उन्हें किसी के घर में बैठते समय अपने चित्त को सदैव धर्म-साधना में लगाये रखना चाहिए।[11]"

इस प्रकार शासनासन बनाने की उपर्युक्त विधियों का वर्णन सर्वास्तिवादविनय में प्राप्त होता है।

---

11. विनयवस्तु, पृष्ठ 200 तथा विनयसूत्र, पृष्ठ 95
ऽदुल्-वा रिन-पो-छे गलिङ्-ग़्शि ब्लो-ग़्सल् ग़्शोन्-नुई मगुल्-र्ग्यन्, पृष्ठ 149
ऽदुल्-टिक ञि-मई ओद्-जेर् लेग़्स्-बशद लुङ् रिग़्स् र्ग्या-मूछो, पृष्ठ 215

ऋग्वैदिक दाशराज्ञ-युद्ध : प्रयोजन और परिणति

प्रो. ओम्प्रकाश पाण्डेय

ऋग्वैदिक दाशराज्ञ-युद्ध के विषय में विद्वज्जनों के मध्य अनेक भ्रान्तियाँ व्याप्त हैं, जिनमें से प्रमुख ये हैं –

1. यह युद्ध विश्वामित्र और वसिष्ठ के पारस्परिक मतभेदों के कारण हुआ था। वसिष्ठ की प्रतिद्वन्दिता में विश्वामित्र सुदास का संरक्षण त्यागकर भरतराज्य में चले गये थे। उनके द्वारा उकसाये जाने के कारण दस राजाओं का समूह संघबद्ध होकर उन्हीं के नेतृत्व में पूर्व की ओर शुतुद्रि तथा विपाशा नदियों को पार कर परूष्णी के दक्षिण में पहुँच गया था, जहाँ इस संघ का सुदास से संघर्ष हुआ था।
2. ये दस राजा जनजातियों अथवा कबीलों के प्रतिनिधि थे।
3. यह युद्ध आर्यों और अनार्यों के मध्य हुआ था।
4. इस युद्ध का मूल कारण पौरोहित्यजन्य स्पर्धा थी। तदनुसार वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों ही इसके माध्यम से अपने-अपने पौरोहित्यजन्य प्रभुत्व को सुदृढता प्रदान करना चाहते थे।
5. इस युद्ध का सम्बन्ध भारत में बाहर से आये आर्यों के कबीलों में आपसी वर्चस्व स्थापित करने से था।[1]

किसी भी प्रकार की सम्भावना न होने पर भी, मात्र कपोल-कल्पना के आधार पर ही कितनी निर्मूल बातें गढ़ी जा सकती हैं, इसका सर्वप्रमुख उदाहरण है दाशराज्ञ युद्ध के विषय में व्यक्त विचारों की उपर्युक्त सरणि। इन कल्पनाओं के प्रस्तावकों में डॉ० आर.एन. दाण्डेकर, उमेशचन्द्र शर्मा, पार्जिटर इत्यादि हैं।

---

1. The *Dāśarājña* war took place at such a time when the Indo - Aryan settlers have been established and had already been established and had their roots sown in the soil of this country. They were divided in several tribes and peoples. The aid of non-Aryan tribes was also being sought in this conflict of overlordship.

   The Dāśarājña War : Sharma, U.C., Aligarh, 1985.

ऋग्वेद में, दाशराज्ञ युद्ध का वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है।[2] इन मन्त्रों का विशद विवरण इस प्रकार है–

महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतो ऽस्तंभ्नात् सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः।
विश्वामित्रो यदवहत् सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः।।[3]

देवों से उत्पन्न तथा देवताओं से ही प्रेरित होकर महान् ऋषि विश्वामित्र ने, जन-समुदाय के देखते-देखते ही, जल से परिपूर्ण नदी को रोक दिया था। उन्होंने जब सुदास को वहन किया, तो इन्द्र को कुशिकों के द्वारा भी अनुराग का आस्पद बना लिया गया था।

इस मन्त्र से यह सूचना मिलती है कि विश्वामित्र और सुदास के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध था तथा कुशिक वंशजों के द्वारा जिनमें वे सम्मिलित थे, इन्द्र को सम्मानित कराया गया था–

उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्वं राये प्रमुञ्चता सुदासः।
राजा वृत्रं जङ्घनत् प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्याः।।

य इमे रोदसी उभे अहमिन्द्रमतुष्टवम्।
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।।[4]

हे कुशिक ऋषियों ! पास आओ, उत्साहित हो तथा सुदास के अश्व को ऐश्वर्य लाभ-हेतु खोल दो। राजा (इन्द्र) ने आगे-पीछे तथा ऊपर से शत्रु का विनाश कर दिया है। तदनन्तर वह पृथिवी (की रक्षा करने के लिए) अथवा पृथ्वी के भाग पर बनी यज्ञवेदी में यज्ञानुष्ठान कर रहा है।

मैं अर्थात् विश्वामित्र ने इन दोनों द्युलोक और पृथिवी की स्तुति की है। अब मेरा यही स्तोत्र भारतीय जनसमूह की रक्षा कर रहा है–

इम इन्द्र भरतस्य पुत्रा अपपित्वं चिकितुर्न प्रपित्वम्।
हिन्वन्त्यश्वमरणं न नित्यं ज्यावाजं परिणयन्त्याजौ।।[5]

हे इन्द्र! भरत के ये पुत्र शत्रु को क्षीण करना ही जानते हैं, उसे पुष्ट करना नहीं।

ये सदैव युद्ध में अपने अश्व को ऐसे दौड़ाते हैं, जैसे वहाँ युद्ध का वातावरण ही न हो अर्थात् ये युद्ध की भयानकता की चिन्ता किये बिना ही युद्धभूमि में घोड़े दौड़ाते हुए चले आते हैं। युद्धभूमि में ये अपनी प्रत्यञ्चा के बल को प्रदर्शित कर देते हैं–

---

2. ऋ० सं० 3.53.9, 11-12, 24; 7.18.5-8, 10.13, 16-17, 21-22; 25; 7.33.3.5-6; 7.83.1, 4, 6-8
3. तत्रैव, 3.53.9
4. तत्रैव, 3.53.11-12
5. तत्रैव, 3.53.24

इस मन्त्र में भरत-वंशजों की विशिष्ट वीरता का विवरण है।

अर्णांसि चित् पपथाना सुदास इन्द्रो गाधान्यकृणोत् सुपारा।
शर्धन्तं शिम्युमुचथस्य नव्यः शापं सिन्धूनामकृणोदशस्तीः।।
पुरोडा इत् तुर्वशो यक्षुरासीद् राये मत्स्यासो निशिता अपीव।
श्रुष्टिं चक्रुर्भृगवो द्रुह्यवश्च सखा सखायमतरद् विषूचोः।।
आ पक्थासो भलानसो भनन्ता ऽलिनासो विषाणिनः शिवासः।
आ यो ऽनयत् सधमा आर्यस्य गव्या तृत्सुभ्यो अजगन् युधा नृन्।।

दुराध्योऽ अदितिं स्रेवयन्तो ऽचेतसो वि जगृभ्रे परुष्णीम्।
मह्नाविव्यक् पृथिवीं पत्यमानः पशुष्कविरशयच्चायमानः।।[6]

इन्द्र ने जलराशि को फैलाकर सुदास के लिए नदी को सरलता से पार करने योग्य कर दिया था। आगे बढ़ रहे उचध तथा हिंसक शिम्यु को इन्द्र की प्रेरणा से नदियों का शाप लग गया– अर्थात् वे नदी की बाढ़ में नष्ट हो गये। ये दोनो सुदास-विरोधी हैं। तुर्वश पुरोडाश तैयार करके यज्ञ करना चाहता था। मत्स्यजन धन पाने के लिए बड़ी तेज़ी से लगे थे। भृगु और दुह्यु शीघ्र धन-प्राप्ति के लिए एक दूसरे से होड़ करने में प्रयत्नशील थे। इन दोनों की होड़ में मित्र इन्द्र ने अपने मित्र सुदास को नदी पार करा दी।

(टिप्पणी– पण्डित सातवलेकर ने अपने ऋग्भाष्य में 'तुर्वश' प्रभृति का अर्थ व्यक्तिपरक न मानकर यौगिक किया है। तदनुसार 'तुर्वश' का अर्थ शीघ्रता से कार्य करने वाला है, मत्स्य का अभिप्राय है अपने जीवन के लिए दूसरों को निगल जाने वाला, भृगु का तात्पर्य है मात्र अपने ही भरण-पोषण में लगा निगल जाने वाला, भृगु का तात्पर्य है मात्र अपने ही भरण-पोषण में लगा रहने वाला तथा दुह्यु वाचक है डाकुओं का।) पक्थों, भलानों, अलिनों, विषाणियों (सींग हाथ में लिए हुए लोगों) और शिवों ने उस इन्द्र की स्तुतियाँ की जो इन्द्र आर्यों का मित्र है तथा तृत्सुओं के लिए जो गायों को लाया और शत्रुओं पर जिसने लड़कर विजय प्राप्त की।

दुष्ट विचारों से ग्रस्त नासमझ लोगों ने परुष्णी नदीकी उस धारा को तोड़ दिया, जो माँ की तरह पोषक जल प्रदान करती है। इसके विपरीत इन्द्र ने अपनी सामर्थ्य से पृथ्वी को व्याप्त करते हुए परुष्णी नदी के दोनों तटों को पूर्ववत् ठीक कर दिया और इन्द्र के द्वारा विनष्ट कवि चायमान पशु की तरह मरकर लेट गया–

ईयुरर्थं न न्यर्थं परुष्णीमाशुश्चनेदभिपित्वं जगाम।
सुदास इन्द्रः सुतुकाँ अमित्रानरन्धयन्मानुषे वध्रिवाचः।।[7]

---

6. तत्रैव, 7.18.5,6,7,8
7. तत्रैव, 7.18.9

इन्द्र के विरोधी परुष्णी के पास गये, जो उनके लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। यहाँ तक कि उनका घोड़ा भी बचकर नहीं लौट सका। इन्द्र ने सुदास के लिए उसके गर्जन करते हुए शत्रुओं को मानव-समुदाय से निकालकर, पुत्रों सहित नष्ट कर दिया–

ईयुर्गावो न यवंसादगोंपा यथाकृतमभि मित्रं चितासः।
पृश्निगावः पृश्निंनिप्रेषितासः श्रुष्टिं चंक्रुर्नियुतो रन्तंयश्च।।
एकं च यो विंशतिं च श्रवस्या वैंकर्णयोर्जनान् राजा न्यस्तंः।
दस्मो न सद्मन् नि शिंशाति बर्हिः शूरः सर्गमकृणोदिन्द्रं एषाम्।।
अधं श्रुतं कवषं वृद्धमप्स्वनुं द्रुह्युं नि वृंणग्वज्रंबाहुः।
वृणाना अत्रं सख्यायं सख्यं त्वायन्तो ये अंमदन्ननुं त्वा।।
वि सद्यो विश्वा दृंहितान्येंषामिन्द्रः पुरः सहंसा सप्त दंर्दः।
व्यानंवस्य तृत्संवे गयं भाग्जेष्मं पूरुं विदथें मृध्रवांचम्।।[8]

इन्द्र के द्वारा भगाये गये वे शत्रुगण ऐसे भागे, जैसे बिना ग्वाले के चर रही गायें, जो खेत से किसान के द्वारा भगायी जाने पर भागती हैं। तात्कालिक रूप में बनाये गये एक मित्र के चारों ओर वे इकट्ठे हो गये। पृश्नि के द्वारा भगाये गये पृश्निगुजन सर्वनाश को प्राप्त हुये। उनके घोड़ों और अन्य सामग्री की भी वही दुःस्थिति हुई।

राजा सुदास ने यशोलाभ की कामना से अपने शत्रुओं को ऐसे काट डाला, जैसे कोई कुशल व्यक्ति अपने घर में आसन बनाने के लिए कुशो को काट देता है। सुदास ने इक्कीस वैकर्ण-वीरों को छिन्न-भिन्न कर पीछे धकेल दिया। शूरवीर इन्द्र ने उन्हें शीघ्र तितर-बितर कर भगा दिया।

इसके पश्चात् वज्रधारी इन्द्र ने तत्काल श्रुत, कवष, वृद्ध और दुह्यु को परुष्णी के जल में डुबो दिया। दूसरी ओर, जो तुम्हारे अनुकूल रहे, उन्होंने तुम्हारी मित्रता प्राप्त की, जिससे वे दीर्घकाल तक तुम्हारे भक्त बने रह सकें।

तत्काल इन्द्र ने इन शत्रुओं के सभी सात दुर्गो और अन्य सुदृढ़ स्थानों को ध्वस्त कर दिया। अनु के वंशजों की सम्पत्ति उन्होंने तृत्सु को प्रदान कर दी। हमने उस पुरू पर विजय प्राप्त कर ली, जिसने यज्ञ-गोष्ठी अथवा विद्वत्सभा में अपमानजनक अथवा असत्य वचन कहे थे–

नि गव्यवो ऽनंवो द्रुह्यवंश्च षष्टिः शता सुंषुपुः षट् सहस्रा।
षष्टिर्वीरासो अधि षड् दुंवोयु विश्वेदिन्द्रंस्य वीर्यां कृतानिं।।
इन्द्रंणैते तृत्संवो वेविंषाणा आपो न सृष्टा अंधवन्त नीचीः।
दुर्मित्रासंः प्रकलविन्मिमांना जहुर्विश्वांनि भोजंना सुदासें।।

---

8. तत्रैव, 7.18.10-13

अर्धं वीरस्यं शृतपामंनिन्द्रं परा शर्धन्तं नुनुदे अभि क्षाम्।
इन्द्रो मन्युं मंन्युभ्यों मिमाय भेजे पथो वर्तनिं पत्यमानः।।
आध्रेणं चित् तद्वेकं चकार सिंह्यं चित् पेत्वेना जघान।
अवं स्रक्तीर्वेश्यांवृश्चदिन्द्रः प्रायंच्छद विश्वा भोजंना सुदासें।।[9]

गायों को लूटने वाले अनु और दुह्यु के साठ सौ तथा छह हजार अनुयायी रणभूमि में मारकर सुला दिये गये। इसी क्रम में छाँछठ वीर और मारे गये। ये सभी इन्द्र के द्वारा किये गये पराक्रम हैं। इन्द्र की सहायता से इन तृत्सुओं ने भूमि पर पशुओं को मारकर बिछा दिया जैसे इन्द्र के द्वारा अवमुक्त जलधारायें ढलान की ओर बहती हैं। दुष्टों के साथ मित्रता रचाने वाले ये शत्रुगण जब मारे जाने लगे, तो अपनी सारी खाद्य सामग्री छोड़कर भागे, जो सुदास के हाथ लग गयी। इन्द्र ने उस शत्रु-सेना के आधे भाग का विनाश कर दिया, जो हविष्यान्न खा लेती थी। इन्द्र ने शत्रुओं के क्रोध को नष्ट कर दिया और उन्हें भागने के लिए विवश कर दिया। इस प्रकार इन्द्र ने दुर्बल व्यक्ति के द्वारा अप्रतिम कार्य करा दिया। उसने बलवान् सिंह को बकरे से मरवा दिया। साधारण सुई से स्तम्भ के कोने कटवा दिये और समस्त भोग्य धन सुदास को प्रदान कर दिया–

आवदिन्द्रं यमुना तृत्सवश्च प्रात्रं भेदं सर्वतांता मुषायत्।
अजासंश्च शिग्रवो यक्षवश्च बलिं शीर्षाणिं जभ्रुरश्व्यांनि।।[10]

सर्वत्र फैले इस युद्ध में इन्द्र ने भेदक शत्रु का वध किया, उस इन्द्र की सुरक्षा यमुना और तृत्सुओं ने की। अजों, शिग्रुओं और यक्षुओं ने (इस युद्ध में) इन्द्र को अपने अश्वों के शिर समर्पित किये।

प्र ये गृहदममदुस्त्वाया पराशरः शतयांतुर्वसिष्ठः।
न तें भोजस्यं सख्यं मृषन्ताऽधा सूरिभ्यः सुदिना व्युंच्छान्।।
द्वे नप्तुर्देववंतः शते गोर्द्वा रथा वधूमंन्ता सुदासः।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सदम पर्येमि रेभंन्।।[11]

पराशर, शतयातु और वसिष्ठ, जिन्होंने तुम्हारी भक्तिवश स्वगृह से बाहर निकालकर तुम्हें प्रसन्न किया था, वे तुम्हारी मित्रता को कभी ओझल नही करते हैं। हे अग्निदेव ! पिजवन के पुत्र तथा देववान् के नाती (नप्ता) सुदास के द्वारा प्रदत्त दो सौ गायों और वधुओं से युक्त दो रथों के दान की पात्रता सिद्ध करते हुए मैं चारों ओर उसी प्रकार काव्य-रचना करते हुए विचरण करता हूँ, जिस प्रकार होता देवयजन के चारों ओर विचरण करता रहता है।

---

9. तत्रैव, 7.18.14-17
10. तत्रैव, 7.18.19
11. तत्रैव, 7.18.21-22

चत्वारो मा पैजवनस्य दानाः स्मद्दिष्टयः कृशनिनो निरेके।
ऋज्रासो मा पृथिविष्ठाः सुदासस्तोकं तोकाय श्रवसे वहन्ति।।[12]

सुदास पैजवन के द्वारा प्रदत्त चार, स्वर्णालंकारों से मण्डित ऐसे घोड़े जो चलने में कुशल हैं, और भूतल पर प्रसिद्ध हैं, मुझ (वसिष्ठ) को अपने पुत्रों के पास यश के लिए पहुँचा देते हैं।

इमं नरो मरुतः सश्चतानु दिवोदासं न पितरं सुदासः।
अविष्टना पैजवनस्य केतं दूणाशं क्षत्रमजरं दुवोयु।।[13]

हे पौरुष सम्पन्न मरुतों ! (तुम) इस सुदास की सहायता वैसे ही करो, जैसे तुमने (इसके) पूर्वज दिवोदास की सहायता की थी। तुम आशीर्वाद के आकांक्षी सुदास पैजवन के घर की सुरक्षा उस प्रकार से करो, जिस से उसका क्षत्रियोचित बल और प्रभुत्व निरन्तर बढ़ता ही जाये, कभी घटे नहीं।

त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम्।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्।।[14]

अपने शत्रुओं को कुचल देने वाले हे इन्द्र! तुमने यज्ञ में हविष् प्रदाता सुदास की रक्षा अपने समस्त सुरक्षा-साधनों से की। तुमने उन युद्धों में, जिसमें वृत्र मारा गया, तथा जो भूमि पर अधिकार करने के लिए लड़े गये थे, तुमने पुरुराज त्रसदस्यु की भी रक्षा की थी।

सना ता त इन्द्र भोजनानि रातहव्याय दाशुषे सुदासे।
वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजम्।।[15]

हे इन्द्र! तुमने हविष्-प्रदाता तथा दानी सुदास के लिए स्थायी रूप से भोग्य सामग्री प्रदान की है। हे शक्तिशाली वीर इन्द्र! मैं तुम्हें जाने के लिए तुम्हारे ही बलशाली घोड़ों को रथ में जोतता हूँ। मेरी स्तुतियाँ तुम तक पहुँच जायें।

प्रियास इत् ते मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः।
नि तुर्वशं नियाद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन्।।[16]

हे धनवान् इन्द्र! हम तुम्हारे प्रियजन और मित्रगण तुम्हारी स्तुति करते हुए (सदैव) तुम्हारी शरण में आनन्दपूर्वक रहें। अतिथिग्व के लिए प्रशंसनीय (सहायता करने के लिए) तुम तुर्वश और यादव (संज्ञक शत्रुओं) को निकाल फेंको।

---

12. तत्रैव, 7.18.23
13. तत्रैव, 7.18.25
14. तत्रैव, 7.19.3
15. तत्रैव, 7.19.6
16. तत्रैव, 7.19.8

सातवें मण्डल के 33वें सूक्त के तृतीय मन्त्र में भी 'दाशराज्ञ' शब्द मिल जाता है। इसके प्रथम छह मन्त्रों में दाशराज्ञ युद्ध और उसमें प्रदर्शित वसिष्ठ की गौरवशाली भूमिका की चर्चा है। इसके प्रथम मन्त्र में इन्द्र के द्वारा कहा गया है कि वसिष्ठकुल के लोग उससे दूर न जायें। दूसरे मन्त्र में वसिष्ठ का कथन है कि इन्द्र ने वयत् के पुत्र पाशद्युम्न के द्वारा तैयार किये गये सोमरस को छोड़कर वसिष्ठों का वरण किया था। तीसरा मन्त्र इस विषय में विशेष विवरण का प्रस्तावक है–

एवेन्नु कं सिन्धुमेभिस्ततारेवेन्नु कं भेदमेभिर्जघान।
एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः।।[17]

(इन्द्र ने) इन लोगों के साथ सिन्धु को सरलता से पार कर लिया। इन लोगों के साथ इन्द्र ने भेद का संहार किया। हे वसिष्ठ जनों! इसी प्रकार दाशराज्ञ युद्ध में इन्द्र ने आपके स्तोत्र के प्रभाव से सुदास की सुरक्षा की थी। चतुर्थ मन्त्र में वसिष्ठ का आह्वान करते हुए उनसे आग्रह किया गया है कि वे शक्वरी ऋचाओं में अधिष्ठित बृहत्साम के गान से इन्द्र का बल बढ़ायें–

यच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे शुष्ममदधाता वसिष्ठाः।
उद्, द्यामिवेत् तृष्णजों नाथितासोऽदीधर्युर्दाशराज्ञे वृतासः।।
बसिष्ठस्य स्तुवत इन्द्रों अश्रोदुरुं तृत्सुभ्यो अकृणोदु लोकम्।।
दण्डा इवेद् गो अजनास आसन् परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः।
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित् तृत्सूनां विशों अप्रथन्त।।[18]

इनमें से 'उद्द्यामिवेत्' मन्त्र का अभिप्राय है कि भूखे-प्यासे, शत्रुओं से घिरे और महत्वाकांक्षी वसिष्ठों ने दाशराज्ञ युद्ध में इन्द्र की स्तुति की थी, जिसे सुनकर इन्द्र ने तृत्सुजनों के लिए विस्तृत स्थान उपलब्ध कराया था।

षष्ठ मन्त्र का आशय है कि (प्रारम्भ में) भरतों की संख्या गोचारण में प्रयुक्त दण्डों के समान अत्यन्त सीमित थी। उनके साथ ज्यादा लोग नहीं थे। उनका बल भी बच्चों की तरह थोड़ा था। लेकिन जब वसिष्ठ ने उनका नेतृत्व किया, तो तृत्सुओं की जनसंख्या फैलने-बढ़ने लगी।

इसके बाद ऋग्वेद के सप्तम मण्डल का 83वाँ महत्त्वपूर्ण सूक्त है, जिसमें दाशराज्ञ युद्ध का विशिष्ट विवरण है। इसके सप्तम मन्त्र में दस राजाओं के संघ का और अष्टम मन्त्र में 'दाशराज्ञ' शब्द का उल्लेख है। इस सूक्त के सन्दर्भित मन्त्र इस प्रकार है–

---

17. तत्रैव, 7.33.3
18. तत्रैव, 7.33.4-6

युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः।
दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम्।।[19]

हे इन्द्र और वरुण! तुम दोनों को विश्वसनीय सहायक के रूप में देखते हुए (भरतजन जो) गायों को पाने के इच्छुक थे और जिनके (हाथों में) बड़े-बड़े परशु थे, आगे की ओर बढ़े। तुम हमारे उन शत्रुओं को मार दो, जिन्होंने हमें घेर रखा है। तुम उन्हें भी मार दो, जो आर्य (होते हुए भी अनार्य की तरह व्यवहार करते हैं)। तुम अपनी शक्ति से सुदास की सुरक्षा करो।

यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन्नाजा भवति किञ्चन प्रियम्।
यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृशस्तत्रा न इन्द्रावरुणाधि वोचतम्।।[20]

जहाँ लोग (अपने-अपने) झण्डे उठाये युद्ध के लिए एकत्र होते हैं, जिस युद्ध में कुछ भी प्रिय नहीं लगता है, जहाँ सारे प्राणी भयभीत होते हुए केवल स्वर्ग की ओर देखते हैं, हे इन्द्र और वरुण! उस युद्धस्थल पर तुम हमारे पक्ष में बोलो।

सं भूम्या अन्ता ध्वसिरा अदृक्षतेन्द्रावरुणा दिवि घोष आरुहत्।
अस्थुर्जनानामुप मामरातयोऽर्वागिवसा हवनश्रुता गतम्।।[21]

हे इन्द्र और वरुण ! (रण) भूमि के एक छोर से दूसरे छोर तक विनाश-ही-विनाश दिखायी दे रहा है, यदि तुमने हमारा आह्वान सुन लिया हो तो तत्काल अपनी सेना के साथ यहाँ आकर हमारी सुरक्षा करो।

इन्द्रावरुणा वधनाभिरप्रति भेदं वन्वन्ता प्र सुदासमावतम।
ब्रह्माण्येषां शृणुतं हवीमनि सत्या तृत्सूनामभवत् पुरोहितिः।।[22]

हे इन्द्र और वरुण! तृत्सुजनों के मध्य मेरा पौरोहित्य सार्थक हो गया, जो तुमने घातक साधनों से भेद को नष्ट कर दिया, सुदास की सुरक्षा की, इनके पक्ष के लोगों की प्रार्थनायें सुनीं।

इन्द्रावरुणावभ्या तपन्ति माघान्यर्यो वनुषामरातयः।
युवं हि वस्व उभयस्य राजथोऽध स्मा नो ऽवतं पार्ये दिवि।।[23]

---

19. तत्रैव, 7.83.1
20. तत्रैव, 7.83.2
21. तत्रैव, 7.83.3
22. तत्रैव, 7.83.4
23. तत्रैव, 7.83.5

हे इन्द्र और वरुण ! शत्रु के दुष्टतापूर्ण कार्य-कलाप हमें सन्ताप दे रहे हैं, आपके भक्तों के शत्रु भी हमें सता रहे हैं। तुम दोनों तो दोनों ही प्रकार की सम्पत्तियों के स्वामी हो, संघर्ष के इन निर्णायक दिनों में हमे सुरक्षा प्रदान करो।

युवां हंवन्त उभयांस आजिविष्वन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातयें।
यत्र राजेभिर्दशभिर्निर्बाधितं प्र सुदासमावंतं तृत्सुंभिः सह।।[24]

युद्धो में तुम दोनों इन्द्र और वरुण को दोनों पक्षों के लोग बुलाते हैं, ताकि उन्हें धन-लाभ हो सके। ऐसी युद्धभूमि में तुमने तृत्सुओं के साथ सुदास की उस समय रक्षा की जब उन्हें दस राजाओं ने घेर लिया था।

दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः।
सत्या नृणामद्मसदामुपस्तुतिर्देवा एंषामभवन् देवहूतिषु।।[25]

हे इन्द्र और वरुण! यज्ञविरोधी दस राजागण संगठित होकर भी सुदास से युद्ध न कर सके। यज्ञानुष्ठान करने वालों की स्तुति सफल हुई और सभी देवता इनके बुलाने पर आ गये।

इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि सुदास और उनके विरोधियों के मध्य मतभेद का एक प्रमुख कारण यज्ञानुष्ठानों को लेकर भी था। सुदास और उनके समर्थक यज्ञानुष्ठानों के समर्थक थे, जबकि उनके विरोध में खड़ा हुआ दस राजाओं का संघ यज्ञ-संस्था का विरोधी था।

दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वतः सुदासं इन्द्रावरुणावशिक्षतम्।
श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असंपन्त तृत्सवः।।[26]

हे इन्द्र और वरुण ! तुमने राजा सुदास की सहायता उस समय की थी, जब उन्हें दस राजाओं के संघ ने चारों ओर से घेर रखा था। वहाँ श्वेत जटाओं अथवा पगड़ीधारी बुद्धिमान् तृत्सुजन मन में तुम्हारा अभिवादन करते हुए तुम्हारी प्रतीक्षा निरन्तर कर रहे थे।

उपर्युक्त अंशों में विश्वामित्र और वसिष्ठ की शत्रुता अथवा प्रतिस्पर्धा का कोई उल्लेख नही है। दोनों ही इस युद्ध में सुदास के शुभैषी हैं। पौरोहित्य का दायित्व केवल वसिष्ठ पर दिखायी देता है। सुदास के शत्रु परुष्णी (रावी) को पार करने में सफल नहीं हुए थे। उनमें से अधिकांश उसकी बाढ़ में बह गये थे। और जो नदी पार करके इस पार पहुँचने में सफल हुए थे वे मार दिये गये थे। सुदास ने दो रणों में अपने जिन शत्रुओं को परास्त और विनष्ट किया था, वे थे– अज,

---

24. तत्रैव, 7.83.6
25. तत्रैव, 7.83.7
26. तत्रैव, 7.83.8

अलिन, अनु, यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, पुरु, मत्स्य, कवष, कवि, चायमान, पक्थ, भलानस, विषाणिन् तथा शिव-भेद। कहा जाता है कि इनमें से पक्थादि तत्कालीन भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेशों के समीपस्थ रहते थे। स्वयं सुदास भारतवंशी थे। पक्थों का सम्बन्ध आधुनिक पख्तूनिस्तान से जोड़ा जाता है। यह वंश सरस्वती, आपया और दृषद्वती नदियों के समीपस्थ प्रदेशों पर शासन कर रहा था। भारत के इतिहास में आगे चलकर इस राजवंश ने बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। तृत्सुजन सुदास के मित्र थे। वेलणकर ने उन्हें वसिष्ठों से जोड़ा है।[27] ऋग्वेद के एक स्थल[28] से ज्ञात होता है कि सुदेवी सुदास की पत्नी थी, जो उसे अश्विनों के अनुग्रह से मिली थी। परुष्णी की पहचान आज की रावी से की जाती है, जो लाहौर के पास बहती है। इससे प्रतीत होता है कि यह युद्ध लाहौर के आस-पास कहीं हुआ होगा।

डॉ० आर.एन. दाण्डेकर ने इसे आर्यों के दो बार भारत आगमन की स्वकल्पित घटनाओं से जोड़ने की चेष्टा की है, जो उचित नहीं प्रतीत होता है।[29]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दाशराज्ञ युद्ध न तो पौरोहित्य-प्राप्ति की स्पर्धा और न विश्वामित्र और वसिष्ठ के मध्य तथाकथित किसी प्रतिद्वन्द्विता के ही कारण हुआ था। वास्तव में यह युद्ध भारत के उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रदेश के निकटस्थ स्थानों पर रहने वाले भारतविरोधी कुछ आततायी और आक्रमणकारी जातियों के उत्पातों का दमन करने के लिए भरतवंशी राजा सुदास ने तृत्सुजनों तथा विश्वामित्र और वसिष्ठ-सदृश तत्कालीन विशिष्ट प्रबुद्ध मनीषियों के सहयोग से लड़ा था, जिसमें इन्द्र का अनुग्रह भी उन्हें प्राप्त हुआ था। ये आततायी जातियाँ, भारतीय भूभाग, यज्ञ-संस्था तथा वैदिक धर्म की विरोधी थीं। भारत का उत्तरी पश्चिमी सीमान्त द्वार सदैव ही अरक्षित रहा है और उसी द्वार से अधिकांश आक्रमणकारी प्रविष्ट हुए थे। सुदास ने भी राष्ट्र-रक्षा के लिए राजधर्म का पालन करते हुए दाशराज्ञ युद्ध में अपने समय में भारतीय सीमाओं का उल्लंघन करने वाले उन आततायियों का पराक्रम से दमन किया था, जिनके साथ कुछ लोभी भारतीय राजा भी मिल गये थे।

---

27. *Ṛgveda, Maṇḍala* VII, Introduction
28. The *Dāśarājñā* : CASS Studies, No. 1 University of Poona.

उद्भटविरचित भामहविवरण तथा काव्यदोषविवेचन

डॉ० (श्रीमती) प्रीति सिनहा

संस्कृतकाव्यशास्त्रपरम्परा में **काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह** के रचयिता तथा जयापीड के सभापण्डित आचार्य उद्भट का योगदान मूलतः एक अलङ्कारवादी आचार्य के रूप में जाना जाता है। उन्होंने अपने ही आश्रयदाता के मन्त्री, **काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति** के प्रणेता तथा समसामयिक आचार्य वामन की **"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयचारुत्वहेतवस्त्वलङ्काराः**[1] की मान्यता को **'गड्डलिकाप्रवाह'** कहकर काव्य में अलङ्कारों की नित्यता की पुष्टि की थी,[2] तथा विभिन्न अलङ्कारों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए **'कुमारसम्भव'** नामक एक शास्त्रकाव्य की भी रचना की थी। शिव पार्वती के कथानक का प्रतिपादन करते हुए भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य था– अलङ्कारों के उदाहरणों को प्रस्तुत करना। वस्तुतः काव्यशास्त्रपरम्परा में आचार्य उद्भट का योगदान केवल लक्षणकार के रूप में ही नहीं है, अपितु टीकाकार के रूप में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने **काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह** नामक केवल एक काव्यशास्त्रीय लक्षण ग्रन्थ की ही रचना नहीं की है अपितु **नाट्यशास्त्र** की एक टीका की भी सम्भवतः रचना की है। नाट्यशास्त्र की **अभिनवभारती** टीका में विभिन्न नाट्यशास्त्रीय विषयों पर उपलब्ध उनके मतों से ऐसा सङ्केत प्राप्त होता है कि उन्होंने **नाट्यशास्त्र** की व्याख्या अवश्य की होगी। भरतमुनिविरचित नाट्यशास्त्र की **अभिनवभारती** टीका में समवकार नामक रूपक के परिभाषागत पाठ,[3] वृत्तिभेद,[4] सन्ध्याङ्गयोजना,[5] कोहल द्वारा मान्य एकादश नाट्यांगो के क्रम-परिवर्तन,[6] हस्तप्रचार की संख्या और उनके नाम[7]

---

1. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति 3.1.1, 2
2. समवायवृत्या शौर्य्यादयः संयोगवृत्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः, ओजःप्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः। काव्यप्रकाश 8.67 वृत्ति, पृ० 470
3. ....समवकारे सम्यक्प्रयोज्यानीति। नैव प्रयोज्यानीत्युद्भटः पठति।
   नाट्यशास्त्र 18.76 भाग 2, पृ० 325
4. तस्माच्चेष्टात्मिका न्यायवृत्तिरन्यायवृत्तिर्वाग्रूपा तत्फलभूता फलसंवित्तिरिति वृत्तित्रयमेव युक्तमिति भट्टोद्भटः मन्यते। वही 18.111 भाग-2, पृ० 333
5. तेन यदुद्भटप्रभृतयोऽङ्गानां सन्धौ क्रमे च नियममाहुस्तद्युक्त्यागमविरुद्धमेव।
   वही 19.69 भाग 3, पृ० 36
6. निर्देशे चैतत्क्रमव्यत्यासनादित्यौद्भटाः। नैतदिति भट्टलोल्लटाः।
   वही 6.10 भाग 1, पृ० 264
7. उत्तानोऽधस्तलस्त्र्यश्रोऽग्रगोऽधोमुख एव च। पञ्चप्रकाश हस्तस्येति भट्टोद्भटः पठति।
   वही 9.182, 183 भाग–2, पृ० 51

आदि अनेक विषयों के सन्दर्भ में उपलब्ध उद्भट के मत उनके द्वारा नाट्यशास्त्र की टीका की रचना किये जाने की पुष्टि करते हैं। ऐसा ही कुछ सङ्केत धनञ्जयविरचित **दशरूपक** से भी प्राप्त होता है जहाँ उद्भट के वृत्तिसम्बन्धी मतों को **"पठन्तः पञ्चमी वृत्तिमौद्भटाः प्रतिजानते**[8] शब्दावली द्वारा प्रस्तुत किया गया है। शाङ्र्गदेव ने तो **सङ्गीतरत्नाकर** में उन्हें नाट्यशास्त्र का व्याख्याकार स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया है–

व्याख्याकारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः।।[9]

टीका की इस शृङ्खला में उनके द्वारा रचित काव्यशास्त्रविषयक एक टीका उपलब्ध भी होती है। इसका शीर्षक है– **भामहविवरण**। यह भामहविरचित काव्याङ्लकार की एकमात्र उपलब्ध टीका है। इस टीका का केवल एक संस्करण प्राप्त होता है, जो रोम की ISMEO[10] संस्था से 1962 ई० में प्रो० आर० नेवली (R. Gnoli) द्वारा रोमन लिपि में प्रकाशित है। उक्त ग्रन्थ का देवनागरी लिप्यन्तरण सन् 1994 में डॉ० रमण कुमार शर्मा द्वारा विरचित आचार्य भामहकृत **काव्यालङ्कार** के परिशिष्ट सङ्ख्या पाँच के रूप में पृष्ठ 198 से 239 तक प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त **काव्यालङ्कार** की **'उद्यानवृत्ति'** नाम्नी एक अन्य संस्कृत टीका भी है जिसके टीकाकार तिरुवदि के प्रो० डी०टी० ताताचार्य है। सन् 1934 में प्रो० ताताचार्य ने अपनी टीका सहित यह संस्करण प्रस्तुत किया था किन्तु प्राचीनता तथा आचार्य उद्भट के अलङ्कार सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने की दृष्टि से भामहकृत काव्यालङ्कार की **भामहविवरण** नाम्नी टीका का महत्त्व विशेष है। एक ओर जहाँ यह उद्भट के भामहविरचित **काव्यालङ्कार** के टीकाकार होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है, वहीं दूसरी ओर काव्यशास्त्रीय परम्परा में उद्भट के काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यदोष, शब्दशुद्धि आदि काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की मान्यता को भी उपस्थित करती है। इस दृष्टि से काव्यशास्त्रीय परम्परा के विकासक्रम की अविच्छिन्नता में इस टीका का विशेष योगदान है। यह बात दूसरी है कि **भामहविवरण** का उपलब्ध रूप इतना जीर्ण-शीर्ण तथा खण्डित है कि इससे भामह की काव्यालङ्कारगत सभी कारिकाओं की व्याख्या का पूर्ण तथा पर्याप्त ज्ञान नहीं हो पाता है। हाँ, प्रयुक्त शब्दों तथा पारिभाषिक तथ्यों के आधार पर उद्भट के सिद्धान्तों का थोड़ा-बहुत अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है।

भामहविवरण नामक यह टीका कणिकाओं (Fragments) में उपलब्ध होती है। यह कणिकायें (Fragments) 'क' तथा 'ख' उपभागों में विभक्त है, जिनमें प्रायः आठ-आठ पंक्तियों में कारिकाओं की गद्यात्मक व्याख्या की गयी है। उपलब्ध कणिकाओं की कुल संख्या 103 है। ऐसा प्रतीत होता है कि **काव्यालङ्कार** की यह टीका अत्यन्त विस्तृत होगी, क्योंकि इन कणिकाओं की उपलब्ध संख्या तो क्रमबद्ध है किन्तु इनमें बीच-बीच में कभी तीन-चार तो कभी अट्ठारह-बीस कारिकाओं का तनिक भी व्याख्यान भाग उपलब्ध नही होता है।

---

8. दाशरूपक 2.61
9. सङ्गीतरत्नाकर 1.1.19
10. Istituto Italiano Per il Medio Ed Estremo Oriente

भामहविवरण नाम्नी इस टीका के शीर्षक से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह टीका भामह के प्रतिपाद्य तथा सिद्धान्तों का अनुसरण करती है। विषय के विशद प्रतिपादन की दृष्टि से इस टीका में भामह से उद्भट तक काव्यशास्त्रीय परम्परा के प्रायः 225 वर्षों के विकास-क्रम पर भी प्रकाश पड़ता है जो उद्भट की सारस्वत साधना तथा विश्लेषणात्मक बुद्धि का परिचायक है। उद्भट ने विषय के स्पष्टीकरण के लिए अनेक स्थानों पर बौद्धनैयायिक आचार्य वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, काव्यशास्त्रीय आचार्य दण्डी, दार्शनिक वैयाकरण भर्तृहरि तथा वाल्मीकि, कालिदास, भारवि , हर्ष आदि साहित्यकारों को उद्धृत किया है।

भामहविवरणगत काव्यदोषविवेचन के सन्दर्भ में पृष्ठभूमि के लिए जहाँ एक ओर भामहकृत **काव्यालङ्कार** के प्रतिपाद्य का सङ्क्षिप्त रूप से ज्ञान प्राप्त कर लेना अवश्यक है, वहीं उनकी काव्यदोषविषयक मान्यताओं पर भी विचार कर लेना चाहिये। छः परिच्छेदों में विभक्त **काव्यालङ्कार** में काव्यशरीर (काव्यप्रयोजन, काव्यस्वरूप, काव्यभेद), अलंकार, न्यायनिर्णय तथा शब्दशुद्धि नामक विषयों का ही नहीं, काव्यदोषों का भी विवेचन किया गया है।[11] सम्पूर्ण ग्रन्थ चार सौ कारिकाओं में निबद्ध है। इनमें से 50 कारिकाओं में भामह ने दोषों का विवेचन किया है। सूक्ष्म रूप से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भामह की काव्यदोषविषयक कारिकाओं की संख्या 50 नहीं अपितु प्रायः 110 रही होगी। उन्होंने न्यायनिर्णय से सम्बद्ध पञ्चम परिच्छेद में 60 कारिकाओं में जिन प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्तगत दोषों का प्रतिपादन किया है वे वस्तुतः चतुर्थ परिच्छेद के प्रारम्भ में परिगणित दोष-प्रकरण ही हैं। पञ्चम परिच्छेद में मुख्य रूप से इन्हीं न्यायगत दोषों का विस्तृत निरूपण हुआ है। **काव्यालङ्कार** में परिभाषा की दृष्टि से काव्यदोष का लक्षण उपलब्ध नहीं होता है, अपितु उन्होंने यह अवश्य शब्दोपात्त किया है कि काव्य में सत्कवि इसका प्रयोग नहीं करते हैं– **कवयो न प्रयुञ्जते**।[12]

काव्यसमीक्षा की दृष्टि से दोषों की हेयता, उनकी नित्यता-अनित्यता तथा उनके भेदों का निरूपण भामहकृत **काव्यालङ्कार** के प्रथम, चतुर्थ और पञ्चम परिच्छेदों में हुआ है। भामह ने दोष का प्रतिपादन न तो गुणों के सन्दर्भ में किया है और न ही रस के सन्दर्भ में, अपितु उनके अनुसार सत्काव्यनिषेवणजनितप्रीति तथा चारुत्व के लिए दोष त्याज्य है और वाणी की शब्दार्थगतवक्रता उपादेय है। सम्पूर्ण साहित्य को स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति नामक दो विधाओं में विभक्त करके भी भामह ने भणितिवैचित्र्यरूपा वक्रोक्ति को ही काव्य का प्राणतत्त्व तथा अर्थ की विभावयित्री माना है।[13] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भामह की दृष्टि में वक्रोक्ति में हीनता का काव्यदोष ही मूल है। इसी से कवि की अभिव्यक्ति में शिथिलता आती है जो किसी न किसी दोष को जन्म देती है।

---

11. षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलङ्कृतिः। पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः।।
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम्। उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वः।।
काव्यालङ्कार (भामह) 6.65, 66

12. वही 1.37

13. (क) युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते। वही 1.30
(ख) सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।। वही 2.85

भामह ने दोषों को यद्यपि पद, वाक्य, वाक्यार्थ आदि भेदों के रूप में वर्गीकृत नहीं किया है तथापि उनके काव्यदोष-विवेचन को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इनमें प्रथम परिच्छेद की 59 कारिकाओं में से 17 कारिकाओं में (37 से 53 कारिकाओं तक) दश दोषों का विवेचन किया गया है, जिनमें प्रथम वर्ग के अन्तर्गत छः सामान्य दोषों तथा द्वितीय वर्ग के चार वाग्दोषों का परिगणन है। सामान्य दोषों के नाम है— नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् और गूढ़शब्दाभिधान[14] तथा वाग्दोषों के नाम हैं— श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट तथा श्रुतिकष्ट।[15] उनके द्वारा प्रतिपादित ये दोष प्रकारान्तर से शब्द, अर्थ, अश्लील तथा पददोष कहे जा सकते हैं।

तदनन्तर चतुर्थ परिच्छेद में भामह ने एकादश दोषों का निरूपण किया है जो इस प्रकार है— अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देशकालकलालोक-न्यायागमविरोधी और प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीन।[16] ये सब दोष अर्थ, शब्द, छन्द, व्याकरण, विरोध तथा न्यायगत विविध विषयों पर आश्रित है। विविधता की दृष्टि से इन दोषों की गणना तृतीय वर्ग के अन्तर्गत की जा सकती है। भामह ने उपर्युक्त वर्गगत ग्यारह दोषों में से प्रथम दस दोषों का विवेचन चतुर्थ परिच्छेद में किया है, किन्तु प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्तहीन नामक न्यायदोषों की विस्तृत तथा भेदप्रभेदगत चर्चा पञ्चमपरिच्छेद में की है[17] जो **न्यायनिर्णय** नाम से प्रसिद्ध है। इसी परिच्छेद की बासठवीं कारिका में भामह ने चतुर्थ वर्ग के रूप में अपक्व दोषों का भी सङ्केत किया है जिसके अन्तर्गत अहृद्य, असुनिर्भेद (अर्थकाठिन्ययुक्त) तथा रसयुक्त होने पर भी अरमणीय दोष आते हैं। उनके अनुसार ऐसा काव्य अपक्व कपित्थ के समान होता है अर्थात् आस्वादरहित होने के साथ-साथ उद्वेगजनक भी होता है।[18] इसी परिच्छेद की सढसठवीं कारिका में भामह ने पञ्चम वर्ग के रूप में विस्तारदोषों का भी निरूपण किया है। इसके अन्तर्गत विरुद्धपद, अस्वर्थ, बहुपूरण तथा आकुल नामक चार दोषों की चर्चा की गयी है।[19] इस प्रकार भामह ने मुख्यरूप से अट्ठाइस दोषों का निरूपण किया है।

प्रकीर्ण रूप से कई अन्य दोषों का भी सङ्केत भामहकृत **काव्यालङ्कार** में प्राप्त होता है, जैसे— प्रथम परिच्छेद में महाकाय के लक्षण तथा गौडी और वैदर्भी रीतियों के प्रसगों में भामह के द्वारा ग्राम्यदोष के प्रति परम्परया सावधान किया गया है[20] तो द्वितीय परिच्छेद में अलङ्कारदोषों के रूप में उनके द्वारा उपमाविषयक सात दोषों का भी उल्लेख किया गया है। अपनी इस मान्यता

---

14. नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थमवाचकमयुक्तिमत्। गूढ़शब्दाभिधानञ्च कवयो न प्रयुञ्जते।। वही 1.37
15. श्रुतिदुष्टार्थदुष्टे च कल्पनादुष्टमित्यापि। श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम्। वही 1.47
16. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्। शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च।।
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च। प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दृष्टञ्च नेष्यते।। वही 4.1, 2
17. अथ प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टञ्च वर्ण्यते। समासेन यथान्यायं तन्मात्रार्थप्रतीयते।। वही 5.1
18. अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम्। काव्यं कपित्थमामञ्च केषाञ्चित्सदृशं यथा।। वही 5.62
19. विरुद्धपदमस्वर्थबहुपूरणमाकुलम्। कुर्वन्ति काव्यमपरे व्यायताभीप्सया यथा। वही 5.67
20. (क) सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत्। अग्राम्यशमर्थ्यञ्च सालङ्कार सदाश्रयम्।। वही 1.19
(ख) अलङ्कारवदग्राम्यर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्। गौडीयमपि साधीयो वैदर्भमिति नान्यथा।। वही 1.35

में भामह ने आचार्य मेधावी को उदधृत किया है तथा उन्हें प्रमाण माना है।[21] इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ के छः परिच्छेदों में से तीन परिच्छेदों में किये गये काव्यदोष-विवेचन से यह सिद्ध होता है कि भामह ने काव्य में दोष को सर्वथा निन्दनीय तथा परिहार्य माना है। उनके द्वारा ऐसे एक भी पद का प्रयोग काव्य में नहीं किया जाना चाहिये जो दोषपूर्ण हो। दोषयुक्त काव्य के द्वारा कवि कुपुत्रवान् के समान निन्दित होता है।[22] कवि के लिए यह अपयश दुःखदायी है। उनके अनुसार अकवित्व से अधर्म, व्याधि अथवा दण्डरूप कष्ट नहीं होता है परन्तु कुकवित्व तो विद्वानों के मत में साक्षात् मरणरूप ही है।[23]

दोनों ही नित्यानित्य व्यवस्था पर भामह का कथन है कि परिस्थिति विशेष में दोष भी गुण बन जाता है। इसकी दो परिस्थितियाँ है– एक है सन्निवेशविशेष तथा दूसरी है– आश्रयसौन्दर्य। सन्निवेश की विशेषता के कारण दुष्ट पद भी निबद्ध होकर श्वेत पुष्प की मालाओं के मध्य में निबद्ध नीलपलाश के समान सुशोभित होता है[24], जैसे–

आपाण्डुगण्डमेतत्ते वदनं वनजेक्षणे।
सङ्गमात्पाण्डुशब्दस्य गण्डः साधु यथोदितः।[25]

उपर्युक्त पद्यांश में वियोगश्रृङ्गार तथा तदनुकूल माधुर्यगुण की दृष्टि से यद्यपि एक ओर जहाँ 'ट' वर्ग का प्रयोग दोषपूर्ण है तथा 'गण्ड' जैसे द्वयर्थक शब्द का प्रयोग भी दोषपूर्ण है जिसका सामान्य अर्थ है– मुख का समस्त पार्श्व तथा जुगुप्सित अर्थ है– मलद्वार, रसौली तथा पद्यांश के पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त 'पाण्डु' शब्द के सान्निध्य में स्थित होने के कारण 'गण्ड' शब्द निर्दोष हो गया है। यहाँ 'आपाण्डु' शब्द के सहप्रयोग के कारण ही यह 'गण्ड' शब्द नायिका की विरह-वेदनागत पीतिमा, दुर्बलता तथा विवर्णता को अभिव्यक्त करने में समर्थ है और कवि की भणितिवैचित्र्यरूपा वक्रोक्ति के रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रकार भामह के अनुसार आश्रय के सौन्दर्य के कारण कोई असाधु (पद) भी उसी प्रकार शोभा को धारण करने लगता है जैसे कान्ता के नेत्रों में न्यस्त काला अञ्जन।[26] जैसे– यथा **विक्लिन्नगण्डानां करिणां मदवारिभिः**।[27] इस पद्यांश में प्रयुक्त 'विक्लिन्न' (सामान्य अर्थ-आर्द्र तथा जुगुप्सित अर्थ-रक्तरञ्जित) तथा 'गण्ड' नामक दोनों ही शब्द काव्य में प्रयोग की दृष्टि से असाधु है तथापि आश्रयभूत हाथियों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होकर 'विक्लिन्न' और 'गण्ड' पद सर्वथा प्रयोज्य हो गये हैं।

---

21. हीनताऽसम्भवोलिङ्गवचोभेदो विपर्ययः। उपमानाधिकत्वञ्च तेनासदृशतापि च।।
त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः। सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक्।।
वही 2.39, 40
22. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसतेनेव निन्द्यते।।
वही, 1.11
23. नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय च। कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः।। वही 1.12
24. सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते। नीलं पलाशमाबद्धमन्तमाले स्रजामिव।। वही, 1.54
25. वही 1.56
26. किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि। कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्।। वही 1.55
27. वही 1.56

टीकाकार के रूप में उद्भट ने **काव्यालङ्कर** की **भामहविवरण** नाम्नी टीका में भामह के काव्यदोषों की विस्तृत व्याख्या की है। भामह के मत का समर्थन करते हुए उद्भट ने भी काव्य-रचना को एक पवित्र कर्म माना है तथा उसे सर्वथा दोषरहित बनाने का सङ्केत किया है। भामह की अकवित्व तथा कुकवित्व सम्बन्धी कारिका[28] की व्याख्या करते हुये उद्भट का कथन है कि **काव्यनिबन्धन एवादरः कर्तव्यः।**[29] कुकवित्व से तो कवि नष्ट ही हो जाता है– **तेन च कविर्म्रियते सर्वेषामुत्पद्यन्तरमेव।**[30] भामह की भाँति उद्भट की दृष्टि में भी अन्तरङ्ग या बहिरङ्ग दोषों से युक्त पदों का प्रयोग काव्य की शोभा को नष्ट कर देता है। ऐसे काव्य से कवि कुपुत्रवान् के समान निन्दा का पात्र होता है–

तेनाशोभनं काव्यं............... ।[31]
दुस्सुतेनेव कुपुत्रेव निन्द्यते ।[32]

भामह के अनुसार सम्पूर्ण वाङ्मय वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति नामक दो विधाओं में विभक्त है।[33] इनमें से स्वभावोक्ति तो वाङ्मय की वह विधा है जो अलङ्कारशून्य होकर भी चमत्कार से युक्त होती है, जबकि वक्रोक्ति समस्त अलङ्कार वर्ग में अलं अर्थात् पर्याप्तता का आधान करने वाला प्राणतत्त्व है।[34] भामह ने विवेचन के अनन्तर ही नेयार्थ आदि दश दोषों का विवेचन किया है। भामह के विषयगत तारतम्य से यह प्रतीत होता है कि इन नेयार्थादि दोषों का सन्दर्भ कहीं न कहीं काव्यार्थ के व्याघात से जुड़ा हुआ है। इन दोषों के कारण या तो अभीप्सित अर्थ की प्रतीति नहीं हो पाती है अथवा विलम्ब से होती है। उपलब्ध **भामहविवरण** में नेयार्थ नामक सामान्य दोष की व्याख्या का तनिक भी अंश नहीं प्राप्त होता है, किन्तु क्लिष्ट तथा अन्यार्थदोषों की व्याख्या पर किञ्चित् प्रकाश पड़ता है। भामहविवरण में कणिका 15 (क) में क्लिष्टदोष की व्याख्या में प्रयुक्त **सम्बन्धिसन्निधाने {...........} हरणं प्रतिलोम्य** तथा **सम्बन्धो दूरस्थस्यापि**[35] शब्दावली क्लिष्टदोष के स्वरूप को स्पष्ट करती है। उपर्युक्त अंशों से ऐसा प्रतीत होता है कि उद्भट के अनुसार इस दोष के दो रूप हैं, प्रथम है– सम्बन्धों अर्थात् पदों के अव्यवहित रूप से स्थित होने पर भी अर्थावगम में व्यवधान हो रहा हो तथा द्वितीय रूप है– वाक्य में दो पदों के व्यवहित रूप से स्थित होने पर अर्थावगम में व्यवधान हो रहा हो किन्तु किसी पद की सहायता से अर्थ की प्राप्ति हो रही हो। क्लिष्ट दोषगत इन दोनों भेदों के उदाहरण **भामहविवरण** में प्राप्त नहीं होते हैं, किन्तु भामह से प्रभावित होने के कारण उनके द्वारा प्रदत्त उदाहरण **विजह्वस्तस्य ताः शोकम्**[36] को उद्भट का भी व्यवहित

---

28. वही, 1.12
29. भामहविवरण कणिका 10(ख) अष्टम पङ्क्ति, पृ० 201
30. वही, षष्ठ पङ्क्ति
31. वही, द्वितीय पङ्क्ति, पृ० 200
32. वही, चतुर्थ पङ्क्ति
33. काव्यालङ्कार (भामह) 1.30
34. वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः। वही, 1.36
35. भामहविवरण कणिका 15(क), षष्ठ-अष्टम पङ्क्तियाँ, पृ० 203
36. काव्यालङ्कार (भामह), 1.40

पदों वाले क्लिष्ट दोष का उदाहरण माना जा सकता है। यहाँ **'विजहुः'** शब्द यद्यपि **'हरण किया'** अर्थ में प्रयुक्त है तथापि हृ धातु वि उपसर्ग के साथ प्रयुक्त होने के कारण सर्वप्रथम **'विहार करना'** ही अर्थ देता है। इस प्रकार **'विजहुः'** शब्द के प्रयोग के कारण यहाँ हरण रूप अभीष्ट अर्थ बाधित हो जाता है। अर्थावगम में 'वि' उपसर्ग के कारण पहले इसका परित्याग करना पड़ता है किन्तु वाक्य में स्थित **'शोक'** शब्द प्रसङ्गोपात्त अर्थ की प्रतीति में सहायक होता है। यहाँ **'विजहुः'** तथा **'शोकम्'** पदों के बीच में **'तस्य'** तथा **'ताः'** पदों के होने के कारण **'विजहुः'** तथा 'शोक' शब्द व्यवहित रूप से प्रयुक्त है और उसी की सहायता से **'विजहुः'** शब्द 'हरण किया' का वाचक है, सहजतया नहीं। अतः यहाँ अर्थावगम में व्यवधानमूलक क्लिष्टदोष है। इसी प्रकार इसी कारिका के चतुर्थ पाद में अन्यार्थ दोष का उदाहरण दिया गया है– **क्रीडायां विकृतं च तत्**। भामह के अनुसार अन्यार्थदोष वहाँ होता है जहाँ अभीष्ट अर्थ का अभाव हो। उपर्युक्त उदाहरण में कवि का अभिप्रेत अर्थ है कि और "उसके शोक के हरण रूप कार्य को उन्होंने क्रीडापूर्वक कर डाला" किन्तु यहाँ वाक्य में प्रयुक्त **'विकृत'** पद से सर्वथा विपरीत अर्थ की प्रतीति हो रही है अर्थात् यहाँ विकृत पद से **'विरूपित'** अर्थ का बोध हो रहा है तथा वाक्य में ऐसा कोई पद भी नहीं है जो 'विकृत' शब्द से 'कृत' अर्थ का अनुमान करा सके। वस्तुतः इस उदाहरण में **'विकृत'** के स्थान पर **'कृत'** शब्द का प्रयोग होना चाहिये था। इस प्रकार अभीष्ट अर्थ की प्रतीति का अभाव होने के कारण यहाँ अन्यार्थ दोष है। **भामहविवरण** में अन्यार्थदोष की व्याख्या में उद्भट भी भामह के मत का अनुसरण करते हुये प्रतीत होते है। अर्थ-विशेष के सन्दर्भ में शब्दों की साधुता तथा असाधुता की महत्ता का प्रतिपादन करते हुये **भामहविवरण** में उद्भट द्वारा वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड की निम्नलिखित कारिका प्रमाण रूप में, उद्धृत की गयी है– **अस्यगोण्यादयश्शब्दाः साधवो विषयान्तरे........इता।**[37] इस कारिका के आशय को स्पष्ट करते हुये वाक्यपदीय के टीकाकार हरिवृषभ का कथन है कि शब्द का साधुत्व सर्वत्र प्रवृत्ति-निमित्त पर निर्भर है अर्थात् जिस शब्द से जो अर्थ प्रतीत होते हैं वह शब्द उन-उन अर्थों में साधु है[38]। जैसे अश्व, गो आदि शब्द साधु है परन्तु प्रयुक्त होने वाले अस्व, गोणी आदि शब्दों को भी असाधु नहीं कहा जा सकता है। किसी अन्य अर्थ के वाचक के रूप में यही शब्द साधु भी हो सकते हैं जैसे 'दरिद्रता' के अर्थ में 'अस्व' शब्द का साधुत्व है, किन्तु 'अश्व' के अर्थ में नहीं, इसी प्रकार 'टाट' (बोरा) के अर्थ में 'गोणी' शब्द का साधुत्व है, किन्तु 'अश्व' के अर्थ में नहीं, इसी प्रकार 'टाट' (बोरा) के अर्थ में 'गोणी' शब्द का साधुत्व है, किन्तु 'गौ' के अर्थ में नहीं। इस प्रकार अस्व, गोणी आदि शब्दों का प्रयोग क्रमशः अश्व, गौ आदि अर्थों में अन्यार्थदोषगत है। भामहविवरण में सोलहवीं कणिका के 'क' भाग की पञ्चम पंक्ति में प्रयुक्त सौ **पुनश्शब्दार्थसम्बन्धप्रवृत्ताव्..... .....शब्दराशि** इसी भाव की पुष्टि करती है।[39]

---

37. (क) भामहविवरण कणिका 16(क), तृतीय पङ्क्ति, पृ० 203
(ख) अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम्।। वाक्यपदीय 1.148

38. आवपने गोणीति स्वविप्रयोगाभिधाने चास्व इत्येतयोरवस्थितं साधुत्वम्। तथा सास्नादिमति हवेषितादिलिङ्गे च निमित्तान्तरात् प्रवृत्तावेतयोरन्यत्र विषये लब्धसंस्कारयोः साधुत्वमेव विज्ञायते। गोणीवेयं गौर्गोणीति बहुक्षीरधारणादिविषयादावपनत्वसामान्यादमिधीयते। तथाऽविद्यमानं स्वमस्य सोऽयमस्व इति। तस्माद् वस्त्वपरिगृहीतकारणं न किञ्चिन्नियतमस्ति, यत्र साधुत्वमसाधुत्वं वा व्यवतिष्ठेत।।
वही, 1.148 (हरिवृषभटीका), पृ० 230

39. भामहविवरण कणिका 16(क), पञ्चमपङ्क्ति, पृ० 203

भामहविवरण के उपलब्ध अंश में अवाचक दोष से भी सम्बद्ध सम्पूर्ण व्याख्या नहीं प्राप्त होती हैं। इस दोष के प्राप्त अंशों से उद्भट के आशय का कुछ सङ्केत अवश्य प्राप्त हो जाता है। उनके अनुसार भी अचावक दोष उसे कहा जाता है जहाँ शब्द किसी अर्थ विशेष में 'साक्षात्' प्रसिद्ध नहीं होता है और इस कारण अभीप्सित अर्थ का ज्ञान तुरन्त नहीं हो पाता है। जैसे **'हिमामहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमे'**[40] उदाहरण में अवाचक दोष है। यहाँ **'हिमम् अपहन्ति इति (अग्निः), तस्य अमित्रम् (जलम्), तद्धरति इति (जलधरो) मेघः'**– इस प्रकार यह शब्द प्रयत्नसाध्य रूप में 'मेघ' अर्थ का वाचक होता है। 'मेघ' अर्थ में यह शब्द साक्षात् प्रसिद्ध नहीं है। अतः भामह के अनुसार मेघ के लिए प्रयुक्त उपर्युक्त पद में अवाचक दोष है। **भामहविवरण** की अवाचक दोषविषयक कणिका 16 (ख) से प्रतीत होता है कि उद्भट ने भी भामह द्वारा दिये गये उपर्युक्त उदाहरण में **'हिमापहो वह्निः तस्यामित्रस्तोय'**[41] इत्यादि पर्यायवाची शब्दों के माध्यम से समस्त पद का विग्रह करते हुये अवाचक दोष के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसी कणिका की तृतीय पङ्क्ति में उद्भट ने अवाचक दोष की समीक्षा करते हुये इसमें तथा अपार्थदोष में समानता स्वीकार की है– **'अपार्थदोषदस्याविशेष'**[42] ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में अर्थ– प्रतीति के असामर्थ्य की दृष्टि से अवाचक तथा अपार्थ दोष[43] बहुत कुछ समान है, किन्तु स्वरूप की दृष्टि से दोनों भिन्न है। **भामहविवरण** की उससे सम्बद्ध तथा उपलब्ध व्याख्या के अंशों के आधार पर उद्भट अवाचक दोष को प्रहेलिका की श्रेणी में रखते हुये प्रतीत होते हैं। उनका कथन है कि काव्य में प्रहेलिकाजनित चमत्कार वाला प्रयोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि प्रयत्नसाध्य होने के कारण इससे काव्यगतसहज आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता है। अत एव **'न प्रहेलिकाशावश्यप्रयोगो न विहन्य'**[44]।

उद्भट के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी ने अवाचक दोष का तो कहीं उल्लेख नहीं किया है, किन्तु विचित्र वाग्व्यवहार के सन्दर्भ में पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य सोलह प्रकार की प्रहेलिकाओं की चर्चा उन्होंने अवश्य की है।[45] इनमें दण्डी द्वारा निरूपित समानशब्दा प्रहेलिका वह है जो प्रयुक्त शब्दों में पर्यायकृत योजनाविशेष द्वारा प्रहेलिका बन जाती है।[46] भामह तथा इनके व्याख्याकार उद्भट द्वारा

---

40. काव्यालङ्कार (भामह) 1.41
41. भामहविवरण कणिका 16(ख), द्वितीय पङ्क्ति, पृ० 204
42. वही, तृतीय पङ्क्ति
43. नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेतः संमोहकारिणम्।
    X X X
    ग्राम्यं न पिण्डीशूरादिं न डित्थादिमपार्थकम्।। काव्यालङ्कार (भामह) 6.24, 25
44. भामहविवरण, कणिका 16(ख), चतुर्थ पङ्क्ति, पृ० 204
45. क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
    परव्यामोहने वाचि सोपयोगाः प्रहेलिकाः।।
    X X X
    एताः षोडशनिर्दिष्टाः पूर्वाचार्यैः प्रहेलिकाः।
    दुष्टप्रहेलिकाश्चान्यास्तैरधीताश्चतुर्दशः।। काव्यादर्श 3.97-106
46. समानशब्दोपन्यस्तशब्दपर्यायसाधिता। वही, 3.103

मेघ के लिए उद्धृत **'हिमापहामित्रधर'** शब्द में इसी प्रकार की योजना दिखायी पड़ रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि अवाचक दोष को प्रहेलिका के अन्तर्गत रखने में उद्भट अपने पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी से प्रभावित है। भोजराज ने इस दोष को क्लिष्ट नामक पददोष कहा है। उनके अनुसार इसमें शब्द अपने अर्थ से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध नहीं रहता है और व्यवहितार्थ प्रतीतिविषयक होता है।[47] अत्यधिक खण्डित अवस्था में होने के कारण भामहविवरण में **काव्यालङ्कार**गत अयुक्तिमत्[48] तथा गुढ़शब्दाभिधान[49] नामक दो सामान्य दोषों का व्याख्या अंश उपलब्ध नहीं होता है। इस प्रकार भामहविवरण में **काव्यालङ्कार** के प्रथम परिच्छेद में निरूपित सामान्य दोषों में से प्रथम चार की ही व्याख्यायें प्राप्त होती हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि उद्भट ने व्याख्या में भामह से प्रभावित होने पर भी यत्र-तत्र मौलिक विचार प्रस्तुत किया है तो कहीं समन्वयवादी दृष्टि को भी अपनाया है। इसी प्रकार काव्यालङ्कार के प्रथम परिच्छेद में वर्णित श्रुतिदुष्ट,[50] अर्थदुष्ट,[51] कल्पनादुष्ट[52] तथा श्रुतिकष्ट[53] चार वाग्दोषों की भी व्याख्यागत कणिकायें **भामहविवरण** के उपलब्ध अंशों में नहीं प्राप्त होती है, किन्तु उद्भट की व्याख्या– परम्परा तथा **काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह** में वर्णित अलङ्कार भेदों से यह प्रतीत होता है कि उपर्युक्त चारों वाग्दोष उनके द्वारा भी काव्य के लिए हेय तथा चारुत्व में बाधक समझे जाते रहे होंगे।

भामह के **काव्यालङ्कार** में काव्यदोषनिरूपण की दृष्टि से प्रथम परिच्छेद के पश्चात् चतुर्थ परिच्छेद की प्रथम तथा द्वितीय कारिकाओं में अपार्थ, व्यर्थ , एकार्थ, ससंशय आदि एकादश काव्यदोषों का परिगणन किया गया है।[53] विविधता की दृष्टि से इन दोषों की सूक्ष्म सङ्ख्या अष्टादश है। इनमें कारिका में अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, संशय नामक अर्थगत, अपक्रम नामक शब्दगत यतिभ्रष्ट और भिन्नवृत्त नामक छन्द में प्राप्त होने वाले शब्दहीन तथा विसन्धि नामक व्याकरणगत कुल नौ दोषों की गणना की गयी है। दूसरी कारिका के पूर्वार्द्ध में देशविरोधी, कालविरोधी, कलाविरोधी, लोकविरोधी, न्यायविरोधी तथा आगमविरोधी दोषों के रूप में छः विरोधगत दोषों का नामोल्लेख किया गया है तथा उत्तरार्द्ध में प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन तथा दृष्टान्हीन नामक तीन न्यायगत दोषों की गणना की गयी है। विक्षिप्त तथा उन्मत्त व्यक्ति के असम्बद्ध प्रलाप का नाम अपार्थ है।[54] उसके वाक्य से किसी वाक्य की सृष्टि सम्भव नहीं होती है। व्यर्थ का अर्थ है– विरुद्धार्थ[55] अर्थात् ऐसा वाक्य जिसमें एक भाग दूसरे भाग का खण्डन करता है, इसे पूर्वापर व्याघात भी कहते हैं।[56]

---

47. व्यवहितार्थप्रत्ययं क्लिष्टम्।। शृङ्गारप्रकाश, नवम प्रकाश, पृ० 334
48. काव्यालङ्कार (भामह) 1.42
49. वही, 1.45, 46
50. वही, 1.48, 49
51. वही, 1.50, 51
52. वही, 1.52
53. वही, 1.53
54. वही, 4.1, 2
55. वही, 4.3
56. वही, 4.9

एकार्थ का अर्थ है– आवृत्तिदोष[57] और ससंशय सन्देहयुक्त उक्ति का नाम है।[58] वस्तुओं के वर्णन में स्वाभाविक क्रम के परित्याग को अपक्रम कहते हैं।[59] शब्दहीन व्याकरणगत दोष है। इसे अपशब्द भी कहते हैं।[60] छन्द में अशुद्ध स्थान पर विराम करने का नाम यतिभ्रष्ट है।[61] ह्रस्व और दीर्घ वर्णों की अशुद्धता के कारण दूषित छन्द भिन्नवृत्त दोष कहलाता है।[62] शब्दों के संयुक्त न होने अथवा अशुद्ध ढंग से संयुक्त होने को विसन्धि कहते है।[63] लौकिक तथ्यों, विज्ञान, तर्क, कला या पारम्परिक वार्ताओं का खण्डन विरुद्ध दोष कहलाता है।[64] **भामहविवरण** टीका में इस वर्ग में परिगणित अपार्थ, व्यर्थ, ससंशय आदि दोषों की पूर्ण व्याख्या नहीं प्राप्त होती हे, उपलब्ध व्याख्या भाग में छोड़-छोड़कर कुछ ऐसे शब्द मिलते हैं जिससे निरूपित दोष के ऊपर कुछ प्रकाश पड़ता है। बयालीसवीं कणिका के 'क' भाग में प्रयुक्त **"गुणा........कृतात्मनां संस्कृतम......तत्कथादौ यदि मृ.......उदाहरणम्....."**[65] तथा 'ख' भाग में प्रयुक्त **'सविपर्यासक.....आदनुपेतं मार्ग'**[66] शब्द जहाँ एक ओर व्यर्थ अर्थात् विरुद्धार्थ नामक दोष की ओर सङ्केत करते हैं, वहीं 'गुणा" शब्द इस दोष के अनित्यत्व की घोषणा भी करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उद्भट के अनुसार विरुद्ध अर्थ वाले पदों के प्रयोग से यद्यपि 'व्यर्थ' दोष उत्पन्न होता है तथापि संस्कृत काव्यों में अनेक प्रतिभावान् कवियों द्वारा कथानक, पात्र आदि में आवश्यकता की दृष्टि से किये गये ये परिवर्तन गुण भी बन जाते हैं। **भामहविवरण** में एकार्थ की व्याख्या का कुछ सङ्केत अवश्य प्राप्त होता है।[67] ऐसा प्रतीत होता है कि उनके अनुसार एकार्थमूलक पुनरुक्त तो दोष है, क्योंकि उसमें कोई चारुत्व नहीं है किन्तु पुनरुक्ताभस एक अलङ्कार है। वह काव्य में सौन्दर्य का आधान करने वाला तत्त्व है। इसमें पुनरुक्त के समान दो भिन्न रूप पद एकार्थक से प्रतीत होते हैं।[67] अलङ्कार में पुनरुक्ति का आभास रहता है, वास्तविकता नहीं। दोनों पदों में अर्थगतभिन्नता ही इस (अलङ्कार) का प्राण होता है। **भामहविवरण** की चौव्वालीसवीं कणिका के 'क' भाग में अपक्रम दोष विषयक व्याख्या का सङ्केत मिलता है– **'अपक्रमस्य व्याख्यातुमाह'**।[68] उपदेश के अनुसार क्रम का निर्देश क्रम कहलाता है तथा विपर्यस्त होने पर अपक्रम कहलाता है।[69] भामह के अपक्रमदोष की व्याख्या करते समय उद्भट ने वर्ण्य विषय

---

57. वही
58. वही, 4.12-16
59. वही, 4.17-19
60. वही, 4.20, 21
61. वही, 4.22, 23
62. वही, 4.24, 25
63. वही, 4.26, 27
64. वही, 4.28
65. वही, 4.29-41
66. भामहविवरण कणिका 42(ख), पृ० 223
67. वही, कणिका 42(ख), पृ० 223
68. पुनरुक्तं दे (..........) यादि। इह r r (....अभिधास्यते इत्। भामहविवरण कणिका 43(क), द्वितीय-चतुर्थ पङ्क्तियाँ पृ० 223
69. पुनरुक्ताभासमभिन्नस्त्विवोद्भासि भिन्नरूपपदम्। काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह, पृ० 250

की क्रमरूपता के अन्तर्गत केवल पदगत अपक्रम को ही नहीं परिगणित किया है अपितु मास, ऋतु तथा संवत्सर के भी क्रमबद्ध वर्णन को आवश्यक बताया है– **'यथासङ्ख्यं मासं ऋतुं संवत्सर. ....रणानि.....'**[70] शब्दावली से यह प्रतीत होता है कि उद्भट की दृष्टि में अपक्रम का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। काव्य में किसी भी क्रमरूपता का अतिक्रमण या व्यतिक्रम दोष कहलायेगा भले वह मासविषयकवर्णन हो, ऋतुविषयक अथवा संवत्सरविषयक, क्योंकि हर वस्तु की अपनी कुछ विशेषता होती है जो उसको विशिष्ट बनाती है तथा दूसरे से पृथक् करती है। इस सन्दर्भ में भामह के द्वारा दिये गये शम्भु और विष्णु विशेष्य की दृष्टि से क्रमपूर्वक न रखे गये विशेषणों में अपक्रमदोष है–

विदधानौ किरीटेन्दु श्यामाभ्रहिमसच्छवी।
रथाङ्गशूले बिभ्राणौ पातं वः शम्भुशार्ङ्गिणौ।।[71]

मुकुट और चन्द्रमा को धारण करने वाले, श्याममेघ तथा हिम के समान शोभा वाले, चक्र तथा शूल का भरण करने वाले शिव और विष्णु आपकी रक्षा करें। यहाँ शम्भु तथा विष्णु ये दो विशेष्य हैं। इनमें शिव का नाम समस्त पद में पूर्व में है अतः इन्दु, हिमसत् तथा शूल नामक तद्विषयक विशेषणों का भी प्रयोग पहले होना चाहिये था जबकि उदाहरण में तीनों विष्णुगत विशेषणों को पहले रखा गया है, क्रमराहित्य के कारण यहाँ अपक्रम दोष है।

उद्भट ने भी इस उदाहरण की व्याख्या करते हुये इसमें अपक्रम दोष की पुष्टि की है–

विपूर्वस्य वा कः करणव्य X X X शब्दोत्र निपात X X X श्रय X X।
। X X X णौ दघ् X X X यः औ किरीटेदु । । पक्रमस्ये X X
हरः X X X वर्णयन्ति सु दृष्टो X X X। शिष्टक्रम X X X (प) दार्थाना
शब्दाभिधानबेला........उतवक्रमास् स् X X X स्य निवृत्तत्वे स्मरणक्रमो
वलीयानित्यन् X X X सा X X X तत्र स्मृति।[72]

इसी प्रकार पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि–मुनित्रय द्वारा प्रतिपादित नियमों का उल्लङ्घन करने वाले प्रयोग भामह के अनुसार शब्दहीनदोष के अन्तर्गत माने गये हैं[73] भले ही वह प्रयोग प्रत्ययपरक अथवा विभक्तिपरक हों। जैसे–

स्फुरत्तडिद्वलयिनो वितताम्भो गरीयसः।
तेजस्तिरयतः सौरं घनान्पश्य दिवोऽभितः।।[74]

दिन के समय चमकती हुई बिजली के वलय वाले, जल के विस्तार के कारण भारी, सूर्य के तेज को ढकने वाले मेघों को चारों ओर देखो।

---

70. भामहविवरण कणिका, 44(क), द्वितीय पङ्क्ति, पृ० 224
71. काव्यालङ्कार (भामह), 4.20
72. भामहविवरण कणिका, 44(क) तृतीय पङ्क्ति, पृ० 224
73. काव्यालङ्कार (भामह), 4.21
74. भामहविवरण, 44(क), चतुर्थ से अष्टम पङ्क्ति तक, पृ० 224

उपर्युक्त पद्य के चारों चरणों में किसी न किसी नियम का उल्लङ्घन है। 'वलयिनः' में इनि प्रत्यय अभिमत नहीं है। यहाँ वस्तुतः बहुब्रीहि समास होकर **'स्फुरित्तडिद्वलयाः'** रूप बनना चाहिये। द्वितीय चरण में 'गरीयसः' में ईयसुन् प्रत्यय असाधु है, क्योंकि यह केवल सापेक्ष स्थितियों में होता है। यहाँ पर इस प्रकार की कोई अपेक्षा विवक्षित नहीं है। अतः **'विततामभो गुरवः'** यह पाठ बनेगा। 'तिरयतः' शब्द भी व्याकरण की दृष्टि से असम्मत है। सकारान्त 'तिरस्' प्रातिपादिक का प्रयोग कर **'तिरस्कुर्वन्तः'** रूप बनना चाहिये। इसी प्रकार चतुर्थ चरण में **'अभितः समया निकषा हा प्रतियोगेऽपि'** वार्तिक के अनुसार द्वितीया विभक्ति होकर 'दिवमभितः' यह रूप बनना चाहिये था। **भामहविवरण** में शब्दहीन दोष के उपर्युक्त उदाहरण की पूर्ण व्याख्या तो नहीं उपलब्ध होती है किन्तु कणिकागत उपलब्ध अंश भामह के ही आशय का प्रकाशक प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में उद्भट का यह भी कथन है कि पुरुषों के स्वभाववश कभी-कभी साधु शब्दों में भी भाव, प्रसङ्ग अथवा अभिप्रेत अर्थ की दृष्टि से अनौचित्य दिखलायी पड़ता है। अतः प्रसङ्विशेष के परिप्रेक्ष्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिये जो प्रस्तुति में बाधक हो– **'पुरुषस्वभाववशादेषु साधुशब्देष्वप्यु.... .....तेषामप्रयोग.....'** ।[75] अपने इस कथन में उद्भट दण्डी से प्रभावित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उद्भट द्वारा प्रयुक्त **'पुरुष'** का अर्थ यहाँ दण्डी द्वारा स्वीकृत 'शिष्टजन' है। दोष के सन्दर्भ में दण्डी का कथन है कि शिष्टजन द्वारा गर्हित शब्द का प्रयोग काव्य में शब्दहीन दोष उत्पन्न करता है। दण्डी ने शब्दहीनदोष को दो प्रकार का माना है– एक व्याकरणलक्षणहीन तथा दूसरा अप्रयुक्त। उनके अनुसार जहाँ अनुशासन (व्याकरण) विरुद्ध पदप्रयोग हो, वहाँ तो शब्दहीनदोष होता ही है और जहाँ साधुत्व होने पर भी शब्दप्रयोग शिष्टजनगर्हित हो, वहाँ भी शब्दहीन दोष होता है।[76] इस प्रकार दण्डी ने अप्रयुक्तत्व अर्थात् असमर्थत्व को भी शब्दहीन माना है। साथ ही दण्डी ने यह भी स्वीकार किया है कि यदि शब्दहीनदोष शिष्टपरिग्रहीत हो तो दोष नहीं माना जाता है। इस प्रकार उद्भट की दृष्टि में भी प्रत्ययों तथा व्याकरण के समुचित सन्निवेश का अर्थप्रतीति में बहुत योगदान होता है। उनके अनुसार महाकवियों के द्वारा किये गये प्रयोगों को ग्रहण करना चाहिये, भले ही वे प्रयोग शास्त्रविरुद्ध हों। कभी-कभी इन्हीं प्रकार के प्रयोगों से अभीप्सित अर्थ की प्राप्ति होती है। इसी दोष के सन्दर्भ में **भामहविवरण** में वर्षाऋतुविषयक निम्नलिखित पद्य के द्वितीय तथा तृतीय पादों का कुछ अंश प्राप्त होता है–

णभो यद्वृत्तमस्मिन् गृहे। सौभाग्यव्ययशंक।[77]

उपर्युक्त पद्य सुभाषिरत्नभाण्डागार[78] तथा शाङ्र्गधरपद्धति[79] में भी सङ्ग्रहीत हैं–

काले नील बलाहके सतडिति प्रीतिप्रदे बर्हिणा–
माश्चर्य कथयामि वः श्रृणुत भो यद्वृत्तमस्मिन् गृहे।
सौभाग्यव्ययशङ्कयैकशयने कान्ताप्रियाभ्यामहो
मानिभ्यां बत रात्रिमेव सकलां चीर्णप्रवासिव्रतम्।।

---

75. काव्यालङ्कार (भामह), 4.22
76. वही, 4.23
77. भामहविवरणकणिका 44(ख), चतुर्थ पङ्क्ति, पृ० 224
78. शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षणपद्धतिः। पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति।। काव्यादर्श 3.148
79. भामहविवरणकणिका, 44(ख), पञ्चम पङ्क्ति, पृ० 225

इस उदाहरण में भामहविरणकार उद्भट ने शब्दहीन दोष माना है। उनके अनुसार उपर्युक्त पद्य के चतुर्थपाद की **'रात्रिमेव सकलां चीर्णप्रवासिव्रतम्'** नामक शब्दावली में कर्मवाच्य का प्रयोग व्याकरणसम्मत नहीं है। कर्मवाच्य के कर्ता की दृष्टि से यहाँ **'रात्रिरेव सकला चीर्णा प्रवासिव्रता'** होना चाहिये था।

भामहविवरण में इसके पश्चात् काव्यालङ्कार के चतुर्थ परिच्छेद की अट्ठाइस कारिकाओं में वर्णित यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देशविरोधी, कालविरोधी, कलाविरोधी, लोकविरोधी, न्यायविरोधी और आगमविरोधी दोषों का तनिक भी व्याख्या भाग उपलब्ध नहीं होता है, किन्तु **भामह-विवरण** के स्वरूप से यह अवश्य सिद्ध हो जाता है कि उद्भट भामह से अत्यधिक प्रभावित हैं तथा उनके प्रति आदरवान् हैं। टीकाकार होते हुये भी अपने मौलिक देयांशों के कारण कहीं-कहीं वह एक स्वतन्त्र काव्यशास्त्री के रूप में भी दिखलायी पड़ते हैं।

भामह ने 'न्यायनिर्णय' नामक पञ्चम परिच्छेद में शीर्षक की अन्वर्थता के अनुरूप न्यायशास्त्र पर आश्रित प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन तथा दृष्टान्तहीन नामक तीन दोषों का विवेचन किया है। इसमें भी भामह की दृष्टि मुख्यतया काव्योन्मुखी ही रही है। काव्य में अनुमान प्रमाण के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से भामह ने दो प्रकार के काव्यों का सङ्केत किया है– प्रथम– शास्त्राश्रित काव्य, द्वितीय– लोकाश्रितकाव्य। इनमें से न्यायादि को जानने वाले आचार्यों तथा साहित्यकारों के द्वारा किये गये काव्यगत प्रयोगों में इन शास्त्रों का विवेचन भिन्न प्रकार से किया जाता है[80] किन्तु लोकाश्रित काव्य में न्याय की प्रस्तुति दूसरी ही होती है।[81] भामह के अनुसार शास्त्राश्रित काव्य में कवि को शास्त्र को सिद्धान्तानुरूप प्रस्तुत करने की बाध्यता होती है किन्तु लोकाश्रितकाव्य में उत्कृष्ट बुद्धि वाले कवि के लिए ऐसी कोई बाध्यता नहीं होती है, अपितु वह विषय को अपनी सुमेधा तथा अपने शब्द प्रयोग द्वारा अर्थगतवक्रता से परिपूरित कर उसे चारु बना देता है।[82] इसमें शास्त्र के समान गम्भीर तत्त्वदर्शन का आग्रह नहीं होता है[83] जबकि प्रत्येक शास्त्र का अपना मूलभूत सिद्धान्त होता है और उसमें उसी पृष्ठभूमि में विषय का प्रस्तुतीकरण किया जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के इन दोषों का मूल भरतवर्णित 'न्यायादपेत' नामक दोष है[84] जो कालान्तर में काव्यगोष्ठियों में हुई न्यायशास्त्र की चर्चाओं के प्रभाव से और अधिक उपबृंहित रूप में प्रस्तुत हुआ है। प्रतिज्ञाहीन दोष का उल्लेख विष्णुधर्मोत्तरपुराण में भी हुआ है[85], किन्तु काव्यादर्श में दण्डी ने काव्य के सन्दर्भ में इन दोषों का खण्डन किया है। उनका कथन है कि ये दोष काव्य से उतना सम्बन्ध नहीं रखते हैं। अप्रतिज्ञात वस्तुओं का वर्णन भी कविगण काव्य में करते

---

80. सुभाषितरत्नभाण्डागार 64, पृ० 342
81. शाङ्र्गधरपद्धति पद्य सं० 3876, पृ० 587
82. (क) तज्ज्ञैः काव्यप्रयोगेषु तत्प्रादुष्कृतमन्यथा।
    (ख) इदन्तु शास्त्रगर्भेषु काव्येष्वभिहितं यथा।। काव्यालङ्कार (भामह), 5.30
83. अपरं वक्ष्यते न्यायलक्षणं काव्यसंश्रयम्।
84. वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते।। वही, 5.66
85. तत्र लोकाश्रयं काव्यमागमास्तत्त्वशंसिनः।।वही 5.33

ही हैं। हेतुहीनता भी प्रसिद्ध हेतुस्थल में दोष नहीं होती है। दृष्टान्तहीन होने से भी काव्य में उतना वैरस्य नहीं होता है। अतः इन दोषों का विचार अनपेक्षित है। इन दोषों के नहीं मानने से भी कोई न्यूनता नहीं होगी।[86] व्यक्तिविवेक के प्रथम विवेक में रसानुमिति के सन्दर्भ में महिमभट्ट ने भी काव्य में हेतु और दृष्टान्त की शब्दोपात्तता पर विचार किया है। उनके अनुसार काव्य का अनुमान तर्कशास्त्र के अनुमान से भिन्न होता है। काव्य का सार है– चमत्कार तथा तर्कशास्त्र का सार है– सिद्धि। अतः तर्कशास्त्र के सन्दर्भ में साध्य-साधन के साथ-साथ दृष्टान्त (उदाहरण) का भी शब्दोपादान होना चाहिये, किन्तु काव्य के सन्दर्भ में साध्य और साधन को न जानने वालों के लिए ही दृष्टान्त सहित साध्य और हेतु कहे जाते हैं और जानने वालों के लिए तो केवल हेतु ही बतलाया जाता है।[87]

वस्तुतः सहृदयगत आनन्द की दृष्टि से न्यायशास्त्रसम्बद्ध दोषों का विवेचन भामह की संवेदनशीलता का परिचायक है। उन्होंने तो इन तीन न्यायदोषों के विस्तृत विवेचन में पञ्चम परिच्छेद का अधिकांश रच डाला है। इस परिच्छेद में भामह ने सर्वप्रथम बौद्ध न्याय के परिप्रेक्ष्य में प्रत्यक्ष तथा अनुमान नामक दो प्रमाणों की उपयोगिता, उनके भेद तथा विषय की सामान्य चर्चा की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण के सन्दर्भ में संङ्केतग्रहण में वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति नामक बौद्धों द्वारा मान्य व्यक्तिवादी सिद्धान्त का खण्डन किया है[88] वहीं 'केचन' के माध्यम से दिङ्नाग के मतानुसार तथा 'अपरे' के माध्यम से वसुबन्धु के अनुमान प्रमाण के लक्षण को भी प्रस्तुत किया है।[89] तदनन्तर भामह ने अनुमान प्रमाण के अवयवों का निरूपण किया है। इसके अन्तर्गत कारिका सङ्ख्या 12 से कारिका सङ्ख्या 20 तक[90] नौ कारिकाओं में सर्वप्रथम प्रतिज्ञाहीनदोष के छः भेदों[91] का उदाहरण सहित प्रतिपादन किया गया है। तदनन्तर कारिका सङ्ख्या 21 से कारिका सङ्ख्या 25 तक 5 कारिकाओं में प्रकारान्तर से हेतुहीन दोषों[92] तथा कारिका सङ्ख्या 26 से कारिका सङ्ख्या 29 तक 4 कारिकाओं में दृष्टान्तहीन दोषों[93] का विवेचन किया गया है।

---

86. न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाणवर्जितम्। नाट्यशास्त्र, 17.92
87. ससंशयं न वक्तव्यं प्रतिज्ञारहितं तथा। विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 3.15.13
88. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तनिर्दोषो न वेत्यसौ। विचारः कर्कशः प्रायस्तेनालीढेन किं फलम्।। काव्यादर्श, 3.127
89. यथा साध्यसाधनयोस्तत्र नियमेनोपादानं तथा दृष्टान्तस्यापि स्यात्, तस्यापि व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयतयावश्यापेक्षणीयत्वात्। न। प्रसिद्धसामर्थ्यस्य साधनस्योपादानादेव तदपेक्षाया प्रतिक्षेपात्। तदुक्तम्–
तद्भवहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः। ख्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः।।
व्यक्तिविवेक, 1.20 वृत्ति, पृ० 69 (द्विवेदी)
90. समारोपः किलैतावान् सदर्थालम्बनञ्च तत्। जात्याद्यपोहे वृत्तिः क्व क्व विशेष कुतश्च सः।
X X X X X X
अर्थादेवेति रूपादेस्तत एवेति नान्यतः। अन्यथा घटविज्ञानमन्येन व्यपदिश्यते।। काव्यालङ्कार (भामह), 5.7-10
91. त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमानञ्च केचन। तद्विदो नान्तरीयार्थदर्शनञ्चापरे विदुः।। वही, 5.11
92. विविधास्पदधर्मेण धर्मी कृतविशेषणः। पक्षस्तस्य च निर्देशः प्रतिज्ञेत्यभिधीयते।।
X X X X X X
प्रत्यक्षबाधिनी तेन प्रमाणेनैव बाध्यते। यथा शीतोऽनलो नास्ति रूपमुष्णः क्षपाकरं।। वही, 5.12-20

उद्भट ने शास्त्राश्रित काव्य के दोषों के सन्दर्भ में भामह द्वारा प्रस्तुत न्यायशास्त्रविषयक प्रतिज्ञाहीन, हेतुहीन तथा दृष्टान्तहीन दोषों की व्याख्या की है। वस्तुतः जिस अनुमान में कोई दोष रहता है, वह अनुमान यथार्थज्ञान का जनक नहीं होता है। उस अनुमान को मिथ्यानुमान या अनुमानाभास कहा जाता है। अनुमान के अङ्गों में त्रुटि रह जाने पर उससे उत्पन्न अनुमान त्रुटियुक्त होता है। अनुमान के मुख्य अङ्ग है– प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टान्त। इसी आधार पर अनुमानगत दोष भी तीन प्रकार के होते हैं। अत्यधिक खण्डित होने से भामहविवरण टीका में अनुमानगत सभी दोषों की पूर्ण व्याख्या नहीं उपलब्ध होती है किन्तु टीका में भामह की तद्विषयक कारिकाओं के शब्दों के प्रयोग से उद्भट की भी वैसी ही दृष्टि का कुछ सङ्केत अवश्य प्राप्त हो जाता है।

भामहविवरण में पञ्चम परिच्छेदगत उपलब्ध अंशों में प्रतिज्ञाहीन दोष के छः भेदों में से तदर्थविरोधिनी तथा प्रसिद्धधर्मा प्रतिज्ञा नामक भेदों का तो व्याख्यात्मक अंश प्राप्त ही नहीं होता है। हाँ, हेतुविरोधिनी,[94] सिद्धान्तविरोधिनी,[95] सर्वागमविरोधिनी[96] तथा प्रत्यक्षबाधिनी[97] नामक चार प्रतिज्ञादोषों का किञ्चिद् सङ्केत अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु ये अंश बीच-बीच में इतने लुप्त तथा अधिक खण्डित हैं कि इनसे उक्त दोषों के सम्बन्ध में उद्भट का विस्तृत विवरण या उनके निर्णायक मत का ज्ञान नहीं हो पाता है। यह अवश्य प्रतीत होता है कि उद्भट भामह से विशेष प्रभावित थे और उनके पक्षधर थे।

काव्य में प्रतिज्ञाहीन दोषों के सम्बन्ध में उद्भट की भी यही मान्यता प्रतीत होती है कि कथानक की दृष्टि से प्रतिज्ञा कभी काव्य का विषय बन सकती है, किन्तु उपर्युक्त छः प्रकार के बाधिनी रूप में प्रस्तुत नहीं किया जाना चाहिए, अपितु उसे धर्म, अर्थ, काम और कोपमूलक चार प्रकारों में से किसी एक रूप का होना चाहिए तथा इन सभी का निर्वाह काव्य में यथासम्भव करना चाहिए।[98] लोकव्यवहार से सम्बद्ध पुरुषार्थ तीन ही हैं– धर्म, अर्थ तथा काम। कोप वस्तुतः काममूलक ही है, परन्तु कभी-कभी क्रोध की ही अत्यन्त उग्रता के कारण वही प्रधान हो जाता है अतः उसे भी पृथक् माना जा सकता है। चरम पुरुषार्थ तो तत्त्वतः मोक्ष है परन्तु उसकी प्राप्ति किसी

---

93. तदर्थहेतुसिद्धान्तसर्वागमविरोधिनी। प्रसिद्धधर्मा प्रत्यक्षबाधिनी चेति दुष्यति।। वही, 5.13
94. सन्द्वयोः सदृशो सिद्धो व्यावृत्तस्तद्विपक्षतः। हेतुस्त्रिलक्षणो ज्ञेयो हेत्वाभासो विपर्ययात्।।
X X X X X X
विपक्षस्तद्विसदृशो व्यावृत्तस्तत्र यो ह्यसन्। इति द्वयैकानुगतिव्याकृत्ती लक्ष्मसाधुता।। वही, 5.21-25
95. साध्यसाधनधर्माभ्यां सिद्धो दृष्टान्त उच्यते। तद्विपर्ययतो वापि तदाभस्तदवृत्तितः।।
X X X X X X
जातयो दूषणाभासास्ताः साधर्म्यसमादयः। वही 5.26-29
96. तद्धर्मोऽपि न सेत्स्यतीति एतदुक्तं न त्या (....) यति यत्र प्रमाणान्तरप्र......इ......न्येध......इ।
भामहविवरण कणिका 46 (क), चतुर्थ पञ्चम, पङ्क्तियाँ, पृ० 225
97. रशयितुमह स्वसिद्धान्तविरुद्धत्वात् रं प्रजानानास् आसमन.....धाम वही, षष्ठ सप्तम पङ्क्तियाँ
98. रं थं तस्मात्सर्वागमाविरोधिनी यथा। यथा शुचि सुनुस्त्रैणी। वही, सप्तम पङ्क्ति, पृ० 225
.........प्रमाणप्रवाह इष्यत एवेति सामान्यप्रमाण प्रतिक्षे–
प तमेतदन्य.........। समाभिः प्रसिद्ध, वही, 'ख' प्रथम, द्वितीय पङ्क्ति, पृ० 225

प्रतिज्ञा के साथ सम्बद्ध नहीं है। वह तो वस्तुतः काव्य का विषय ही नहीं बनता है। इनके अतिरिक्त किसी प्रतिज्ञा में कोई वैशिष्ट्य सम्भव नहीं है।

शास्त्र में तो परार्थनुमान के प्रसङ्ग में प्रतिज्ञा वाक्य आवश्यक है। इससे ही साध्यसाधन भाव सिद्ध होगा जबकि काव्य में प्रतिज्ञा वाक्य के बिना भी इष्ट की प्राप्ति की जाती है। इस प्रकार भामह के अनुसार काव्य में यह प्रतिज्ञा कभी शब्दतः उक्त अर्थात् शाब्दी होती है तो कभी अनुक्त अर्थात् आर्थी भी हो सकती है।[99] जैसे–

किमिन्द्रियद्विषा ज्ञेयं को निराक्रियतेऽरिभिः।
को वा गत्वरमर्थिभ्यो न यच्छति धनं लघु।
किमित्ययं तु यः क्षेपः सौकर्यं दर्शयत्यसौ।।[100]

अर्थात् जितेन्द्रिय को (अन्य) क्या जानना चाहिए ? शत्रुओं से कौन पराजित होता है ? कौन अनुदार याचकों को चञ्चल धन नहीं देता है ? 'किम्' यह जो आक्षेप है, यह सुगमता को ही प्रकट करता है।

प्रस्तुत पद्य में **"किमिन्द्रियद्विषा ज्ञेयं"** शब्दावली में प्रतिज्ञा शब्दतः उपात्त नहीं है तथापि इसी अर्थ से यह प्रतिज्ञा ध्वनित होती है कि **"अहं ब्रह्म ज्ञास्यामि"** अर्थात् वक्ता स्वयं के लिए ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए उपाय करेगा। इसी प्रकार **'को निराक्रियतेऽरिभिः'** (शत्रुओं के द्वारा कौन निरस्त होता है) शब्दावली में अर्थ से ही वीर तथा **"को वा गत्वरमर्थिभ्यो न यच्छति धनं लघु"** (कौन अनुदार याचकों को चञ्चल धन नहीं देता ?) शब्दावली में अर्थ से ही दानशील बनने की प्रतिज्ञायें व्यक्त हो रही हैं। इस प्रकार भामह के अनुसार काव्य में बिना शब्दतः प्रतिज्ञा के कथन के भी इष्ट की प्राप्ति कही जाती है।

काव्य के सन्दर्भ में प्रतिज्ञा को परिभाषित करते हुए भामह का कथन है कि इष्ट कार्य के सङ्कल्प को प्रतिज्ञा कहा जाता है। उनके अनुसार काव्य में कथानकगत प्रयोजन, पात्र के व्यक्तित्व-प्रकाशन आदि की दृष्टि से उपर्युक्त चार प्रकार की प्रतिज्ञा का ही अवसरानुरूप प्रयोग करना चाहिए। यदि काव्य में धर्मबाधिनी, अर्थबाधिनी, कामबाधिनी तथा कोपबाधिनी नामक चार प्रकार के प्रतिज्ञाभासों की भी आवश्यकता प्रतीत हो रही हो तो उनका भी निरूपण यथावसर किया जाता है जिनमें महाभारत के वनपर्व[101], सभापर्व[102], आदिपर्व[103] के कथानक को प्रमाण माना जा सकता है। भामह के अनुसार कवि को न उपर्युक्त चारों से भिन्न किसी अन्य प्रतिज्ञा का प्रयोग काव्य में करना चाहिए और न ही इनका परित्याग करना चाहिए।[104] काव्यगत यह प्रस्तुति न्यायगत

---

99. प्रत्यक्षबाधिनी दर्शयितुमाह प्रत्य स्ति ऊप उष्णश्चन्द्रमा इति हेतुलक्षमाह धर्मधर्मिसमुदायस्साध्यधर्मशसिद्ध इत्यादि धर्मिणि वही, 'ख' तृतीय-षष्ठ पङ्क्ति, पृ० 226
100. इष्टकार्याभ्युपगमं प्रतिज्ञां प्रतिजानते। धर्मार्थकामकोपानामाश्रयात्सा चतुर्विधा।। काव्यालङ्कार (भामह), 5.40
101. अथाभ्युपगमप्राप्तिः सन्ध्याभ्युपगमाद् विना। अनुक्तमपि यत्रार्थदभ्युपैति यथोच्यते।। वही, 5.45
102. वही, 5.46
103. प्रायोपवेशाय यथा प्रतिज्ञाय सुयोधनः। राज्याय पुनरुत्तस्थाविति धर्मविरोधिनी।। वही, 5.41
104. आहूतो न निवर्त्तेहं द्यूतायेति युधिष्ठिरः। कृत्वा सन्धां शकुनिना दिदेवेत्यर्थबाधिनी।। वही, 5.42

प्रतिज्ञावाक्य से भिन्न होती है। शास्त्र की तुलना में काव्य के भिन्न स्वभाव होने के कारण कवि काव्य सम्बन्धी ऐसे प्रयोगों में शास्त्रगत शैली को नहीं अपनाता है अपितु वर्ण्य-विषय तथा अपनी विवक्षा के अनुरूप काव्य को प्रस्तुत करता है।[105]

भामहविवरण नाम्नी टीका में भामहकृतकाव्यालङ्कार के पञ्चम परिच्छेद में वर्णित न्यायगत दोषों से सम्बद्ध कारिका सङ्ख्या 34 से कारिका सङ्ख्या 51 तक व्याख्या भाग नहीं उपलब्ध होता है जिसके अन्तर्गत प्रतिज्ञा की परिभाषा, उसके चारों प्रकार तथा प्रतिज्ञाभास के चारों प्रकार, काव्यगत हेतु आदि विषय आते हैं, किन्तु अन्य दोषगत व्याख्या से यह सङ्केत अवश्य प्रतीत होता है कि उद्भट भी न्यायगत दोषों को मानते हैं और काव्य में इन दोषों के विषय में भामह की मान्यता को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। जैसे– भामहविवरण की निम्नलिखित शब्दराशि से काव्य में सिद्धान्तविरोधिनी, प्रत्यक्षबाधिनी इत्यादि छः दुष्ट प्रतिज्ञाओं के वर्णन के विरोध का सङ्केत प्राप्त होता है– 'प्रतिज्ञादीनि दुष्टानि यश्च प्रति.............य्.ते तत्र........य्.......'[106]

हेतु के स्वरूप के सम्बन्ध में भी उद्भट भामह के अनुवर्ती प्रतीत होते हैं। दोनों का मत है कि चाहे अनुमान की चर्चा हो अथवा काव्य की, हेतु वही निर्दुष्ट माना जाता है जिसमें पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षव्यावृत्ति हो अन्यथा वह हेत्वाभास की कोटि में आ जाता है।[107] हेतुविरोधिनी प्रतिज्ञा के सन्दर्भ में अन्यतरासिद्ध नामक हेत्वाभास को स्पष्ट करते हुए उद्भट ने अपनी टीका में 'नित्यः शब्दः कृतकत्वात्' उदाहरण को प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि इस वाक्य में हेतु असिद्ध है, क्योंकि मीमांसकों की दृष्टि में शब्द नित्य होता है और नित्य होने के कारण वह कार्य नहीं हो सकता। अतः उपर्युक्त वाक्य में उनकी दृष्टि में भी शब्द के नित्य तथा उसके कार्यरूप होने से इसमें व्याप्ति सम्बन्ध नहीं बनता है, अतः यहाँ असिद्ध नामक हेत्वाभास है।[108] असिद्धहेत्वाभास के अनेक भेदों में से यह उदाहरण अन्यतरासिद्ध नाक हेत्वाभास का है क्योंकि नैयायिक शब्द को अनित्य मानते है– 'शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्'। यहाँ 'कृतकत्व' हेतु वादी तथा प्रतिवादी के रूप में क्रमशः मीमांसक तथा नैयायिक दोनों को मान्य नही है, अपितु केवल नैयायिक को ही मान्य है जबकि हेतु के विषय में भामह तथा उद्भट दोनों का मत है कि हेतु सदा ऐसा होना चाहिए जो स्वपक्ष अर्थात् वादी तथा परपक्ष अर्थात् प्रतिवादी को मान्य हो।[109] हेतु के विषय में यदि दोनों एक मत होते

---

105. अद्यारम्भ निवत्स्यामि मुनिवद्वचनादिति। पितुः प्रियाय यां भीष्मश्चक्र सा कामबाधिनी।। वही, 5.43

106. कार्योऽन्यत्र प्रतिज्ञायाः प्रयोगो न कथञ्चन। परित्यागश्च कर्तव्यो नासां चतसृणामपि।। वही, 5.40

107. अथ नित्याविनाभावि दृष्टञ्जगति कारणम्। कारणञ्चेन्न तन्नित्यं नित्यञ्चेत् कारणं न तत्।। वही, 5.31

108. भामहविवरण कणिका 47 (ख) अष्टम पङ्क्ति, पृ० 227

109. (क) विपक्षस्तद्विसदृशो व्यावृत्तस्तत्र यो ह्यसन्। इति द्वयैकानुगतिव्यावृत्ती लक्ष्मसाधुता।।
काव्यालङ्कार (भामह), 5.25

(ख) हेतुस्त्रिलक्ष्मैव मतः काव्येष्वपि सुमेधसाम्। अन्वयव्यतिरेकौ हि केवलावर्थसिद्धये।। वही, 5.47

(ग) X ....साधारणदिस्सपक्ष एक इव एकार्थक्रियाकारीत्येवोपचर्यत इति व्या .....।
X X सपक्षेण यो विदृशस्साध्यधर्मानाश्रय स विपक्षस्त X X व्यावृ X तु हेतुस्स्।
X X दर्शयितुमाह इति द्वयैकानुगतिव्यावृत्ती लक्ष्मसाधुता इति सा (प्ये) का भङ्ग्या X।
भामहविवरण 47 (क) षष्ठ से अष्टम पङ्क्ति तक, पृ० 227

हैं तभी साध्य के विषय में विवाद की सम्भावना होती है अन्यथा परपक्ष में हेतु की स्थिति न मानने पर अन्यतरासिद्ध नामक हेत्वाभास की व्यवस्था की सम्भावना ही नहीं बनने पायेगी।[110]

इस परिच्छेद में भामह ने आठ कारिकाओं (5.47 से 5.54 तक) में लोकाश्रित काव्य के सन्दर्भ में हेतुगत दोषों का विवेचन किया है, किन्तु **भामहविवरण** में इनमें से केवल दो ही कारिकाओं की कुछ व्याख्या प्राप्त होती है जो अज्ञान, संशयज्ञान तथा विपर्यय ज्ञान को उत्पन्न करने वाले हेतुगत दोनों के उदाहरणों से सम्बद्ध है। उद्भट को भी भामह की भाँति[111] लोकाश्रित काव्य में अज्ञान, संशय अथवा विपरीत ज्ञान उत्पन्न करने वाला हेतु स्वीकार्य नहीं है। इस सम्बन्ध में उद्भट की भी यही मान्यता है कि ऐसे हेतु लोक में ही दूषित माने जाते हैं तो काव्य में इनका नियोजन कैसे सम्भव है, क्योंकि काव्य तो लोकाश्रित होता है। काव्य में ऐसे हेतुओं के प्रयोग से चमत्कार की उत्पत्ति नहीं होती है।[112] उद्भट भी उपर्युक्त अंश की टीका में भामह द्वारा प्रस्तुत दुष्ट हेतुगत इस पद्य में वर्णित तीनों उदाहरणों में अज्ञान, संशयज्ञान तथा विपरीतज्ञान के उन्हीं कारणों को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। उपलब्ध अंशों के आधार पर उनके अनुसार भी काशपुष्प के सन्दर्भ में सुगन्ध को हेतु रूप में प्रस्तुत करना अज्ञानविषय अनुमान की प्रतीति कराता है, क्योंकि काशपुष्प सर्वथा सौरभरहित होता है। इसी प्रकार केवल जल के पास रहने से ही पक्षियों का कोलाहल होता है, यह अनुमान सन्दिग्धज्ञानविषयक है क्योंकि पक्षी अत्यधिक प्रसन्नता तथा भय में कहीं भी कोलाहल करते देखे जाते हैं। विपरीतज्ञान विषयक अनुमान के उदाहरण की व्याख्या में उद्भट का कथन है कि चकोर के लिए शुक्लान्तनेत्र को हेतु रूप में प्रस्तुत करना दोषपूर्ण है, क्योंकि यथार्थ रूप में चकोर का नेत्र रक्तान्त होता है।[113]

काव्य में हेतु की प्रस्तुति के सम्बन्ध में भामह का मत है कि जिसमें साध्य का पृथक् निर्देश नहीं किया गया है, ऐसा हेतु भी काव्य में देखा जाता है और ऐसी स्थिति में अन्वय-व्यतिरेक के बिना भी अर्थावगम हो जाता है[114] जैसे–

दीप्रदीपा निशा जज्ञे व्यपवृत्तदिवः करा।
हेतुः प्रदीपप्रदीत्वमपवृत्तौ रवेरिह।[115]

---

110. पक्षानुमान इत्यादि..............। पद्यत्र परपक्षप्रहाण . X क्रियेते तत्र द . स।
नित्यः शब्दः कृतकत्वात् अयं शब्दादिव्यक्ति X X X प्रत्यन्तरासिद्ध।
भामहविवरण कणिका 47 (क) प्रथम तथा द्वितीय पङ्क्ति, पृ० 226

111. सन्द्वयोरिति यः सिद्धः स्वपक्षपरपक्षयोः। काव्यालङ्कार (भामह), 5.22
X X X

112. परपक्षानुपादानं तद्वृत्तेश्चानुदाहृतौ। कथमन्तरासिद्धहेत्वाभासव्यवस्थितिः।। वही, 5.22

113. तस्यापि सुधियामिष्टा दोषाः प्रागुदितास्त्रयः। अज्ञानसंशयज्ञानविपर्ययकृतो यथा।।
काशा हरन्ति हृदयममी कुसुमसौरभात्। अपामभ्यर्णवर्तित्वादेते ज्ञेयाः शरारवः।।
असौ शुक्लान्तनेत्रत्वाच्चकोर इति गृह्यताम्। तुल्यजातावदृष्टत्वात्साधयत्यचकोरताम्।। वही, 5.52-54

114. X X X ताः त्रय इमे दोषाः ये पुनरज्ञानसंशयज्ञानविपर्ययाश्च् त् ।
भामहविवरण कणिका 50 (क), द्वितीय पङ्क्ति, पृ० 228

115. वश्यानुपाद्यत्वात् तत्करणविरोधः एषामुदाहरणमित्याह। काशा हर काशा हर।
तित्वं यथा शरारिणामेवं कुरुरादीनामप.यृ.नैक X X X काराणां रक्तनयन। वही, चतुर्थ पङ्क्ति, पृ० 229

उपर्युक्त उदाहरण में रात्रि का वर्णन है। पद्य का अर्थ है– चमकते हुए दीपकों वाली रात्रि से सूर्य का अस्त होना ज्ञात होता है। यहाँ दीपकों का उद्दीप्त होना सूर्य के अस्त होने का हेतु है, किन्तु यह पृथक् रूप से पञ्चमी विभक्ति में नही निर्दिष्ट है, अपितु विशेषण के रूप में प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त है। इस प्रकार काव्यगत हेतु-प्रस्तुति में कवि शास्त्रगत नियम से आबद्ध नहीं होता है। **भामहविवरण** में उपर्युक्त उदाहरण का व्याख्या अंश नहीं प्राप्त होता है किन्तु भामह की हेतुगत विभिन्न मान्यताओं की स्वीकृति से यह प्रतीत होता है कि उद्भट को भी हेतुगत यही प्रस्तुति मान्य है और वह भी ऐसे उदाहरण में काव्यगत चारुता स्वीकार करते हैं।

इसकी पुष्टि काव्यशास्त्रपरम्परा में सर्वप्रथम उनके द्वारा मान्य काव्यलिङ्ग अलङ्कार से होती है। **काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह** नामक अपने लक्षण-ग्रथ में ऐसे विशिष्ट प्रयोग को उद्भट ने काव्यलिङ्ग नामक एक अलङ्कार के रूप में स्वीकार किया है जबकि भामह ने **काव्यालङ्कार** में इस अलङ्कार का उल्लेख कहीं नहीं किया है। भामह ने उदाहरण देते हुए काव्यगतहेतु की प्रस्तुति की विशिष्टता तो बतलायी है किन्तु उसे एक स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में नहीं स्वीकार किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह ने 'हेतु' शब्द को उसके लौकिक स्वरूप तक की सीमित माना है, किन्तु उद्भट की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने इसमें अलौकिक चमत्कार का अनुभव किया है और इसमें काव्यशब्द जोड़कर उसे काव्यलिङ्ग (काव्यहेतु) नामक एक महत्त्वपूर्ण अलङ्कार की सत्ता प्रदान की है। उद्भट के अनुसार जब श्रुतिगोचर अर्थात् कविवर्णित एक अर्थ वस्त्वन्तर की स्मृति अथवा उसके अनुभव का हेतु बन जाय, तब यहाँ काव्यलिङ्ग अलङ्कार होता है–

श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते।।[116]

इस लक्षण के आधार पर पूर्वोक्त उदाहरण में काव्यलिङ्ग अलङ्कार की प्रतीति हो रही है, क्योंकि वहाँ प्रथमा विभक्ति के माध्यम से वर्णित **'दीप्रदीपा'** विशेषण से सूर्यास्त नामक वस्त्वन्तर के अनुभव की हेतुता प्रकट हो रही है और हेतु की प्रस्तुति की शास्त्र की भाँति तृतीया या पञ्चमी में न होकर प्रथमाविभक्तिमूलक विशेषण के काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत हुयी है।

न्यायगतदोषविवेचन के अन्तर्गत प्रतिज्ञा तथा हेतुगत दोषों के पश्चात् भामहविवरण में दृष्टान्तगत दोषों का प्रतिपादन किया गया है। हेतु-विवेचन की भाँति उद्भट ने शास्त्राश्रितकाव्य तथा लोकाश्रितकाव्य दोनों सन्दर्भों में दृष्टान्त तथा दृष्टान्ताभास की व्याख्या की है। शास्त्रगत दृष्टान्त के उदाहरण के सन्दर्भ में उद्भट ने **'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वात्'** लिखा है। दृष्टान्तगत कारिकाओं[117] की व्याख्या करते समय उद्भट ने भी भामह के समान नैयायिकगत दोनों मतों को प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि कुछ नैयायिकों के अनुसार साध्य और साधन की स्थिति जहाँ निश्चित हो, वहाँ सिद्ध दृष्टान्त होता है जैसे महानस। यहाँ धूम और अग्नि दोनों ही देखे जाते हैं। इसे ही अन्वयदृष्टान्त भी कहा जाता है, और जहाँ ये दोनों न रहें, वह भी दृष्टान्त हो सकता

116. अपृथक्कृतसाध्योऽपि हेतुश्चात्र·प्रतीयते। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विनैवार्थगतिर्यथा।। काव्यालङ्कार (भामह) 5.50

117. वही, 5.51

है जैसे– सरोवर। यहाँ न तो धूम है और न ही अग्नि किन्तु यह विपर्यय दृष्टान्त होता है। इसे व्यतिरेक दृष्टान्त भी कहा जाता है।[118] कुछ नैयायिकों के मतानुसार साध्य के साथ साधन का रहना तथा साध्य के अभाव में साधन का न रहना दृष्टान्त कहलाता है।[119]

दृष्टान्ताभास पर उपलब्ध टीकागत अंशों से उद्भट के विचार पर किञ्चित प्रकाश पड़ता है। इस सम्बन्ध में उद्भट का कथन है कि जो दृष्टान्त के रूप में उपन्यस्त हो परन्तु जिसमें साध्य तथा साधन के होने की कोई सम्भावना न हो तो वह दृष्टान्ताभास कहा जाता है।[120]

काव्य के सन्दर्भ में दृष्टान्त के लक्षण तथा प्रस्तुति की भी चर्चा उद्भट में **भामहविवरण** में की है। भामह की दृष्टान्तगतकारिका[121] की व्याख्या करते हुए उद्भट का कथन है कि उक्त वस्तु के समान (अन्य) वस्तु का निर्देश करना दृष्टान्त कहलाता है– **'काव्यदृष्टान्तलक्षणार्थमाह। उक्तस्यार्थस्येत्यादि उपन्यस्तस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बिप्र'**।[122]

इसी प्रसङ्ग में उद्भट ने भी भामह तथा वर्णित उपमा अलङ्कार तथा दृष्टान्त रूप अनुमानावयव के पार्थक्य को स्पष्ट किया है। प्रश्न यह है कि उपमा अलङ्कार में भी दृष्टान्त की ही भाँति एक वस्तु के समान दूसरी वस्तु का निर्देश होता है फिर उपमा को भी अनुमान क्यों न मान लिया जाय ? इस सम्बन्ध में उद्भट ने दोनों के पार्थक्यगत उन्हीं दो कारणों की दृष्टि से ही व्याख्या की है जिनका भामह ने निरूपण किया है।[123] उद्भट के अनुसार उपमा को अनुमान न मानने का प्रथम कारण है– उपमा में हेतु का कथन न होना, जो कि अनुमान की प्रक्रिया का प्रधान अङ्ग है[124]। इसका दूसरा कारण है– अनुमान की प्रक्रिया में प्रोक्त साध्य और साधन के निर्देश का उपमा में इष्ट न होना[125] जैसे **मुखं पद्ममिव** (मुख कमल के समान है), यहाँ साध्य साधन की कोई विवक्षा नहीं है सादृश्य मात्र की विवक्षा है। अनुमान को उपमा अलङ्कार में अतिव्याप्तिदोष से बचाने तथा उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए भामह ने एक अन्य उदाहरण भी दिया है–

---

118. काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह 6.7, पृ० 410
119. साध्यसाधनधर्माभ्यां सिद्धो दृष्टान्त उच्यते। तद् विपर्ययतो वापि तदाभस्तदवृत्तितः।।
साध्येन लिङ्गानुगतिस्तदभावे च नास्तिता। ख्याप्यते येन दृष्टान्तः स किलान्यैर्द्विधोच्यते।।
काव्यालङ्कार (भामह), 5.26, 27
120. ....क लक्षणं पुनर्यत्र साध्याभावो हेत्वभावः ख्यापित इति।। भामहविवरण कणिका 47 (ख) द्वितीय पङ्क्ति, पृ० 227
121. स्य दर्शयितुमाह साध्येन। लिङ्गनुगति इत्यादि यत्र धूमस्तत्राग्निर्यथा महानसादौ।
सलिलादावित्येवं द्विधान्यैर् दृष्टान्तलक्षणमुक्तं दूषणानि दर्शयितुमाह द। वही, पञ्चम तथा षष्ठ पङ्क्ति
122. XXX य् दृष्टान्तः दृष्टाभासः पुनस्साध्यसाधनयोः प्रत्येकं पुनस्समुदाय XX। वही, पञ्चम तथा षष्ठ पङ्क्ति
123. उक्तस्यार्थस्य दृष्टान्तं प्रतिबिम्बनिदर्शनम्। काव्यालङ्कार (भामह), 5.55
124. भामहविवरण कणिका 50(क) पञ्चम पङ्क्ति, पृ० 229।
125. ननूपमानुमैवास्तु न हेत्वनभिधानतः। मुखं पद्मिवेत्यत्र किं साध्यं किञ्च साधनम्।। काव्यालङ्कार (भामह), 5.55, 56

इति प्रयोगस्य कलावपि भवानिह।
श्रेयान् वृद्धानुशिष्टत्वापूर्वे कार्तयुगे तथा।।[126]

अर्थात् (हे राजन्!) वृद्धों के द्वारा अनुशिष्ट होने के कारण पूर्व कृतयुग के समान कलियुग में भी आप श्रेष्ठ हैं।

इस उदाहरण में साध्य-साधनभाव स्पष्ट है। यहाँ स्तूयमान राजा की श्रेष्ठता साध्य है, वृद्धों के द्वारा अनुशिष्ट होना साधन है तथा कृतयुग के पूर्वपुरुष दृष्टान्त है। इस अंश के टीकाभाग से भी ऐसा प्रतीत होता है कि उपमा तथा अनुमान के अन्तर तथा उपमा में सन्निहित उपमानोपमेय की महत्ता को प्रतिपादित करने के लिए उद्भट ने द्रुतविलम्बित छन्द में निबद्ध एक पद्य को प्रस्तुत किया था जिसका खण्डित अंश टीका में प्राप्त होता है–

यानोपमानुप्रवेशः यथा तनुरियं क्व विलोचनहारिणी X X X ग X गवचत।[127]

दृष्टान्तहीन दोष के प्रकरण में भामह द्वारा अनेक उदाहरणों के माध्यम से यह भी सिद्ध किया गया है कि काव्य के सन्दर्भ में अनुमान की भाँति साध्यसाधनभाव के साथ दृष्टान्त की प्रस्तुति आवश्यक नहीं है, यहाँ कभी-कभी दृष्टान्त मात्र से साध्य और साधन व्यक्त हो जाता है और इसे ही शुद्धदृष्टान्त कहा जाता है[128]। जैसे–

भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरुरवा।
त्वमेव वीरप्रद्युम्नस्त्वमेव नरवाहनः।।[129]

अर्थात् तुम भरत हो, तुम दिलीप हो, तुम ही इलापुत्र पुरूरवा हो। तुम्हीं वीर प्रद्युम्न हो (और) तुम्ही नरवाहन हो।

प्रस्तुत पद्य के उपर्युक्त वाक्यों में पृथक् रूप से साध्य-साधन का प्रयोग नहीं हुआ है तथापि 'त्वं' पद से साध्य तथा 'भरतः' पद से त्यागमयता रूप साधन व्यक्त हो रहा है। इसी प्रकार 'दिलीप' पद से 'सेवाभाव' रूप साधन व्यक्त हो रहा है। भामहविवरण में टीकागत यह अंश नहीं प्राप्त होता है, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि उद्भट ने काव्य के सौन्दर्य के विघातक के रूप में दोषों का निरूपण किया है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि दोषपूर्ण काव्य की रचना कवि के लिए

---

126. मानमेवास्त्वित्यस्योपमानेऽन्तर्भावमन्यना न X वः प्राह अपरिहारः न हेत्वनभिधानकृ।
यामिवाचिप्रयोगश्च तद्दृष्टान्तेनास्ति इति नोपमायाम् X न्तर्भावोस्याशङ्कनीयः वस्तुनि।
भामहविवरण कणिका 50(क), षष्ठ तथा सप्तम पङ्क्ति, पृ० 229

127. X X इ. आमप्यस्यान्तर्भावो नास्ति। उपमानोपमेयभावादिवत् X X X स्याप्यत्रापि।
वही, 50(ख) प्रथम तथा द्वितीय पङ्क्ति, पृ० 229

128. (क) काव्यालङ्कार (भामह), 5.57
(ख) वृद्धानुशिष्टत्वादिति हेतुपूर्वकस्त्, X X स X तिवृद्धं X X कृतयुगे भव X।
भामहविवरण कणिका 50(ख), षष्ठ पङ्क्ति, पृ० 229

129. वही, 50(क), अष्टम् पङ्क्ति, पृ० 229

साक्षात् मृत्युरूप होती है। अतः उसे सदैव कुकवित्व से बचना चाहिए। अपनी टीका में उपमा दोषों के प्रसङ्ग में उद्भट ने भामह द्वारा उद्धृत मेधावी नामक आचार्य के मत की ही विस्तृत व्याख्या नहीं की है अपितु न्यायगत दोषों के विवेचन में भर्तृहरि नामक दार्शनिक वैयाकरण तथा धर्मकीर्ति नामक बौद्ध नैयायिक के मतों को भी उद्धृत किया है जो इनके ज्ञानगाम्भीर्य के साथ-साथ इनकी विवेचनाशक्ति का भी परिचायक है। शब्द-प्रयोग के औचित्य तथा अनौचित्य के प्रसङ्ग में धर्मकीर्तिविरचित **प्रमाणवार्तिक** को उद्धृत किया गया है।[130] इतना ही नहीं, व्याख्या में आवश्यकतानुसार उद्भट ने यत्र-तत्र वाल्मीकि, व्यास आदि महर्षियों तथा अनेक पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं का भी प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से आश्रय लिया है।

इस प्रकार **भामहविवरण** के काव्यगत दोष प्रकरण के उपलब्ध अंशों से यह प्रतीत होता है कि भामह की भाँति उद्भट ने भी कवि के दायित्व को महत्त्वपूर्ण माना है और स्वीकार किया है कि वस्तुतः कवि के लिए कोई विषय त्याज्य नहीं होता है। प्रत्येक शब्द, अर्थ, न्याय, कला आदि काव्य का अङ्ग बन सकता है।[131] परन्तु इन सब शब्दों, अर्थों, न्यायों आदि का काव्यत्व उनकी अभिव्यक्ति तथा उनके सन्दर्भ की अनुकूलता पर निर्भर करता है। कोई भी विषय यदि काव्य में कथानक, पात्र के व्यक्तित्व तथा रस-प्रतीति की दृष्टि से अनुकूलतया अनुस्यूत होते हैं तो शुष्क होने पर भी कवि की संवेदनशील प्रस्तुति के कारण वह सहृदय श्रोता या दर्शक को मधुयुक्त कटु औषधि की भाँति आनन्द प्रदान करते ही है।[132] अतः काव्य में वर्णित शास्त्रीय विषय के परिज्ञान के लिए कवि और आलोचक दोनों को शास्त्र के मूल सिद्धान्तों तथा काव्य में उनके प्रयोगों का ज्ञान होना आवश्यक है तभी काव्य सर्वथा दोषमुक्त रहता है तथा आनन्दानुभूति, व्यवहारज्ञान, कीर्ति आदि अनेक काव्य-प्रयोजनों की सिद्धि होती है।

---

130. यत्र दृष्टान्तमात्रेण व्यज्येते साध्यसाधने। तमाहुः शुद्धदृष्टान्तं तन्मात्राविष्कृतेर्यथा।। काव्यालङ्कार (भामह), 5.58

131. वही, 5.59

132. (क) पचर्यत इति सामन्यमिह संवृतिषद्धि नाभिप्रेतं यय् साध्य। भामहविवरण कणिका 47(क) पञ्चम पङ्क्ति, पृ० 226
(ख) अर्थक्रियासमर्थं यत् तदेव परमार्थसत्। अन्यत् संवृतिसत्प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणो।। प्र०वा० 3.3

133. न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला। जायते यत्र काव्याङ्महो भारा महान् कवेः।। काव्याल० (भा०) 5.4

134. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते। प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेजषम्।। वही, 5.3

भारतीय जीवनपद्धति के मूलाधार

प्रो० अँगने लाल

मानव जीवन का क्रमिक विकास देशी और विदेशी विद्वानों ने विभिन्न चरणों में दर्शाया है। जीवन-रक्षा का मूल आधार भोजन है, क्योंकि सभी प्राणी (सत्त्व) भोजन पर ही आश्रित हैं। (सच्चे सत्ता आहारट्ठितिका) खुद्दक पाठ प्रश्न-1 शरीर धारण करने के लिये भोजन का विधान किया गया है। (धारणार्थ शरीराय भोजनादि विधीयते) चूँकि शरीर ही सभी कार्य कलापों का केन्द्र विन्दु है, वही साध्य तक पहुँचने का माध्यम है (शरीरमाधम् खलु धर्म साधन) इसीलिये शरीर के महत्व को रेखाङ्कित किया गया है और यहाँ तक कह दिया गया है :

शरीर रक्षा पर ध्यान दीजै।
शरीर रक्षा सब छोड़ कीजै।।

इस प्रकार जीवन का प्रथम मूलाधार भोजन माना गया है। मानव-विकास की दूसरी आवश्यकता उसके आवास की थी। लेकिन वह पहले मकान बनाना नहीं जानता था। अस्तु, पर्वत-गुफाओं-कन्दराओं गुफाओं आदि में आवास बनाना शुरू किया ताकि वह वर्षा, धूप, शीत से अपने को सुरक्षित रख सके। बाद में मिट्टी के कच्चे मकान, फिर पक्के मकान और नगर विकसित हुए।

ऋग्वेद में किसी बड़े नगर का उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे यह प्रतीत होता है कि वह ग्राम्य सभ्यता का युग था। नागरिक सभ्यता उसके बाद में विकसित हुई और बुद्ध-युग में वह पूर्ण विकसित हुई। सभी तो उस युग में नगर ही नहीं, महानगर भी स्थापित किये गये। मानव-जीवन के विकास-क्रम में आवश्यकता की दृष्टि से तीसरा स्थान वस्त्रों का है, क्योंकि वस्त्रों से शरीर की सुरक्षा होती है। साथ ही सौन्दर्य का संवर्द्धन भी होता है। इस प्रकार मानव-विकास के प्रारम्भिक जीवन में ये तीन ही जीवन के मूलाधार थे।

भारतीय मानव चिन्तनशील प्राणी रहा है। अस्तु, उक्त तीनों भौतिक जीवनाधारों से ही वह सन्तुष्ट न हुआ। उसे शरीर रक्षा-सुरक्षा से अधिक और भी कुछ चाहिए था। वह सोचने लगा कि मैं क्या हूँ ? मरने के बाद क्या होता है ? किन-किन चीजों (तत्वों) से यह शरीर बना है ? क्या इसका कोई निर्माणकर्ता है अथवा यह स्वतः बनता है ? यही चिन्तन की स्वतन्त्रता थी। उसे इस चिन्तन में आनन्द की अनुभूति हुई। ज्यों-ज्यों अपने को देखता और समझता गया आनन्दातिरेक बढ़ता ही गया। अस्तु उसके मुख से निकला **'आत्मानं विद्धि'** अर्थात् अपने को

पहचानो। गौतम बुद्ध ने भी धम्मपद में कहा कि **'अत्त दीपो भव'** अर्थात् अपना प्रकाश स्वयं बनों। पाश्चात्य विद्वानों ने भी कहा **"नो दाईसेल्फ"** अर्थात् अपनो को जानो।

चिन्तन की इस स्वतन्त्रता ने खोज निकाला कि शरीर पांच तत्त्वों आकाश, जल, अग्नि, वायु और मिट्टी से बना है। बौद्ध चिन्तकों ने कहा कि नहीं आकाश शून्य है, अतः वह कोई तत्त्व नहीं है और शरीर चार तत्त्वों का ही बना है।

इन तत्त्वों में से सबसे पहले कौन तत्त्व था अथवा सबसे प्रमुख कौन तत्त्व था– यह सुनिश्चित करना कठिन है। स्वयं ऋग्वेद में ही यदि कहीं अग्नि की सर्वोत्कृष्टता है तो कहीं जल की। चिन्तन की यह स्वतन्त्रता 'स्व' को समझने के लिए थी, दूसरे को समझने के लिए नहीं। इस स्वतन्त्र चिन्तन के फलस्वरूप वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ज्ञान के बिना कल्याण नहीं हो सकता **(ऋते ज्ञानान् न मुक्तिः)** इस प्रकार सुखी जीवन के लिए सज्ज्ञान की प्राप्ति एक मूलआधार बन गया।

ज्ञान का कार्य है अज्ञान और अन्धविश्वास को मिटाना और चिन्तन का तात्पर्य उस ज्ञान-पथ को उत्तरोत्तर बढ़ाते रहना है। उपनिषद्-युग में इसी ज्ञान-अज्ञान (अन्धविश्वास) और चिन्तन स्वातन्त्रय तथा चिन्तन-प्रतिरोध का द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। शायद इसी समय वेदों को अपौरूषेय **('अपौरूषेयाः वेदाः')** बतलाकर मानवीय कृति से इन्कार कर दिया गया। यही नहीं उसमें किसी भी प्रकार का तर्क या सन्देह न किया जा सके इसलिये वेदों को स्वतः प्रमाण भी कह दिया गया। इससे कदाचित् मनुष्य के चिन्तन और तर्क दोनों शक्तियों का ह्रास हुआ।

अन्ध विश्वास ने भारतीय जन-मानस पर इतना प्रभाव जमा लिया कि लोग कर्तव्य से ही विमुख होने लगे। सोमनाथ मन्दिर की लूट भारतीय राजाओं की पराजय इसी अन्धविश्वास से दुष्परिणाम थे।

भारतीय जीवन का एक आधार अप्रमाद भी रहा है। यहाँ उद्योग कर्तव्य को प्रधानता दी गयी और यह कहा गया कि उद्यमी पुरूष के पास लक्ष्मी स्वयं चल कर जाती है। (उद्योगिनं पुरुषः सिंहमुपेति लक्ष्मी) यही नहीं यह भी कहा गया है कि ऐसे उद्यमशील पुरूष का लक्ष्मी स्वयं ही वरण करती है (लक्ष्मी स्वयं यं वरयांचकार) महामानव बुद्ध ने अप्रमाद को अमृपद कहा है और प्रमाद अर्थात् असावधानी (प्रमादोऽनवधानता) को सामने साक्षात् रूप में खड़ी हुई मृत्यु के समान बताया है :–

"अप्पमादो अमतं पदं।
पमादं मच्चुनो पदं।। (धम्मपद पमद बग्ग)

प्रमाद मनुष्य को कर्तव्य-विमुख करता है। स्वावलम्बन के स्थान पर परावलम्बन को जन्म देता है। अन्ध विश्वास को पनपाता है जो पराभव और पतन की ओर ले जाता है। यदि स्वयं प्रमादी है तो अपना पतन करता है, यदि घर का मुखिया प्रमादी है तो परिवार को चौपट करता है, यदि राज्य का उत्तराधिकारी प्रमादी होता है तो राज्य का पराभव होता है और यदि राष्ट्र का

नायक, नेता, राष्ट्राध्यक्ष प्रमादी, आलसी, अन्धविश्वासी और परावलम्बी होता है तो वह राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता खो देता है। इसलिए भारत के चिन्तको ने निरालसता, स्वावलम्बन, कर्तव्यनिष्ठा, को जीवन का एक आधार माना। जब-जब देश में प्रमाद और अन्धविश्वास को बल मिला है। राष्ट्र को हानि हुई है। सब जानते है कि सोमनाथ का मन्दिर वहाँ के पुजारियों और कर्मचारियों के अन्धविश्वास और परावम्बन के कारण ही तोड़ा गया और आक्रमणकारी उसमें एकत्रित सारा धन सम्पत्ति ढोकर ले गये।

आलस्य का ही एक अङ्गविलासिता भी है। इसी विलासिता के कारण पृथ्वी राज चौहान तृतीय की मुहम्मद गौरी से पराजय हुई और भारत अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा।

भारतीय जीवन का मूलाधार मध्यम मार्ग भी रहा है। यहाँ अति का सदा निषेध किया गया है **(अति सर्वत्र वजयेत्)**। यह मध्यम वर्ग **(मज्झिमा परिट्टपदा)** दोनों अतियों (चरम सीमाओं) के मध्य का मार्ग है। एक अति भोग-विलास की अति है और दूसरी अति काय-क्लेष की अति है। दोनों अतियाँ हानिकारक है। इसलिए न अधिक कायक्लेश और न अधिक काय (सुख भोग विलास) का मार्ग ही अपनाना चाहिए।

भारत में शील, व्यवहार, नियम, नैतिक मूल्य को भी सुखी जीवन-यापन के लिए आवश्यक माना गया है। इन नैतिक मूलाधारों को ब्राह्मण धर्म के नैतिक आचारसंहिता, बौद्ध धर्म में पञ्च शील और जैन धर्म में पञ्च महाव्रत कहा गया है।

कुछ लोगों ने बुद्ध के पञ्चशील सिद्धान्तों को भारत की पराधीनता के लिए उत्तरदायी माना है। पञ्चशील में पहला सिद्धान्त है प्राणि हिंसा से विरत रहना। उनका कथन है कि इस अहिंसा प्रवृत्ति न देश को गुलाम बना दिया था। लेकिन कभी भी देश ने हिंसा को आश्रय नहीं दिया है। अहिंसा की शक्ति से भारत स्वतन्त्र हुआ है।

उक्तशील सिद्धान्त में "विरत" शब्द विशेष महत्व का है और विचारणीय भी है। इसका अर्थ है हिंसा में रत न होना अर्थात लिप्त न होना। हम दूसरों की हिंसा नहीं करेंगे, दूसरे की सम्पत्ति नहीं छीनेंगे, दूसरे को गुलाम नहीं बनायेगे, लेकिन हम अपनी रक्षा हर प्रकार से करेंगे, यही तो मध्यम मार्ग है। हम दूसरे की धन-सम्पत्ति नहीं लूटेंगे लेकिन यदि कोई दूसरा हमारी धन-सम्पत्ति छीनने आयेगा तो हम उससे हर प्रकार से निपटेगे और अपनी धन-सम्पत्ति, स्वतन्त्रता की रक्षा करेंगे। यदि ऐसा न होता तो बौद्ध देश अपनी स्वतन्त्रता कब की खो चुके होते।

त्यागवृत्ति भी हमारे जीवन का आधार रही है। त्याग का ही दूसरा नाम दान है। कल्याण भाव का परिणाम दान है। यदि मन में त्याग की भावना नहीं होगी तो दान देने के लिए मनुष्य का हाथ नहीं बढ़ सकता है। त्याग अथवा दान का एक दूसरा सामाजिक पहलू भी है और वह है सामाजिक जीवन पद्धति। यही तो हमारा जीवन दर्शन रहा है कि "जियो और जीने दो।" दान दूसरों के उपयोग और उपभोग के लिए दिया जाता है। हम अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तु का दान अथवा अपनी आवश्यकता में से भी कटौती करके दूसरों के कल्याण के लिए दान देते हैं। त्याग करते हैं। इसीलिये भारत में परोपकार की बड़ी महत्ता रही है और एक सिद्धान्त ही बन गया कि **"परोपकाराय सतां विभूतयः।"**

हमारे जीवनाधारों में एक प्रमुख आधार धार्मिक सहिष्णुता भी है। यहाँ एक ही स्थान पर आस्तिक और नास्तिक दोनों प्रेम पूर्वक रहे हैं। शैव, शाक्त, वैष्णव, सूर्योपासक, बौद्ध, जैन, सिख, भी हिल-मिलकर रहते रहे हैं। वर्तमान युग के पहले कभी शायद ऐसा धार्मिक विद्रोह और हिंसा नहीं हुई। वर्तमान समय में अवश्य ही भारत में धार्मिक हिंसा भड़की है। नर-संहार हुए हैं। प्राचीन भारत के इतिहास में एकाध उदाहरण पुष्यमित्र, शुंग और शशांक के भी मिलते हैं। निस्सन्देह ये असहिष्णुता के भाव पराभवगामी है और सम्पूर्ण राष्ट्र के लिए घातक हैं।

इसका निदान सम्राट् अशोक ने दिया था। उसने अपने एक अभिलेख में यह कहा है कि सभी धर्मों के लोग सभी स्थानों पर रहें। लेकिन वे अपनी धर्म की बड़ाई और दूसरे के धर्म की निन्दा न करें (आत्य पासंड पूजा पर पासंड गरहा न हवे) क्योंकि ऐसा करने से दूसरे के धर्म की हानि तो होती ही है साथ ही अपने धर्म की भी हानि होती है। सम्राट अशोक ने इस धार्मिक सहिष्णुता का मूल मन्त्र बताया है, कम बोलना और मृदु बोलना। वह इसे बचन गुप्ति कहता है। हम सम्राट अशोक द्वारा बताये गये मार्ग (उपाय) द्वारा धार्मिक असहिष्णुता की अग्नि में जल रहे भारतीय समाज को आज भी बचा सकते हैं।

लोककलयाण की भावना से अभिभूत होकर ही अशोक ने सभी मनुष्यों को अपनी सन्तान के समान माना था **(सबे मुनीसा पजा ममा)**। उन्हें प्रेम और स्नेह दिया था। उसके लिये मानव कल्याण से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं था। अर्थात् उसके लिए मानव कल्याण ही सर्वोपरि धर्म था। (न सेठतरं धम्मं सब्ब लोक हितप्पा)

इस, प्रकार भारतीय जीवन के मूलाधार में अपने हित-सुख के साथ-साथ दूसरों के हित-सुख का सदैव ध्यान रहा है। भौतिकवाद के साथ मानव-कल्याण की भावना और अध्यात्मचिन्तन, धार्मिक सहिष्णुता तथा वैचारिक स्वतन्त्रता भारतीय जीवन-यापन के सुखद आधार रहे हैं।

(प्रो० के०ए०एस० अय्यर व्याख्यान माला में मुख्य अतिथि के रूप में दिया गया व्याख्यान)

दिनांक 28 मार्च, 1997

Our Contributors

PART – I

1. डॉ मङ्गलदेव शास्त्री – व्यक्तित्व तथा कर्तृत्व — श्री रमेश चन्द्र रस्तोगी (दिवङ्गत)

2. डॉ. मङ्गलदेव शास्त्री – कुछ स्मृतियाँ — डॉ० मोतीलाल रस्तोगी
242/38, राजनारायणलेन,
यहियागंज, लखनऊ

PART – II

1. Evolution of Physical Sciences in ancient and medieval India — Prof. K. V. Sharma
(Deceased)

2. Nature of the Vedic Composition — Prof. S. P. Singh
23, Tuglakabad Institutional Area, M. B. Road, New Delhi

3. पुराण साहित्य — प्रो० प्रमोद गणेश लाले
6, कमला पार्क सोसाइटी,
गणेश नगर, पुणे – 411 038

4. पुरुषमेघ : आध्यात्मिक आयाम — प्रो० मान सिंह
पूर्व आचार्य तथा अध्यक्ष,
कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरूक्षेत्र

5. समस्यायें और सम्भावनायें — प्रो० राधा वल्लभ त्रिपाठी
कुलपति, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
56-57, इन्स्टीट्यूश्नल एरिया,
जनकपुरी, नयी दिल्ली–110 058

6. दयानन्द : एक पुनर्विश्लेषण — डॉ० हर्ष नारायण (दिवङ्गत)

7. गीत गोविन्दम् – शङ्कर–परक व्याख्या रचयिता – कृष्णदत्त — प्रो० गोपराजु रामा
डॉ० गंङ्गानाथ झा केन्द्रिय
संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद

8. *Lakṣmisarasvatisaṁvāda* – A Rare and Unpublished Kalaha-Kāvya — Prof. Siddharth Yashwant Wakankar, Oriental Institute,
M.S. University, Baroda-390001

9. संस्कृत वाङ्मय में राष्ट्रिय चेतना	डॉ० सत्यदेव मिश्र पूर्व कुलपति, संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान
10. काश्मीर शैवदर्शन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और पराशक्ति	प्रो० रमाशङ्कर मिश्र 424 सी, वैशाली इन्क्लेव, सेक्टर-9, इन्दिरा नगर, लखनऊ
11. The Goddess in Orissa – An Overview	Prof. G. C. Tripathi Indira Gandhi National Centre for the Art, New Delhi.
12. हैमवती विद्या	प्रो० ब्रजेश कुमार शुक्ल 78, बादशाहबाग विश्वविद्यालय परिसर, लखनऊ
१३. आचार्य रुय्यक प्रतिपादितं रसस्वरूपम्	प्रो० दशरथ द्विवेदी 7/7 जी, चन्द्र विहार कॉलोनी, राप्तीनगर-फेज-1, पोस्ट-आरोग्य मन्दिर, गोरखपुर
14. तिब्बती विनय परम्परा में शयनासन वस्तु	प्रो० शेरब राल्डी संस्कृत तथा प्राकृतभाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
15. ऋग्वैदिक दाशराज्ञ–युद्ध : प्रयोजन और परिणति	प्रो० ओम् प्रकाश पाण्डेय आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत तथा प्राकृतभाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ
16. रुद्रविरचित भामहविवरण तथा काव्यदोष विवेचन	डॉ० प्रीति सिनहा सी-954/955, सेक्टर 'बी', महानगर, लखनऊ–226006
17. भारतीय जीवन पद्धति के मूलाधार	प्रो० अँगने लाल आर-25, सिद्धार्थ लेन, संजयपुरम्, लखनऊ

पत्र–पत्रिकाएं
(PERIODICALS)

ṚTAM

A half-yearly multilingual Research Journal

Ṛtam is a Half-yearly multilingual research Journal. It has been warmly received by scholars in India and abroad. It contains research articles of high standard. Besides, it contains critical editions / reprints of rare and out of print books and manuscripts. It also includes reviews of books published in India and abroad. It is moderatily priced at Rs. 250.00 for a single issue and Rs. 500.00 for both the nos. Price of Back Nos. to be quoted on enquiry.

AJASRĀ

A Quarterly Sanskrit Magazine

AJASRĀ is a Quarterly Magazine of creative writings in Sanskrit. It has been a welcome publication both for Sanskrit scholars and lovers of Sanskrit language and literature. It contains original writings connected with different branches of Sanskrit Literature such as articles, short stories, fictions, poems etc. It is priced at Rs. 60/- for a quarterly issue whereas its annual subscription is Rs. 240/- for institutions and Rs. 50.00 for a single number and Rs. 200.00 annually for individuals.

घोषणा–पत्र

'ऋतम्' नामक समाचारपत्र के सम्बन्ध में समाचारपत्र– रजिस्ट्रीकरण (केन्द्रीय) नियमावली, १९५६ के नियम ८ (१) के अधीन प्रकाशितव्य स्वामित्व–सम्बन्धी तथा अन्य व्योरे।

प्रारूप चार

१–प्रकाशन का स्थान– अखिल भारतीय संस्कृत-परिषद्, 'संस्कृत भवनम्', सेक्टर 'बी' अलीगंज, लखनऊ-२२६ ०२४

२–प्रकाशन की कालिकता– षाण्मासिक (जनवरी, जुलाई)

३–मुद्रक का–
(१) नाम–श्री मनीष मेहता
(२) राष्ट्रिकता–भारतीय
(३) पता–'इन्द्रा अनुष्ठान', पुनार आफसेट, गुइन रोड, अमीनाबाद, लखनऊ-२२६ ०१८

४–प्रकाशक का
(१) नाम–डॉ. अशोककुमार कालिया
(२) राष्ट्रिकता–भारतीय
(३) पता– 'श्रीनिवास' : बी–१/१६, 'कल्याण विहार', सेक्टर 'के', अलीगंज, लखनऊ–२२६ ०२४

५–सम्पादक का
(१) नाम–डॉ. जगदम्बा प्रसाद सिनहा
(२) राष्ट्रिकता–भारतीय
(३) पता–'संस्कृतम्', २/१४४ विकासखण्ड, गोमती नगर, लखनऊ-२२६ ०१०

६–स्वामी का नाम और पता– अखिल भारतीय संस्कृत–परिषद्, 'संस्कृत भवनम्', सेक्टर 'बी' अलीगंज, लखनऊ-२२६ ०२४

मैं, अशोककुमार कालिया, एतद्द्वारा घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये हुये व्योरे मेरे पूर्णतम ज्ञान और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(ह.) अशोककुमार कालिया
प्रकाशक